मुनि रामसिंह कृत

पाहुडदोहा

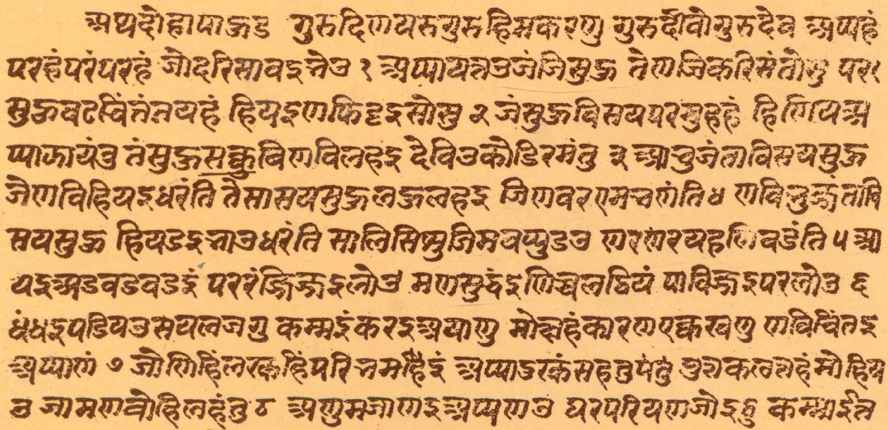

सम्पादन-अनुवाद

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री

पाहुडदोहा

भारतीय अध्यात्म की प्राचीनतम परम्परा में भावात्मक अभिव्यंजना को अभिव्यक्त करने वाला एक विशुद्ध रहस्यवादी काव्य। काव्यात्मक धरातल पर आध्यात्मिक श्रमण-परम्परा के स्वरों से समन्वित तथा विद्रोहात्मक बोलों की अनुगूँज से भरपूर नौवीं शताब्दी की सशक्त रचना; जिससे हिन्दी का आदिकालीन तथा मध्यकालीन साहित्य भी प्रभावित हुआ। आत्मानुभूति के निश्छल प्रकाशन में अनुपम तथा परम साध्य को रेखांकित करनेवाली 220 दोहों में अनुबद्ध प्रामाणिक कृति। मुनि रामसिंह के भावों के व्यंजनात्मक अर्थ की शास्त्रीय आलोक में शास्त्रीजी की भाष्यरूप व्याख्या निश्चित ही अध्येताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रत्येक बौद्धिक एवं साहित्यकार के लिए उत्प्रेरक पठनीय एवं संग्रहणीय आत्मरुचि-सम्पन्न वर्ग के लिए विशेष रूप से स्वाध्याय योग्य।

पाहुडदोहा

(अपभ्रंश का रहस्यवादी काव्य)

रचयिता

मुनि रामसिंह

भारतीय ज्ञानपीठ

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : अपभ्रंश ग्रन्थांक 21

पाहुडदोहा (रहस्यवादी काव्य) : मुनि रामसिंह

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक :
विकास लेजर / ऑफसेट
दिल्ली-110 032

प्रथम संस्करण : 1998
मूल्य : 55.00 रुपये

© भारतीय ज्ञानपीठ

PĀHUDADOHĀ
(Mystical poetry)
Muni Ramsiṁha

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

First Edition : 1998
Price : Rs. 55.00

प्रस्तावना

प्रस्थापक आचार्य कुन्दकुन्द, आ. पूज्यपाद, आ. अमितगति एवं आ. योगीन्दुदेव की पावन परम्परा में आध्यात्मिक सन्त मुनि रामसिंह का जन्म हुआ था। 'पाहुडदोहा' उनकी एक अध्यात्मप्रधान रचना है। डॉ. आ.ने. उपाध्ये के विचार में 'परमात्मप्रकाश' की भाँति यह एक रहस्यवादी रचना है, जिसमें सन्त कवि ने आत्मा की यथार्थता को भलीभाँति रेखांकित किया है। 'पाहुडदोहा' (दोहा. 26) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बिना अध्यात्म के (तत्त्वज्ञान के) मन में भ्रान्ति बनी रहती है, विपरीत मान्यता पनपती रहती है। जहाँ संशय, भ्रम, विपरीतता है, वहीं अज्ञान है। मध्ययुगीन जैन सन्त कवियों ने रूढ़िवाद, पाखण्ड और बाह्य आडम्बर के नाम पर प्रचलित मिथ्या मान्यताओं का प्रबल खण्डन किया। यथार्थ में आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए, अनुभव करने के लिए किसी बाहरी कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है। इसे ध्यान में रखकर ही कर्मकाण्ड का उपहास किया गया है। जिनमत में संयम धारण करने से पूज्यपना होता है। अतः जिन देवी-देवताओं में संयम नहीं है, वे पूज्य नहीं हैं। यथार्थ में वीतरागी देव, गुरु, धर्म और आगम (श्रुत) पूज्य हैं, आराधना-अर्चना करने योग्य हैं। उनके सिवाय देव जाति में उत्पन्न धरणेन्द्र, पदमावती, चक्रेश्वरी जैसे देव-देवियाँ तथा यक्षिणी-यक्ष आदि कोई पूजने योग्य नहीं हैं। जो दुनिया के दुःख-सन्तापों से बचने के लिए वीतराग प्रभु के चरणों का आश्रय लेने के लिए जिन-मन्दिर रूपी वृक्ष के नीचे पहुँचता है, वह अवश्य ही छायारूपी शीतलता, शान्ति का अनुभव करता है, आनन्द को प्राप्त करता है। अतः जिनदेव, जिनधर्म, जिनमूर्ति, जिनालय, अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और निर्ग्रन्थ साधु ही पूज्य हैं।

'पाहुड' शब्द का अर्थ–

'पाहुड' शब्द के अनेक अर्थ हैं–(1) जो पदों से स्फुट (प्रकट) है, (2) जो तीर्थंकरों के द्वारा प्रस्थापित किया गया है, (3) भेंट, उपहार, (4) श्रुतज्ञान, इत्यादि। लेकिन यहाँ पर 'भेंट' अर्थ प्रासंगिक नहीं है। 'पाहुड' का अर्थ है–तीर्थंकरों के द्वारा जो प्रस्थापित किया गया है अथवा जिसका स्फुट पदों से व्याख्यान किया गया

है। शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध किए गए मूल श्रुतागम 'पाहुड' रूप में ही उपलब्ध होते हैं। कसायपाहुड, षट्खण्डागम, समयपाहुड, पवयणपाहुड, पंचत्थिकायपाहुड, दंसणपाहुड, भावपाहुड आदि तीर्थंकर की परम्परा की ओर ही संकेत करते हैं। **'पाहुड'** को संस्कृत भाषा में 'प्राभृत' कहते हैं। 'गोमटसार' जीवकाण्ड (गा. 341) में समस्त श्रुतज्ञान को 'पाहुड' कहा है। आचार्य अमितगति ने 'योगसारप्राभृतम्' की रचना ग्यारहवीं शताब्दी में इसी परम्परा-क्रम में अनुबद्ध की थी। मुनि रामसिंह ने उसी परम्परा में 'पाहुड दोहा' की रचना कर श्रुत-परम्परा की मूलधारा को ही प्रवाहित किया था। इन सभी अध्यात्मप्रधान रचनाओं में आत्मा को केन्द्रबिन्दु बनाकर अखण्ड आत्मानुभूति को विविध संकेतों द्वारा अभिव्यंजित किया गया है।

डॉ. प्रेमसागर जैन का यह कथन आज भी यथार्थ है—"मध्यकाल के प्रसिद्ध मुनि रामसिंह का 'पाहुड दोहा' अपभ्रंश की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमें वे सभी प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं, जो आगे चलकर हिन्दी के निर्गुणकाव्य की विशेषता बनीं। उनमें रहस्यवाद प्रमुख है।[1]"

कुछ विद्वानों का यह विचार है कि भारतीय दार्शनिक आत्मा और परमात्मा की सत्ता भिन्न-भिन्न मानते हैं तथा जीवात्मा परमसत्ता का अंश है, इसलिए परमब्रह्म से जीवात्मा की उत्पत्ति होती है और उस परमसत्ता में वह विलीन हो जाती है। इस प्रकार परमसत्ता एक है, उसका परमब्रह्म से मिलन होना ही रहस्य का मूल है। वस्तुतः सम्पूर्ण सृष्टि परमब्रह्म की ही एक सत्ता है। जैनदर्शन यथार्थ में इससे भिन्न है। अतः उसमें रहस्यवाद की अभिव्यक्ति किस प्रकार सम्भव है? गोस्वामी तुलसीदासजी ने "ईश्वर अंश जीव अविनाशी, सच्चेतन घन आनन्दराशी" कहकर इस मान्यता का प्रतिपादन किया है।

जैन सन्तकवि बनारसीदास ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम और रामायण के सम्बन्ध में आध्यात्मिक दृष्टि से निम्नलिखित रूपक की अभिव्यंजना की है—

> विराजै रामायण घट माहिं।
> मरमी होय मरम सो जानै, मूरख मानै नाहिं ॥ विराजै. ॥
> आतम राम ज्ञान गुन लछमन, सीता सुमति समेत।
> शुभ उपयोग वानरदल मंडित, वर विवेक रनखेत ॥विराजै.॥
>
> —बनारसी विलास, पृ. 242

अर्थात् परम पुरुष राम आत्मा हैं, लक्ष्मण ज्ञान गुण हैं, सीता सुमति हैं, शुभोपयोग रूपी बन्दरों की सेना से वे सुशोभित हैं और भेदविज्ञान के क्षेत्र में अलख जगाते हैं।

---

1. डॉ. प्रेमसागर जैन : जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि, भूमिका, पृ. 8

जिस प्रकार स्वर्ण निर्मित विविध आभूषणों को उनकी विविध अवस्थाओं के रूप में देखा जाए, तो वे भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु उन सभी में स्वर्णत्व एक है। स्वर्ण प्रत्येक अवस्था में स्वर्णरूप रहता है। वस्तुतः आत्मा स्वर्ण की भाँति राग-द्वेष, मोह आदि अनेक तरह के विभावों, शरीर तथा भौतिक पदार्थों के साथ अनादि काल से संसार अवस्था में रहता है, लेकिन कभी भी अपने स्वभाव को, चैतन्य गुण को छोड़कर अन्य रूप नहीं होता। महाकवि बनारसीदास के शब्दों में—

चेतन लक्षण आतमा, आतम सत्ता माहिं।
सत्तापरिमित वस्तु तै, भेद तिहूं में नाहिं ॥ समयसार नाटक, मोक्षद्वार 11

अर्थात् आत्मा का लक्षण चेतना है। आत्मा (अपनी) सत्ता में है, क्योंकि सत्ता रूप धर्म के बिना आत्मा एक पदार्थ है—यह सिद्ध नहीं होता। प्रत्येक वस्तु सत्ता-प्रमाण है। यथार्थ में द्रव्य की अपेक्षा तीनों में भेद नहीं है, एक ही है।

दृष्टान्त देकर सुबुद्धि सखि को ब्रह्म का स्वरूप समझाते हुए वे कहते हैं कि परमात्मा निजघट में व्यापक है। ज्ञान रूप परिणमन करने वाला और अज्ञान दशा में वर्तने वाला वह कौन है? वही है। उनके शब्दों में—

देखु सकी यह ब्रह्म विराजित,
याकी दसा सब याही कौ सोहै।
एक मैं एक अनेक अनेक में,
दुंद लिए दुविधा महं दो है।
आपु संभारि लखे अपनो पद,
आपु विसारिके आपुहि मोहै।
व्यापकरूप यहै घर अन्तर,
ग्यान में कौन अग्यान में को है?
—समयसार नाटक, मोक्षद्वार, 13

सत्ता एक की है—

जैनदर्शन का मूल स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द की पाहुड रचनाओं, कसायपाहुड, षट्खण्डागम आदि सूत्रग्रन्थों में उपलब्ध होता है। 'समयसार' आत्मा को एक त्रिकाली ज्ञायक, ध्रुव, अखण्ड, निष्क्रिय चिन्मात्र प्रतिपादित करता है। उसका मूल स्वर है कि आत्मा को शुद्ध चैतन्य मात्र ग्रहण करना चाहिए। चेतना दर्शन, ज्ञान रूप भेदों का उल्लंघन नहीं करती है। क्योंकि चेतनेवाला द्रष्टा-ज्ञाता होता है। आचार्य अमृतचन्द्र 'समयसार' गा. 299 में उसका विशदीकरण करते हुए कहते हैं कि चेतना प्रतिभास रूप है। वह चेतना विरूपता (दर्शन, ज्ञान) का उल्लंघन नहीं

करती है, क्योंकि सम्पूर्ण वस्तुएँ सामान्य विशेषात्मक हैं। इसलिए उनको प्रतिभासित करने वाली चेतना भी द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती।

परमार्थतः चेतना अद्वैत है, लेकिन सामान्य-विशेष प्रतिभास रूप भी है। उसके जो दो रूप हैं--वे दर्शन और ज्ञान हैं। सामान्य दर्शन रूप है और ज्ञान विशेष रूप। वास्तव में वह तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही है। चैतन्य तो एक चिन्मय भाव ही है, अन्य भाव परभाव है। अतः यह सिद्धान्त सेवन करने योग्य है। (समयसारकलश, 185) सत्ता स्वरूप वस्तु का कभी नाश नहीं होता। ज्ञान भी स्वयं सत्ता स्वरूप वस्तु है। अतः अरक्षा का भय कहाँ है? (समयसारकलश, 157) वह स्वतःसिद्ध ज्ञान एक है, अनादि है, अनन्त है, अचल है। वह जब तक है तब तक सदा ही वही है, उसमें दूसरे का उदय नहीं है। (समयसारकलश, 160)

इस लोक में पाए जाने वाले सभी द्रव्यों का अस्तित्व स्वतन्त्र है। वास्तव में अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है। जैसे द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है, वैसे ही उसकी सत्ता स्वभावसिद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में--

"दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।" (प्रवचनसार, गा. 98)

अर्थात्--जिनेन्द्र भगवान् ने तत्त्वतः द्रव्य को स्वभाव से सिद्ध और सत् कहा है।

इस प्रकार सत्ता एक अखण्ड द्रव्य की है। सभी द्रव्य सत्तावान हैं। जो अखण्ड है वह एक है और जो एक है वह अखण्ड है। आत्मा ज्ञानरूप एक ही है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में--

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥ समयसारकलश, 15

अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप एक ही है, किन्तु उसका पूर्ण रूप साध्यभाव है और अपूर्ण रूप साधक भाव है; ऐसे भावभेद से दो प्रकार से एक का ही सेवन करना चाहिए।

इस प्रकार जो साधक है, वही साध्य है। जैनदर्शन के अनुसार जो वास्तविक कारण है, वही कार्य रूप में परिणत होता है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ। (समयसार, गा. 38)

संक्षेप में, वस्तु सत्ताप्रमाण है। सत्ता स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से सत्ता नहीं है। इसका **भावार्थ** यह है कि आत्मा की सत्ता किसी परम पुरुष या परब्रह्म से नहीं है, किन्तु ब्रह्मस्वरूप निज चैतन्य तत्त्व से है। दूसरे शब्दों में सत्ता अकेले अपने 'सत्' से है, किसी में किसी को मिलाकर किसी सर्वशक्तिमान से अपनी सत्ता नहीं है। "णिम्मलु होइ

गवेसु" (दो. 95) कहकर मुनि रामसिंह ने उस परम सत्ता की ओर ही संकेत किया है।

रहस्यवाद क्या है?

रहस्यवाद वह भावात्मक अभिव्यंजना है जिसमें अखण्ड आनन्दानुभूति या आत्मानुभूति का निश्छल प्रकाशन होता है। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी के शब्दों में "रहस्यवाद रहस्यदर्शियों का वह सांकेतिक कथन या वाद है, जिसके मूल में अखण्डानुभूति और तत्त्वानुभूति निहित है।[1]" यथार्थ में यह आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है, जिसमें अन्तर्हित परमब्रह्म की अनुभूति को सांकेतिक भाषा में प्रकट किया जाता है। निश्चित ही रहस्यवाद भारतीय तथा आध्यात्मिक है। अतः इस देश के विविध सन्तों ने रहस्यात्मक अभिव्यंजना के माध्यम से रहस्यवाद को प्रतिष्ठित किया है।

प्रश्न यह है कि जैन सन्तकवि रहस्यवाद किस रूप में मानते हैं? प्रकृति के अनन्त रूपों में रहस्यात्मक सत्ता की अनुभूति करने वाले वैदिककालीन ऋषियों में यही अध्यात्म-परम्परा थी जो असंख्यात वर्षों के पूर्व प्रथम तीर्थंकर, परमयोगी वृषभदेव के काल से सतत प्रवहमान थी और जिनके पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर इस राष्ट्र का नाम भारतवर्ष प्रचलित हुआ। जहाँ तक भारतीय वाङ्मय में वर्णित रहस्यात्मक अनुभूति का प्रश्न है, उसमें वेदों, उपनिषदों, जैन आगम ग्रन्थों तथा बौद्ध सुत्त-निकायों एवं सिद्ध-साहित्य में सच्चिदानन्द परमब्रह्म की अभिव्यंजना अपनी-अपनी सांकेतिक शब्दावली में उपलब्ध होती है।

यह सुनिश्चित है कि जैन साहित्य में रहस्यवाद स्पष्टतः अभिव्यक्त है। क्योंकि जैन साधक सन्त आध्यात्मिक थे। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी जैन साधकों को रहस्यवादी स्वीकार किया है।[2]

जैन साधना का केन्द्रबिन्दु देह रूपी देवालय में विराजमान परम सत्तास्वरूप शुद्धात्मा है। शुद्धात्मतत्त्व का स्वसंवेदन हुए बिना कोई भी प्राणी कितने ही व्रत, नियम क्यों न पाले, वह परम साध्य परमात्म स्वरूप को उपलब्ध नहीं हो सकता।[3] यही कारण है कि जिन भारतीय सन्तों ने अपने काव्य में, पदावली या गीतों में रहस्यात्मक अनुभूति की अभिव्यंजना की, उन्होंने कर्मकाण्ड तथा बाह्य आडम्बर का प्रबल शब्दों में विरोध किया है। वीतराग, निर्विकल्प, परमानन्द स्वरूप, सहज त्रिकाली, ध्रुव, अखण्ड, एक, निष्क्रिय, ज्ञायक का विवेचन करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द जब स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि शुद्धभाव के बिना करोड़ों वर्षों तक तपस्या

---

1. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी : रहस्यवाद, पृ. 48
2. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना, द्वितीय संस्करण, पृ. 52
3. समयसार, गा. 153

करे तो भी सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती,[1] कोई वस्त्रसहित साधु-सन्त मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता,[2] केवल बहुत शास्त्रों को पढ़ लेने से कोई आत्मज्ञानी नहीं होता,[3] वन में रहने मात्र से कोई साधु-सन्त नहीं हो जाता,[4] वस्त्र छोड़ देने मात्र से कोई नग्न नहीं होता, किन्तु सच्ची नग्नता शुद्धभाव के होने पर ही होती है,[5] शुद्ध अपने ही शुद्ध स्वभाव (शुद्धोपयोग) से है,[6] इत्यादि। साधना की चरम अवस्था समाधि कही गई है। जैन और बौद्ध साहित्य में यह समान रूप से लक्षित होती है। अपभ्रंश के कवि सरहपा समाधि के लिए दो बातें आवश्यक मानते हैं—अपने स्वभाव की पहचान और आत्मध्यान में लीनता। (दोहाकोष, पृ. 12, 15) 'परमात्मप्रकाश' (1.23) और 'पाहुड दोहा' (50) में रहस्यानुभूति के रूप में इसका वर्णन मिलता है।

डॉ0 सूरजमुखी जैन ने जैन रहस्यवाद के निम्नलिखित तत्त्वों का उल्लेख किया है[7] —

1. आध्यात्मिक अनुभूति की समता,
2. आत्मा और परमात्मा में ऐक्य की भावना,
3. कर्मबद्ध आत्मा का कर्मरहित आत्मा के प्रति समर्पण,
4. अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख-शक्तिमय आत्मा की सत्ता का दृढ़ निश्चय और उसकी पर्याय की शुद्धिकरण का विश्वास,
5. सांसारिक प्रलोभनों का त्याग,
6. आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए गुरु-उपदेश और गुरु का महत्त्व
7. बाह्य आडम्बर का त्याग,
8. चित्तशुद्धि तथा आत्मनिर्मलता का विशेष पुरुषार्थ,
9. विकास हेतु सोपान-मार्ग का अवलम्बन,
10. पाप-पुण्य का त्याग,
11. योगमार्ग का निरूपण,
12. प्रतीकों एवं पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग,
13. अभिव्यक्ति की सरसता,
14. आत्मा की कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्ति का विश्वास,
15. आत्मा और परमात्मा में तात्त्विक अन्तर न होने पर भी व्यवहारनय की

---

1. भावपाहुड, गा. 4
2. सुत्तपाहुड, गा. 23
3. समयसार, गा. 390
4. नियमसार, गा. 124
5. भावपाहुड, गा. 54
6. भावपाहुड, गा. 77
7. डॉ. सूरजमुखी जैन : अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य और कबीर, पृ. 59

दृष्टि से पृथक्त्व का विवेचन एवं परमात्मपद की प्राप्ति के लिए दाम्पत्य भाव की अभिव्यंजना।

इन सबके मूल में दो ही बातें मुख्य हैं—अपने आत्मस्वभाव को पहचान कर स्वभाव का आश्रय लेना और आत्मानुभूति पूर्वक स्व-परिणति को परमात्मतत्त्व में विलीन करना। यही वर्णन करते हुए मुनि रामसिंह कहते हैं—

जिम लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चित्तु विलिज्ज।
समरसि हूवइ जीवडा काइं समाहि करिज्ज ॥ पाहुडदोहा, 177

अर्थात्—जैसे नमक पानी में घुल जाता है, वैसे चित्त आत्मा में विलीन हो जाए, तो वही समरसता है। समाधि में और क्या किया जाता है?

इसी प्रकार का भाव सिद्धकवि काण्हपा की रचना में भी लक्षित होता है। उनके ही शब्दों में—

जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरिणी लइ चित्तु।
समरस जाइ तक्खणे जइ पुणु ते समणंति ॥—काण्हपा

अर्थात्—जैसे पानी में नमक विलीन हो जाता है, वैसे ज्ञानरूपिणी गृहिणी को लेकर चित्त को समरस में ले जाएँ, तो उसी क्षण से समरस में अवस्थित हो जाता है।

यही नहीं, 'पाहुडदोहा' में यहाँ तक कहा गया है—

मणु मिलियउ परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स।
विण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडाउं कस्स ॥पाहुडदोहा, 50

अर्थात्—चित्त परमात्मा में विलीन हो गया और परमात्मा भी निजानुभूति परिणति के साथ एकमेक हो गया। दोनों ही समरस, एक रस हो गए, तो फिर पूजा किस की करूँ?

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अपभ्रंश-साहित्य में जोइन्दु के 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' एवं मुनि रामसिंह का 'पाहुडदोहा' और महयंदिण का 'पाहुडदोहा' प्रमुख रहस्यवादी काव्य रचनाएँ हैं। 'आणंदा' जैसे अन्य अनेक मुक्तक काव्य भी इसी परम्परा की देन हैं। अपभ्रंश में गीत भी लिखे गए थे, लेकिन उनका अब तक प्रकाशन नहीं हो सका है। फुटकर रूप से शास्त्र-भण्डारों में गुटकों में लिपिबद्ध कई तरह के गीत उपलब्ध होते हैं। उनमें से कतिपय सरस रहस्यानुभूति की अभिव्यंजना से समन्वित हैं।

मुनि रामसिंह ने 'समरसी' भाव को स्पष्ट करने के लिए अपनी आत्मा को प्रेयसी के रूप में तथा परमात्मा को 'निष्कल' पुरुष के रूप में रूपक शैली में श्लिष्ट रूप में अभिव्यंजित किया है। उनके ही शब्दों में—

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु।
एक्कहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु ॥—पाहुडदोहा, 101

यहाँ पर मैं (आत्मा) रागादि सहित (सगुणी) हूँ, किन्तु प्रिय (परमात्मा) निर्गुण (निरंजन), निर्लक्षण एवं निःसंग है। श्लेष में सामान्य अर्थ है—जो गुणसहित है, उसका प्रिय निर्गुण निर्लक्षण संग रहित कैसे? श्लेष में मैं सांसारिक गुणों से सहित व प्रिय उन से रहित है। फिर, एक ही अंग में दोनों के वसने पर भी परस्पर मिलन नहीं होता, यह महान् आश्चर्य है।

वास्तव में आत्मा-परमात्मा की प्रीति हुए बिना मोह की गाँठ कौन खोल सकता है? पं. दीपचन्द कासलीवाल ने 'परमात्मपुराण' में परमात्मा को राजा कहा है। आत्मपरिणति उसकी परम रानी है। उनके ही शब्दों में—

"परमातम राजा को प्यारी, सुख देनी परम राणी अतीन्द्रिय विलासकरणी अपनी जानि आप राजा तू यासों दुराव न करे। अपनो अंग दे समय-समय मिलाय लेहै अपने अंग में। राजा तो वासों मिलता वाके रंगि होय है। वा राजा सों मिलता राजा के रंगि होयं है। एक रस-रूप अनूप भोग भोगवे है। परमातम राजा अर परणतितिया का विलास सुख अपार, इनकी महिमा अपार है।" (अध्यात्म पंचसंग्रह, पृ. 45)

इससे स्पष्ट है कि परमात्मा को निर्गुण, निराकार तथा आत्मा की परिणति को जैन कवि प्रेयसी के रूप में चित्रित करते हैं। अतः 'सगुण' का अर्थ आत्म-परिणति से है। एक दूसरा अर्थ भी 'सगुण' का है जो 'सकल' का वाचक है। 'सकल' का अर्थ है—कल (देह) सहित, शरीरवान या रागादि सहित आत्मा। 'निर्गुण' को 'निष्कल' तथा 'निरंजन' भी कहा गया है। जो रागादि कर्ममल रूप अंजन से रहित है, वह निरंजन है। उसे निराकार सिद्ध परमात्मा भी कहते हैं। इस प्रकार जैनों का 'ब्रह्म' निर्गुण, निराकार है। जो सम्पूर्ण रागादि विकल्पों से रहित, पूर्ण वीतरागी तथा सर्वज्ञ हैं वे अर्हन्त परमात्मा हैं। परमात्मा रूपी प्रियतम का ध्यान करने से मन उसमें तल्लीन हो जाता है, अभ्यास से विलीन हो जाता है। शुद्धात्म स्वभाव में मन के स्थिर हो जाने पर क्रमशः मोह का नाश हो जाता है, और मोह के अभाव में मन मर जाता है तथा शुद्ध परिणति उत्पन्न हो जाती है, जिसमें ज्ञान विलास करता है और परमानन्द (अतीन्द्रिय आनन्द) का भोग करता है—यही परमात्म-दशा है। (परमात्मप्रकाश, 2,163)

'अध्यात्म पंचसंग्रह' के अन्तर्गत 'परमात्मपुराण' में ज्ञान को स्पष्ट करते हुए पं. दीपचन्द कासलीवाल ने ज्ञान और ज्ञानपरिणति में भेद बताया है। ज्ञान अनन्तशक्ति स्वसंवेदन रूप को धारण करने वाला लोक-अलोक का जाननहारा है। वह अनन्त गुणों के अनन्त सत् को जानता है। ज्ञान रूप ज्ञान तथा ज्ञान परिणति रूपी नारी ज्ञान से मिलन कर, अंग से अंग मिलकर, ज्ञान का रसास्वाद लेकर

ज्ञानपरिणति का विलास करते हैं। यदि परिणति-नारी का विलास न हो तो ज्ञान जानन...जानन रूप लक्षण को यथार्थ में नहीं रख सकता। उदाहरण के लिए, अभव्य जीव के ज्ञान तो है, लेकिन ज्ञान-परिणति नहीं है, इसलिए उसका ज्ञान यथार्थ नहीं है। यही नहीं, ज्ञान के साथ सदा ज्ञानपरिणति नारी है। जब तक ज्ञान का परिणति-नारी से समागम नहीं होता है, तब तक ज्ञान की अनन्त शक्ति दबी हुई रहती है। उसकी अनन्त शक्ति को खोलने वाली परिणति-नारी है; जिस प्रकार विशल्या ने लक्ष्मण की शक्ति खोली थी।[1] इस प्रकार ज्ञान अपनी ज्ञान-परिणति नारी के विलास से अपने प्रभुत्व का स्वामी हुआ।

अध्यात्म : ज्ञानप्रधान–

भारतीय आध्यात्मिक रचनाओं में, सन्तों की बानियों तथा काव्यात्मक पदावलियों में उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक ज्ञानप्रधान वर्णन उपलब्ध होता है; कर्मकाण्डमूलक नहीं। यथार्थ में आध्यात्मिक या आत्मज्ञान की मुख्यता बताने के लिए कर्मकाण्ड का निषेध किया गया है जो विरोध के लिए विरोध न होकर यथार्थता को लिए हुए है। कर्नाटक के बारहवीं शताब्दी के सिद्धकवि अल्लम इसी प्रकार के क्रान्तिकारी कवि थे। उनका कथन है–

देह ही है देवालय
मूर्ति है प्राण जब
शरण को अन्य मन्दिर की क्या जरूरत।

(शून्य सम्पादन, भा.1, तृतीयोपदेश, वचन 82)

इन कवियों की यह विशेषता है कि आध्यात्मिक होने के कारण ये रहस्यवादी भी थे। अपभ्रंश के रहस्यवादी कवियों की भाँति अल्लम आत्मज्ञान के लिए अन्तःकरण की शुद्धता आवश्यक मानते थे। कबीर में भी यही विशेषता है। इसी प्रकार 'पाहुडदोहा' की भाँति अल्लम और कबीर आदि में भावनात्मक और साधनात्मक रहस्यवाद लक्षित होता है।[2]

भारत के प्राचीन आध्यात्मिक ग्रन्थों में कर्मकाण्ड की अपेक्षा आत्मानुभव को

---

1. जैन साहित्य में वर्णित राम-कथा के अनुसार रावण युद्धस्थल में अमोघविजया नामक महाशक्ति से लक्ष्मण को मूर्च्छित कर देता है। विद्याधर उनके शरीर से शक्ति को बाहर निकालने का उपाय करते हैं। विशल्या को वहाँ बुलाते हैं। उसके आते ही वह दिव्यशक्ति बाहर निकल जाती है।
2. सं. डॉ. एम.वी. कोट्रशेट्टी, अनु. डॉ. गायत्री वर्मा : शून्य सम्पादन, भा. 1, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, 1978

श्रेष्ठ कहा गया है। अध्यात्म में आत्मानुभव की मुख्यता होने के कारण कर्मकाण्ड का निषेध किया जाता है। मुनि रामसिंह ने स्पष्ट रूप से 'पाहुडदोहा' में कहा है–

जं लिहिउ ण पुच्छिउ कहण जाइ,
कहियउ कासु वि णउ चित्ति ठाइ।
अह गुरुउवएसें चित्ति ठाइ,
तं तेम धरंतहं कहि मि ठाइ ॥167॥

अर्थात्–शुद्धात्मा स्वानुभूतिगम्य है। जो किसी प्रकार लिखा, पूछा तथा कहा नहीं जाता और किसी प्रकार उसे कहा भी जाए, तो वह किसी के चित्त में नहीं ठहरता। यदि गुरु उपदेश देते हैं, तो ही चित्त में ठहरता है। फिर, धारण करने वाले कहीं भी स्थित हों।

तीर्थ बाहर में नहीं, अन्तरंग में है। यदि आत्मशुद्धि प्राप्त नहीं है, तो बाहर के तीर्थों में परिभ्रमण से क्या लाभ है? मुनि रामसिंह के शब्दों में–

तित्थइं तित्थ भमंतयहं किं णेहा फल हूव।
बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भिंतरु किम हूव ॥163॥

अर्थात् एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में भ्रमण करते हुए स्नेह करने का फल क्या हुआ? बाहर से तो पानी शुद्ध कर लिया, लेकिन भीतर में क्या हुआ?

यथार्थ में सन्तों की सुदीर्घ परम्परा में मुनि रामसिंह अपभ्रंश के कवियों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं जो क्रान्तिद्रष्टा कवि की भाँति ओजस्वी स्वरों में जहाँ धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्ड तथा बाह्य आडम्बर का विरोध करते हैं, वहीं दूसरी ओर आध्यात्मिक गूढ रहस्यों की मधुर अभिव्यंजना करते हैं। यद्यपि उनके पूर्व मुनिश्री योगीन्दुदेव 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' काव्य रचनाओं के द्वारा अध्यात्म का रहस्य प्रकट कर चुके थे, किन्तु 'पाहुडदोहा' का वैशिष्ट्य रहस्यवादी अभिव्यंजना में निहित है। आध्यात्मिक साधना और अखण्ड आत्मानुभूति की शुद्ध परम्परा का अभिव्यक्तिकरण इसकी विशेषताएँ हैं।

भारतीय दर्शन में प्रारम्भ से ही आत्मा और जीवन के सम्बन्ध में जिज्ञासा, ब्रह्म का रहस्यपूर्ण स्वरूप तथा अखण्ड आत्मानुभव की एक लम्बी पुरा-ऐतिहासिक परम्परा रही है। जैनदर्शन इसी परम्परा का सकारात्मक स्वरूप है, जिसके मूल आगम ग्रन्थ अपने विशुद्ध स्वरूप को लिए हुए आज भी 'पाहुड' रूप रचनाओं में उपलब्ध हैं। अतः योगीन्दु की भाँति रामसिंह ने भी 'शुद्धात्मा' को 'ब्रह्म' माना है।

क्रान्ति के स्वर–

'क्रान्ति' दो प्रकार की है–आध्यात्मिक और सामाजिक। आध्यात्मिक क्रान्ति को 'उत्क्रान्ति' कहते हैं। रूढ़ि, जड़ता एवं भौतिकता का पल्ला छोड़कर ही कोई

व्यक्ति आत्मिक विकास कर सकता है। यह अलग बात है कि समाज में रहकर वह सामाजिक नियमों का पालन करता रहे और आत्म-विकास के मार्ग पर भी चलता रहे। लेकिन सामाजिक क्रान्ति विद्रोह से होती है। आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर महाचन्द्र मुनि तक जो आध्यात्मिक कवि हुए हैं, उन्होंने वास्तव में कर्मकाण्ड की निन्दा नहीं की है, किन्तु यह उल्लेख किया है कि आत्मज्ञानशून्य क्रियाकाण्ड या बाहर का कर्म तथा मूल गुणों का छेद करके बाह्य कर्म करता है, तो वह परमसुख को प्राप्त नहीं करता।[1] अतः स्पष्ट है कि स्वात्मानुभव को मुख्य करने के लिए ही बाहरी कर्मकाण्ड का निषेध किया है। डॉ. हीरालाल जैन का यह कथन समुचित है कि "जैनियों के तीर्थंकरों ने खासतौर से उपभोग की अपेक्षा तथा त्याग और कर्मकाण्ड की अपेक्षा स्वानुभव के श्रेष्ठ माहात्म्य को चरितार्थ किया है?[2]" यथार्थतः अध्यात्म में तो आत्मानुभव ही प्रधान है। मुनि रामसिंह स्वयं सांकेतिक भाषा में निज आत्मानुभव के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं–

> हलि सहि काइं करइ सो दप्पणु।
> जहिं पडिबिंबु ण दीसइ अप्पणु ॥
> धंधवालु मो जगु पडिहासइ।
> घरि अच्छंतु ण घरवउ दीसइ ॥पाहुडदोहा, 123

यहाँ पर दर्पण पूर्ण ज्ञान का प्रतीक है। सुमति रूपी सखि ज्ञान-परिणति रूपी सहेली से अपनी अन्तरंग बात करती है। हे सखि! जिस दर्पण में अपना रूप नहीं झलकता हो, उस को देखने से क्या लाभ? संकेत से अभिव्यंजित अर्थ है–यदि परमात्मा रूपी प्रियतम का दर्शन नहीं होता, तो ज्ञान रूपी दर्पण में स्वात्मावलोकन का क्या प्रयोजन है? उससे लाभ क्या? धन्धे में संलग्न इस जगत का मुझे प्रतिक्षण प्रतिभास होता है। परन्तु अत्यन्त आश्चर्य है कि घर में रहते हुए मुझे आज तक गृहपति का दर्शन नहीं हुआ अर्थात् आत्मानुभव नहीं हुआ।

सम्यग्दर्शन होने के पूर्व समय में प्रत्येक जीव को शुद्धात्म स्वरूप परमात्मा प्रतिभासित होता है अर्थात् आत्म-दर्शन के समय परमात्मा की झलक अवश्य ज्ञानगोचर होती है, उसके बिना आत्मश्रद्धान नहीं होता। उसकी ही अभिव्यंजना उक्त पद में की गई है। अतः यह भावात्मक रहस्यवाद का उत्कृष्ट निदर्शन है।

इसके पूर्व एक दोहे में मुनि रामसिंह यह भाव प्रकट कर चुके हैं कि सुमति सखि अपनी सहेली से कहती है–चेतन रूपी प्रियतम एक नहीं, पाँचों इन्द्रियों रूपी नारियों के प्रेम-पाश में आबद्ध है। जब तक यह खल इनसे हिला-मिला हुआ है,

---

1. मोक्खपाहुड, गा. 98, 99
2. पाहुडदोहा की भूमिका, पृ. 14 से उद्धृत, चवरे ग्रन्थमाला–3, कारंजा, 1933

तब तक विषय-भोगों में फँसा हुआ है और आत्मानुभव के आनन्द से वंचित है। (दो. 46)

अन्य रहस्यवादी कवियों की भाँति कविवर ने 'पाहुडदोहा' में बाहरी आडम्बर का खण्डन करते हुए यह वर्णन किया है कि व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान के बिना त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व को नहीं समझ सकता। (दो. 26) उन्होंने अनेक तरह के शास्त्रों के अभ्यास को निरर्थक माना है। (दो. 125) वास्तव में तो अनक्षर होने का ही उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार से तीर्थ-भ्रमण का भी निषेध किया गया है। (दो. 163-64, 179) यही नहीं, जो परमात्मा को तीर्थों और मन्दिरों में खोजता है, उसे अज्ञानी कहा है। (दो. 53, 86-87) यथार्थ में परमात्मा मन्दिर में नहीं देह रूपी देवालय में प्रतिष्ठित है। (दो. 162) मलिन चित्त से तप नहीं होता। (दो. 62) इसी तरह शरीर को आत्मा मानने का सशक्त खण्डन किया गया है। शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है। क्योंकि शरीर के विशेषण आत्मा में नहीं हैं। आत्मा जानने, देखने की शक्ति वाला परम अविनाशी तत्त्व है, लेकिन शरीर विनाशीक है। वह जानता-देखता नहीं है। शरीर में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श विशेषण पाए जाते हैं, लेकिन ये आत्मा में नहीं होते। अतः जो शरीर से भिन्न ज्ञान-दर्शन स्वरूपी निज आत्मा को नहीं जानता-देखता है, उसे अन्धा कहा गया है।

वर्ण्य-विषय—

'पाहुडदोहा' का मूल वर्ण्य-विषय है—आत्मा और आत्मानुभव। आत्मा को ही केन्द्र में रखकर सम्पूर्ण वर्णन किया गया है। दोहों के विषय को स्पष्ट करते हुए डॉ. हीरालाल जैन लिखते हैं[1]—"आत्मा की शुद्धि के लिए न तीर्थ-जल की आवश्यकता है, न नाना प्रकार का वेष धारण करने की। आवश्यकता है—केवल राग और द्वेष की प्रवृत्तियों को रोककर, आत्मानुभव की। मूँड़ मुड़ाने से, केशलोंच करने से या नग्न होने से ही कोई सच्चा योगी और मुनि नहीं कहा जा सकता। योगी तो तभी होगा जब समस्त अन्तरंग परिग्रह छूट जावें और मन आत्मध्यान में लीन हो जाए।...आत्मज्ञान से हीन क्रियाकाण्ड कणरहित भुस और पयाल कूटने के समान निष्फल है। ऐसे व्यक्ति को न इन्द्रियसुख ही मिलता है और न मोक्षमार्ग।"

कवि ने स्पष्ट रूप से एक परम सत्ता का वर्णन किया है। यथार्थ में जब तक चित्त परमात्म स्वरूप निज स्वभाव में विशेष रूप से लीन (विलीन) नहीं हुआ है, तब तक आत्मा-परमात्मा का भेद है। भेद भ्रान्ति के कारण है। (दो. 170) इसलिए अध्यात्म ग्रन्थों में भ्रम को महान् रोग कहा गया है। भ्रम के दूर होते ही दो मिटकर

---

1. पाहुडदोहा, भूमिका, पृ. 15 से उद्धृत, कारंजा, 1933 संस्करण

एक हो जाता है। इसलिए ज्ञानी को चारों ओर भगवान् आत्मा ही लक्षित होता है। मुनि रामसिंह के शब्दों में—

अग्गइं पच्छइं दहदिहहिं जहिं जोवउं तहिं सोइ।
ता महु फिट्टिय भंतडी अवसु ण पुच्छइ कोइ ॥दोहापाहुड, 176

अर्थात् मेरी भ्रान्ति मिट जाने पर "जहाँ देखता हूँ, उधर तू ही तू है।" अपने में और बाहर में सर्वज्ञ भगवान् आत्मा है। यही नहीं, हे जिनवर! तब तक आपको नमस्कार करता रहूँगा, जब तक देहस्थित आपको जान-पहचान नहीं लिया है। पहचान होने पर कौन किसको नमस्कार करे? क्योंकि दोनों समान स्वरूप वाले हैं। (दो. 142)

रे जीव! जिनवर में मन को स्थिर कर। जिसने एक जिन को जान लिया, उसने अनन्त देवों को जान लिया। (दो. 59) क्योंकि उस एक की ही भाँति अनन्त-अनन्त आत्माएँ हैं। इसी बात को इन शब्दों में कहा गया है—"तिहुवणि दीसइ देह जिणु जिणवरु तिहुवणु एउ" अर्थात् तीनों लोकों में एक जिनवर देव दृष्टिगोचर होते हैं और तीनों लोक उन जिनदेव में प्रतिबिम्बित होते हैं। उनमें कोई भेद नहीं करना चाहिए। (दो. 40) वास्तव में जो उसका अनुभव करता है, वही पूर्ण रूप से जानता है। पूछने वालों को तृप्ति कौन दे सकता है? (दो. 166)

ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर सभी तरह के भाव, इन्द्रियों के विषय, राग-द्वेष, मोह आदि सब कर्मकृत हैं। भीतर-बाहर में चिन्मात्र के सिवाय सभी कर्म से उत्पन्न होने वाला है। उसमें आत्मा का कुछ भी नहीं है। अन्तरंग के परिग्रह (आसक्ति, ममत्व, राग बुद्धि) के त्याग के बिना बाहर का त्याग कार्यकारी नहीं है। इसलिए कहा है कि नग्नत्व का क्या गर्व करना (दो. 155); हे मूँड़ मुड़ाने वालों में श्रेष्ठ मुण्डी! तुमने सिर तो मुँड़ाया, लेकिन चित्त को नहीं मोड़ा। जिसने चित्त का मुण्डन कर लिया, उसने संसार को खण्डित कर दिया।[1] (दो. 136)

श्रमण संस्कृति का दूसरा नाम मुण्डक संस्कृति भी है। मुण्डक अर्थात् जो केशों (अपने सिर के बालों) को हाथों से लुंचित कर मुण्डित होता है, यथाजात शिशु की भाँति नग्न मुद्रा धारण करता है, सूक्ष्म जीवों की रक्षा के निमित्त स्वयं पतित मयूर-पिच्छों से निर्मित पीछी रखता है एवं अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन करता है, वह श्रमण मुण्डक कहलाता है।

आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभावी चैतन्य मात्र है। आत्मा ज्ञानमय चेतन भाव है, लेकिन कर्म जड़ है। आत्मा में जानने, देखने की शक्ति है, किन्तु कर्म जानता-देखता नहीं है। इसलिए ज्ञानमय भाव को छोड़कर राग-द्वेष, मोह आदि भाव पराये हैं।

1. "न वि मुण्डएण समणो"—उत्तराध्ययन सूत्र 25, 31
मुण्डी नग्नो मयूराणां पिच्छधारी महाव्रतः—स्कन्धपुराण 59, 36
विष्णुपुराण, 3, 18 तथा—पद्मपुराण 13, 33

उनको 'पुद्गल-विकार' कहा गया है। आत्मा में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुण नहीं पाये जाते, किन्तु कर्म में प्राप्त होते हैं। अतः जो राग से भिन्न त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक को ज्ञान स्वरूप पहचान कर लोक के पर पदार्थों से भिन्न निज आत्म स्वरूप का भेद-विज्ञान कर लेता है, वही अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द को उपलब्ध होता है। विश्व के सभी जीवों (जिनमें जीवन है) में एक चेतन रूप है। कर्म के अनुसार विभिन्न परिस्थितियों में जीव भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं, लेकिन स्वरूप की दृष्टि से सभी ज्ञान, आनन्द स्वभावी हैं। वास्तव में आत्मा न तो किसी का कारण है और न कार्य। यह किसी से उत्पन्न नहीं होता है और न किसी को उत्पन्न करता है। यह न तो पण्डित है, न मूर्ख, न ईश है, न अनीश, न गुरु है, न शिष्य। *सभी प्राणियों में आत्मा* एक रूप है। (दो. 27-41) वह प्रकाश रूप है, इसलिए मुनि रामसिंह कहते हैं कि यह प्रकाश जिस स्थान से मिले, उसे अवश्य लेना चाहिए। सभी प्रकाशों में ज्ञान-प्रकाश मुख्य है, क्योंकि वह ब्रह्म तक पहुँचने के लिए अज्ञान-अन्धकार में मार्ग को प्रकाशित करता है। इस प्रकाश को देने वाला आत्म-गुरु है; चाहे वह प्रकाश सूर्य से, चन्द्र से, चाहे दीपक से और चाहे किसी देव से आये। (दो. 1)

साधना : आराधना—

साधना का मार्ग समाधि बताया गया है। 'पाहुडदोहा' में समाधिस्थ योगी के लिए 'सन्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। साधना की सर्वोच्च दशा परम समाधि है। यह आत्म-साधना से उपलब्ध होती है। आत्म-साधना के लिए दो बातें आवश्यक हैं—*(1) अपने आत्म-स्वरूप की पहचान, और (2) आत्म-स्वभाव के आश्रय से आप* में ही लीनता।

यद्यपि नाथपंथी साधकों में नाद समाधि विशेष महत्त्व की है, लेकिन शुद्धात्मसेवी श्रमण साधकों की समाधि निरालम्बा तथा निर्विकल्प है। कविवर बनारसीदास के शब्दों में—

कब निजनाथ निरंजन सुमिरों!—बनारसीविलास, पद 13; तथा—

'पिय मोरे घट में पिय माहिं, जलतरंग ज्यों द्विविधा नाहिं।'

यथार्थ में निर्विकल्प आत्मज्ञान का नाम योग है। क्योंकि योगी के कर्म से उत्पन्न सुख-दुःख के होने पर भी सुख-दुःख की कल्पना नहीं होती है। जो श्वास को जीत लेता है, जिसके नयन निस्पन्द हो जाते हैं, संकल्प-विकल्पों का सम्पूर्ण व्यापार छूट जाता है, ऐसी अवस्था को उपलब्ध होने का नाम ही योग है। (दो. 204)

मुनि रामसिंह का कथन अत्यन्त स्पष्ट है कि जो सभी विकल्पों को छोड़कर निज शुद्धात्मा में अपना चित्त लगा लेता है, वह अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति करता है। (दो. 134)

कोई परमसुख के लिए व्रत, नियमों का पालन करे और इन्द्रियों के फैलाव के लिए भी प्रयत्न करे, विषय-सुखों के लिए चेष्टा करता रहे, तो ये दोनों कार्य एक

साथ नहीं हो सकते। वास्तव में इन्द्रियों के प्रसार का निवारण करने में ही परमार्थ है। (दो. 200) यही नहीं, जो निज शुद्धात्म स्वभाव को छोड़कर विषयों का सेवन करता है, वह दुर्गति को प्राप्त होता है। (दो. 206) युक्ति और अनुभव से उक्त बात सिद्ध करते हुए कहते हैं—दो मार्गों से जाना नहीं होता। दो मुँह वाली सुई से कथरी (कंथा) की सिलाई नहीं होती। हे अजान! दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं—इन्द्रिय-सुख और मोक्ष भी। (दो. 214)

रचनाकार—

'पाहुडदोहा' की रचना करने वाले कवि ने 'रामसीहु मुणि इम भणइ' (दो. 212) कहकर अपने नाम का उल्लेख किया है। अतः यह उनकी ही रचना है। रचना का नाम 'पाहुडदोहा' ही है। यद्यपि पूर्ण जानकारी के अभाव में कहीं किसी ने इसका नाम 'दोहा पाहुड' लिख दिया है, किन्तु यह नाम ठीक नहीं है। डॉ. हीरालाल जैन ने नाम के साथ 'सिंह' शब्द संलग्न होने से यह अनुमान किया है कि मुनि रामसिंह अर्हद्बलि आचार्य द्वारा स्थापित 'सिंह' संघ के थे। किन्तु यह भी अनुमान किया जा सकता है कि कवि ने परम्परागत नाम का उल्लेख किया हो। इस प्रकार के नाम उत्तर भारत में पंजाब में विशेषतः मिलते हैं। सम्भव है कि वहाँ से आकर कवि राजस्थान में बस गया हो। डॉ. जैन के शब्दों में "ग्रन्थ में 'करहा' (ऊँट) की उपमा बहुत आई है तथा भाषा में भी राजस्थानी हिन्दी के प्राचीन मुहावरे दिखाई देते हैं। इससे अनुमान होता है कि ग्रन्थकार राजपूताना प्रान्त के थे[1]।"

रचना-काल—

यह सुनिश्चित तथा प्रमाणित है कि आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयपाहुड', 'पवयणपाहुड' आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों का सार लेकर तथा 'परमात्मप्रकाश' की भाषा-शैली से प्रभाव ग्रहण कर मुनि रामसिंह ने 'पाहुड दोहा' की रचना की थी।

आचार्य कुन्दकुन्द की सुप्रसिद्ध रचनाओं के समर्थ टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र दसवीं शताब्दी के महान् विद्वान् तथा कवि थे। उन्होंने अपनी मौलिक कृति 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' की रचना 904 ई. में की थी।[2] अतः उनका समय 904-962 ई. अनुमानित है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'पंचत्थिकायपाहुड' की गा. 146 की टीका में 'पाहुडदोहा' का निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया है—

अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणइ ॥

1. डॉ. हीरालाल जैन : पाहुडदोहा की प्रस्तावना, पृ. 27-28 से उद्धृत, कारंजा, 1933
2. एम. विण्टरनित्सः ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द 2, पृ. 564

आचार्य जयसेन (1292-1323 ई.) ने भी उक्त गाथा की 'तात्पर्य-वृत्ति' टीका में इस दोहे को उद्धृत किया है। अतः यह निश्चित है कि मुनि रामसिंह की अधिकतम समय-सीमा नवम शताब्दी है। डॉ. आदि. नेमि. उपाध्ये ने उनका युग छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के मध्य माना है। क्योंकि 'पाहुडदोहा' के कतिपय दोहे टीकाकार श्रुतसागर सूरि, ब्रह्मदेवसूरि, आचार्य जयसेन की टीकाओं में तथा हेमचन्द्रसूरि के प्राकृत व्याकरण में उद्धृत हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि दो दोहे समान रूप से 'सावयधम्मदोहा' और 'पाहुडदोहा' में उपलब्ध होते हैं।[1] इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि मुनि रामसिंह ने भाव रूप में, प्रभाव रूप में तथा छाया रूप में आ. पूज्यपाद की रचनाओं से तथा 'परमात्मप्रकाश' से भाव ग्रहण किए थे; लेकिन यह भी सम्भव है कि ऐसे दोहे मौखिक रूप से प्रचलित रहे हों। मूल परम्परा में आम्नाय से कुछ गाथाएँ तीर्थंकर महावीर के समय से मौखिक प्रचलित रही हैं। हो सकता है कि 'पाहुडदोहा' की रचना में उन मूल गाथाओं का भावानुवाद रहा हो। फिर, प्रतिलिपिकारों की स्मृति ने समान भाव वाले दोहों में प्रतिलिपि करते समय रूप-रचना में किंचित् समानता या रचनागत परिवर्तन जाने-अनजाने कर दिया हो। अतः यह स्पष्ट है कि वे सातवीं शताब्दी के पश्चात् तथा दसवीं शताब्दी के पूर्व हुए थे।

इस प्रकार मुनि रामसिंह के समय की निम्नतम सीमा सातवीं शताब्दी तथा अधिकतम सीमा नौवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। मेरे अपने विचार में उनको नौवीं शताब्दी का मान लेना चाहिए। क्योंकि दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होने वाले आचार्य अमृतचन्द्र अपनी टीकाओं में जब उनके उद्धरण देते हैं, तो उससे स्पष्ट है कि साहित्य-जगत् में उनकी रचना प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। अतः जन्म के 30-40 वर्षों के पश्चात् ही यह स्थिति बन सकती है। फिर, परम्परा के अनुसार भी 'परमात्मप्रकाश' तथा 'पाहुडदोहा' दोनों प्राचीन रचनाएँ हैं जो वर्षों से साहित्यिक जगत् में ख्यातिप्राप्त तथा समाज में प्रचलित रही हैं। डॉ. जैन के अनुसार 'पाहुडदोहा' सन् 933 और 1100 ई. के मध्य रचा गया है[2]। अतः आचार्य हेमचन्द्र एवं आ. जयसेन ने भी इसके उद्धरण अपनी टीकाओं में उद्धृत किए हैं। ब्रह्मदेवसूरि ने भी 'परमात्मप्रकाश' की टीका में 'पाहुडदोहा' के 19 और 84 संख्यक दो दोहे पृ. 204 और 263 पर उद्धृत किए हैं। अतः यह सुनिश्चित है कि मुनि रामसिंह नौवीं शताब्दी के सन्त कवि हैं।

सन्त काव्य-धारा–

भारत की विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध साहित्य के अनुशीलन से यह निश्चित हो जाता है कि इस देश का अधिकतम साहित्य सन्त कवियों या भक्त कवियों द्वारा

1. डॉ. आ.ने. उपाध्ये : परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना, पृ. 70
2. डॉ. हीरालाल जैन : पाहुड-दोहा की प्रस्तावना, पृ. 33

रचित है। मुनि रामसिंह ने 'सन्त' शब्द का प्रयोग समाधि में रहने वाले 'योगी' के लिए किया है। निर्विकल्प समाधि की साधना करने वाले योगियों की सुदीर्घ परम्परा रही है। वेदों, पालि ग्रन्थों तथा पुरातत्त्व आदि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रमाण आज भी उपलब्ध होते हैं। सन्तों की इस सुदीर्घ परम्परा में मुनि रामसिंह अपभ्रंश के कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। यद्यपि उनके पूर्व मुनि श्री योगीन्दुदेव 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' जैसी महत्त्वपूर्ण रचनाओं का प्रणयन कर चुके थे; जिनमें उनका वैशिष्ट्य परमात्मा की उपलब्धि हेतु रहस्यवादी अभिव्यंजना है। लेकिन मुनि रामसिंह में स्पष्ट रूप से विद्रोही स्वर तथा आत्मानुभूति की अखण्ड साधना की शुद्ध परम्परा एवं उन्मुक्त रहस्यवादी अभिव्यंजना परिलक्षित होती है। अतः योगसाधनापरक शब्दों का प्रयोग भी 'पाहुडदोहा' में प्रचुरता से हुआ है जो 'परमात्मप्रकाश' में विरल है।

जैन वाङ्मय में निम्नलिखित शब्द 'हठयोग' से हटकर विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं। ऐसे शब्द हैं—सन्त, आगम, अचित्, शिव, शक्ति, सगुण, निर्गुण, अम्बर, लय, अक्षर, नाद, अनहद, वाम, दक्षिण, रवि, शशि, पवन, काल, मन्त्र, समरस, शून्य, तन्त्र, ध्येय, धारणा आदि। कहीं-कहीं तो हठयोग की साधना का निषेध करने के लिए ऐसे शब्दों का उल्लेख मिलता है। यथार्थ में श्रमण सन्त-परम्परा सहज योग को मानती है, वही इसकी साधना में है। अतः इसमें हठयोग नहीं है।

डॉ. सिंह का यह कथन उचित ही है कि "जैन सन्त कवियों एवं इनके पूर्ववर्ती कुछ जैनाचार्यों ने हिन्दी के सन्तकाव्य को प्रेरित करने में प्रभूत योग दिया है। हिन्दी निर्गुण सन्तकाव्य बहुलांशतः प्रेरित, प्रभावित हुआ है—यह निःसन्देह कहा जा सकता है।"[1] जैनागमों में आसन, नाड़ी, चक्र, मुद्रा, अनाहतनाद, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि आदि का उल्लेखनीय विवरण उपलब्ध होता है। हिन्दी के सन्तकाव्यों पर इसका यथेष्ट प्रभाव लक्षित होता है।[2] यह प्रभाव बहु आयामी है। केवल काव्यात्मक दृष्टि से ही नहीं, भावाभिव्यंजना, शैली, प्रतीक-योजना, बिम्ब-विधान आदि के प्रयोग में अपभ्रंश के 'परमात्मप्रकाश', 'योगसार', 'पाहुडदोहा', 'सावयधम्मदोहा', आदि का हिन्दी साहित्य को महत्त्वपूर्ण योग-दान रहा है। 'संत' शब्द और सन्त का स्वरूप दोनों ही मूल में श्रमण धारा की देन हैं। महर्षि यास्क के निरुक्त' में 'सन्तत' शब्द है जो लगातार अर्थ का वाचक है; किन्तु 'सन्त' शब्द उसमें उपलब्ध नहीं होता। यथार्थ में 'सन्त' का भावार्थ है—ज्ञान और वैराग्य का समन्वित मूर्तिमान रूप। यह किसी क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम न हो कर सहज होता है। अतः यह कथन उचित

---

1. डॉ. रामेश्वरप्रसाद सिंह : सन्त साहित्य में योग का स्वरूप, पृ. 59 से उद्धृत।
2. द्रष्टव्य है—डॉ. पवनकुमार जैन : महावीर वाणी के आलोक में हिन्दी का सन्तकाव्य पृ. 93-94 तथा—डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ. 52-54

नहीं है कि वैदिक कर्म-काण्ड, यज्ञ और हिंसा की प्रतिक्रिया स्वरूप सन्त-काव्य का जन्म हुआ। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में तथा आचार्य कुन्दकुन्द (ई. पू. 8) के युग में केवल शिथिलाचार का विरोध था। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैन-बौद्धों की श्रमण सन्त-धारा ई. पू. छठी शताब्दी से वैदिक धर्म की धारा के समानान्तर सतत प्रवहमान रही है[1]। सन्त काव्य-धारा के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि "संसार के सम्बन्ध में अपने विचार स्थिर करते समय नाथपन्थियों ने पूर्ववर्ती सिद्धों और जैन कवियों का ही अनुसरण किया है। वे भी संसार को अयथार्थ मानते हैं।...सिद्धों की भाँति कबीर ने संसार को सेमरका फूल, धुएँ का धौरहर, कुहरे का धुन्ध, आदि उपमानों का प्रयोग किया है[2]।"

सिद्धकवि सरहपा जिसे संकल्पों से निर्मित, चित्तकी प्रक्षिप्त माया कहते हैं और कबीरदास जिसे 'महाठगिनी' कहते हैं, उसे अपभ्रंश के जैन कवि भ्रान्ति मात्र कहते हैं। सुप्रभ मुनि इस माया से आत्मा की रक्षा करने का उपदेश देते हैं[3]। मुनि रामसिंह इसे सूखी हुई घास, पयार के समान निःसार एवं तुच्छ कहकर छोड़ने का उपदेश देते हैं। उनके ही शब्दों में—

अप्पा दंसणणाणमउ सयलु वि अण्णु पयालु।
इम जाणेविणु जोइयउ छंडहु मायाजालु ॥ पाहुडदोहा, 70

संसार में भटकने का मूल कारण भ्रान्ति, संकल्प-विकल्प रूप मायाजाल है। इसलिये अधिकतर जैन कवियों ने संसार की क्षणभंगुरता का वर्णन किया है। इसी प्रकार जैन सन्तों का दर्शन, अखण्ड परमात्मस्वरूप आत्मा की अवधारणा तथा अखण्ड परमात्मा की विविध खण्ड रूप कल्पनाओं का विभिन्न प्रतीकों, उपमानों तथा रूपक आदि के माध्यम से चित्रण किया गया है। सन्तकवि आनन्दघन कहते हैं कि राम, रहीम, महादेव, पार्श्वनाथ, ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। इनके नामों में भिन्नता है; किन्तु ये सभी एक अखण्ड आत्मा की खण्ड कल्पनाएँ हैं। जैसे मिट्टी से बनने वाला बर्तन अनेक रूपों को धारण करता है, वैसे ही एक अखण्ड आत्मा में अनेक रूपों की कल्पनाओं का अभिधान है। क्योंकि जीव जब निज पद में रमता है, तब राम है, दूसरों पर रहम करे तब रहीम, कर्मों को तराशे तब कृष्ण तथा निर्वाण प्राप्त करे तब महादेव[4]। इतना अवश्य है कि जहाँ सिद्धों की साधना पूर्णतः वैयक्तिक रही, वहीं जैन सन्त कवि बिना किसी भेद-भाव के समाज में व्याप्त दुराचार का विरोध

---

1. डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा : हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, चण्डीगढ़, 1988, पृ. 136-137
2. डॉ. सदानन्द शाही : अपभ्रंश का धार्मिक मुक्तक काव्य और हिन्दी की मध्यकालीन सन्त काव्य-धारा, इलाहाबाद, 1991, पृष्ठ 33 से उद्धृत
3. वैराग्यसार, दोहा 42
4. आनन्दघन पद संग्रह, बम्बई, पद 67

कर नैतिकता, आत्मानुशासन पर बल देते हुए आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा देते रहे हैं[1]।

डॉ. शाही का यह कथन तो सत्य है कि हिन्दी के सन्त-काव्य में योग-साधना के तत्त्व केवल बाह्याचार तथा कर्मकाण्ड के निरोध अथवा विकल्प रूप में स्वीकृत हैं। यौगिक क्रियाएँ अपने आप में लक्ष्य नहीं हैं। साधना आत्मानुभव पर आधारित है। किन्तु इससे योगमत के प्रभाव की सिद्धि नहीं हो जाती। जैन सन्त कवियों ने शून्य (निर्विकल्प), सहज (स्वाभाविक, आत्मस्वभाव), समाधि (आत्म-लीनता), साधना, ध्यान, धारणा आदि सामान्य शब्दों का प्रयोग पारिभाषिक शब्दावली के रूप में किया है। छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक एक ऐसा युग था जिसमें योग, मन्त्र-तन्त्र आदि का समन्वयवादी स्वरूप साहित्य के माध्यम से अभिव्यंजित किया जा रहा था। पारसनाथी और नेमिनाथी शाखा के योगियों का सम्बन्ध जैन परम्परा से रहा है[2]। अतः सन्त-साधना एवं योग-तत्त्व योगमत की देन नहीं है। डॉ. शाही का यह कथन समुचित प्रतीत होता है कि सन्त काव्य-धारा में योग अनिवार्य तत्त्व नहीं है। उनके ही शब्दों में–

"सन्त कवियों के यहाँ योगसाधना सर्वतोभावेन स्वीकृत नहीं है। दूसरे शब्दों में योग-साधना के तत्त्व इनके यहाँ सिर्फ बाह्याचारों और कर्मकाण्डों के निरोध अथवा विकल्प के रूप में स्वीकृत हैं। यौगिक क्रियाएँ अपने आप में लक्ष्य नहीं हैं। योग इनके लिए कोई अपरिहार्य तत्त्व नहीं है। ये अपनी आवश्यकता के हिसाब से योग के तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। आत्मानुभव पर आधारित अन्तस्साधना, ध्यान, धारणा, मन की पवित्रता का आग्रह, समाधि-साधना आदि योगमत के प्रभाव की ही अभिव्यक्तियाँ हैं जो बौद्ध-सिद्धों, जैन मुनियों से होती हुई सन्तों तक आयी हैं।[3]" इतना अवश्य है कि जैन सन्तकाव्य सहज योग-साधना की उस प्राचीनतम योग-परम्परा की धारा से समन्वित है, जिसका स्पष्ट वर्णन 'वातरशना' मुनियों के रूप में 'ऋग्वेद' में परिलक्षित होता है।

रचना का स्वरूप और छन्द–

'पाहुडदोहा' दोहा छन्द में निबद्ध प्रसिद्ध 'दूहाकाव्य' है। सम्पूर्ण रचना आदि से अन्त तक कुछ पद्यों को छोड़ कर दोहा रूप में उपलब्ध होती है। 220 पद्यों में से 211 दोहा छन्द में रचित हैं। दोहा छन्द का स्वरूप इस प्रकार है :–

प्रथम और तृतीय चरण की मात्राएँ 13

द्वितीय और चतुर्थ चरण की मात्राएँ 11

---

1. डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र : सन्त-साहित्य और समाज, दिल्ली, 1994, पृ. 139
2. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथसिद्धों की बानियाँ, पृ. 13
3. डॉ. सदानन्द शाही : अपभ्रंश के धार्मिक मुक्तक और हिन्दी सन्त-काव्य, पृ. 79 से उद्धृत।

विषम चरण की 13 मात्राओं का स्वरूप :–

6+4+3 (=˘˘˘ अथवा˘˘)

नियम से अन्तिम तीन मात्राओं के पूर्व एक गुरु होता है। सम चरण की 11 मात्राओं का स्वरूपः–

6+4+1 (=˘)

नियम से अन्तिम लघु के पूर्व एक गुरु होता है। उदाहरण है–

गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ ॥1॥

दोहा अर्द्धसम मात्रिक छन्द कहा गया है। इसके प्रथम तथा तृतीय चरणों में 13-13 और द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में 11-11 मात्राएँ होती हैं[1]। कुल मात्राओं की संख्या 48 होती है। मात्रिक गणों की दृष्टि से इसके चरणों की बनावट दो प्रकार की हो सकती है[2]–

विषम पाद–	(1) 3+3+2+3+2	= 13 मात्राएँ
	(2) 4+4+3+2	= 13 मात्राएँ
सम पाद–	(1) 3+3+2+3	= 11 मात्राएँ
	(2) 4+4+3	= 11 मात्राएँ

अथवा गण-रूप इस प्रकार भी हो सकते हैं–

विषम पाद–6+4+3 = 13 मात्राएँ

सम पाद–6+4+1 = 11 मात्राएँ

प्राकृत-अपभ्रंश के अधिकतर छन्द द्विपदी, चतुष्पदी और षट्पदी हैं। अपभ्रंश-काव्य में सर्वविषम छन्द नहीं के बराबर हैं। प्राकृत-अपभ्रंश के लक्षण ग्रन्थों में दो प्रकार के मात्रिक छन्दों का उल्लेख मिलता है–तालप्रधान एवं मात्राप्रधान। इस दृष्टि से अभी तक अपभ्रंश के छन्दों का अध्ययन नहीं किया गया है। वास्तव में हिन्दी में विकसित बहुविध चतुष्पदियों के विकास का मूल आधार अपभ्रंश की चतुष्पदियाँ हैं। 'पाहुडदोहा' में दोहा सं. 123, 140-141, 145, 166, 167, 168, 169, 207 ये 9 छन्द निश्चित ही चतुष्पदियाँ हैं; शेष में दोहा छन्द है।

प्रतीक-विधान–

प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग लक्षित होता है। उदाहरण के लिए–कुडिल्ली, करहा, सिउ-सिव, सत्ति, ससि, रवि, बलद्द, णंदणवण, वेल्लि, गाम, हत्थिय, पालि, पिउ, घर, देवल आदि। इनमें से कुडिल्ली (कुटिया) 'शरीर' की,

---

1. प्राकृतपैंगलम् 1, 78
2. डॉ. शिवनन्दन प्रसाद : मात्रिक छन्दों का विकास, पृ. 145

करडा 'मन' का, बलद्द (बैल) 'इन्द्रियों' का, णंदणवण (नन्दनवन) 'आत्मा' का, अपनी पहचान स्पष्ट रूप से लिये हुए है। डॉ. उपाध्येजी के अनुसार "'दोहापाहुड' का, पालि 'वर्तमान जीवन' का, पिउ 'परमात्मा' का, घर 'शरीर' का और देवल आत्मास्थित शरीर का वाचक है। ये सभी प्रतीक सहज रूप से प्रयुक्त हुए हैं। डॉ. हीरालाल जैन का कथन है कि "पाहुडदोहा" में "जोगियों का आगम, अचित् और चित्, देहदेवली, शिव और शक्ति, संकल्प और विकल्प, सगुण और निर्गुण, अक्षर, बोध और विबोध, वाम-दक्षिण और मध्य, दो पथ, रवि, शशि, पवन और काल आदि ऐसे शब्द हैं, और उन का ऐसे गहन रूप में प्रयोग हुआ है कि उन से हमें योग और तान्त्रिक ग्रन्थों का स्मरण आये बिना नहीं नहीं रहता[1]।" यथार्थ में निर्गुणधारा की एक दीर्घ परम्परा जैन और बौद्ध सन्त-साधुओं के माध्यम से हिन्दी साहित्य में प्रवाहित हुई है।

प्रतीकों के साथ ही अलंकारों का भी बहुविध प्रयोग प्रस्तुत काव्य में परिलक्षित होता है। रूपक, दृष्टान्त, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का परिचय विशेष रूप से मिलता है।

भाषा—

साधारण रूप में मुनि रामसिंह ने उस अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया है जो 'परमात्मप्रकाश' में उपलब्ध होती है। यह तो निश्चित है कि हेमचन्द्र ने प्राकृतव्याकरण के अन्तर्गत जिस अपभ्रंश भाषा के नियमों का विवेचन किया है वह परवर्ती है। अतः जोइन्दु की भाषा में कहीं-कहीं भिन्नता होना स्वाभाविक है। मुनि रामसिंह के सम्बन्ध में भी यह तथ्य यथार्थ है। भाषा बोल-चाल की होने पर भी अपनी पहचान स्पष्ट रूप से लिये हुए है। डॉ. उपाध्येजी के अनुसार "'दोहापाहुड' में अकारान्त शब्द के षष्ठी के एक वचन में 'हो' और 'हुँ' प्रत्यय आते हैं, किन्तु 'परमात्मप्रकाश' में केवल 'हँ' ही पाया जाता है तथा तुहारउ, तुहारी, दोहिं मि, देहहंमि, कहिंमि आदि रूप 'परमात्मप्रकाश' में नहीं पाये जाते हैं[2]।" वास्तव में यह भिन्नता स्पष्टतः लक्षित होती है। यह भी एक विशेषता है कि मुनि रामसिंह की भाषा सशक्त, व्यञ्जनात्मक तथा पूर्णतः सांकेतिक है। यही विशेषता उत्तम काव्य की कही जाती है। वास्तव में उत्तम काव्य में व्यङ्ग्य प्रधान होता है। अपने गूढ़ तथा आध्यात्मिक विचारों को स्पष्ट रूप से विभिन्न शब्द-संकेतों द्वारा अभिव्यंजित करने हेतु अभिव्यंजना का उचित आलम्बन लिया गया है। संक्षेप में, मुनि रामसिंह की भाषा काव्यात्मक विशेषताओं से युक्त है।

---

1. पाहुडदोहा, कारंजा सीरिज, 1933, पृ. 17 से उद्धृत।
2. डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये : परमात्मप्रकाश, प्रस्तावना, पृ. 125 से उद्धृत

अपभ्रंश में य, श, ष, ङ, ञ वर्ग नहीं पाये जाते हैं, किन्तु 'ण' का प्रयोग प्रचुरता से उपलब्ध होता है। 'पाहुडदोहा' में जीवडा, जीहडा, सुक्खडा, दुक्खडा, दिवहडा, सुगुरुवडा, सल्लडा, वियप्पडा, झुंपडा, दवक्कडा, धम्मडा आदि में 'डा' प्रत्यय का प्रयोग तथा ट, ठ, ड, ढ, मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग विशेष रूप से लक्षित होता है। इसी प्रकार सम्बन्ध वाचक तण, तणु, तणुअ स्वार्थिक प्रत्ययों का विशेष प्रयोग मिलता है। यही नहीं, अनुरणात्मक शब्द भी; जैसे—अडवड, वडवड, रुणझुण आदि भी लक्षित होते हैं।

हिन्दी के कवियों पर प्रभाव—

अपभ्रंश भाषा में रहस्यवादी काव्यों में सभी कवियों ने एक ही स्वर में यह भाव अभिव्यञ्जित किया है कि जो आत्मा है, वही परमात्मा है। प्रत्येक आत्मा वस्तुतः स्वरूप से परमात्मा है। व्यवहार में यह कहा जाता है और प्रयोग में ऐसा पुरुषार्थ किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति आत्मा की मलिनता को दूर कर शुद्धता को प्राप्त करता है। लौकिक व्यवहारी जन बाहरी क्रियाओं से आत्मा की शुद्धता मानते हैं; किन्तु कवि जोइंदु, मुनि रामसिंह, मुनि महयंद आदि बाह्य क्रिया—काण्ड का निषेध करते हैं। 'पाहुडदोहा' में पत्र, पुष्प, फल आदि सभी सजीव वस्तुओं में उस परमात्मा की स्थिति मानी गई है जो चैतन्य स्वरूप है। अतः मुनि रामसिंह कहते हैं—हे योगी! तू पत्तियों को मत तोड़, फलों पर भी हाथ मत बढ़ा, जिस ईश्वर की मूर्ति पर चढ़ाने के लिए तू पत्तों, पुष्पों और फलों को तोड़ना चाहता है, उस मूर्ति को ही इन पर चढ़ा दे। क्योंकि पाषाण की मूर्ति निर्जीव है, किन्तु पत्र-पुष्प आदि सजीव हैं। (पाहुडदोहा, 161) इसी प्रकार जप-तप, व्रत आदि, तीर्थयात्रा, स्नान तथा केशलोंच की निरर्थकता का वर्णन किया गया है। हिन्दी के निर्गुणवादी सुप्रसिद्ध कवि कबीर ने इस खण्डन-पद्धति को पूर्ण रूप से अपनाया है। यथा—

मुंडिय मुंडिय मुंडिया, सिर मुंडिय चित्तु ण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जे कियउ, संसारहं खंडणु ते कियउ ॥ पाहुडदोहा, 136
कबीर कहते हैं—केसों कहा बिगारिया, जो मूंडे सौ बार।
मन को काहे न मूंडिये, जामें विषे विकार ॥ कबीरग्रन्था 0, भेष को अंग, 12

इसी प्रकार जप, माला, तीर्थयात्रा आदि का भी कबीर ने निषेध किया है। यथार्थ में अपभ्रंश के इन कवियों की खण्डनपरक विचारधारा का पूर्ण प्रभाव हिन्दी के कवियों पर लक्षित होता है। मुनि जोइन्दु, मुनि रामसिंह तथा मुनि महचन्द्र आदि ने आत्मज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान कहा है और परमात्मा होने के लिये उसे परम आवश्यक माना है। "ज़े एगं जाणइ से सव्वं जाणइ" जो एक को जान लेता है, वह सब को जान लेता है। कबीरदास इन शब्दों में इस भाव को प्रकट करते हैं—

जो वो एकै जाणियां, तो जाण्यां सब जांण।

जो वो एक न जाणियां, तो सब ही जाण अजांण॥–कबीर ग्रन्थावली, निःकर्मापतिव्रता को अंग, 18

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी के कवियों में विशेषकर कबीरदास की विचार-धारा, मान्यताओं, चिन्तन-पद्धति और भाषा-शैली आदि पर अपभ्रंश के कवियों का प्रभाव भलीभाँति परिलक्षित होता है।

पाठ-सम्पादन–

'पाहुडदोहा' का प्रस्तुत संस्करण पाँच हस्तलिखित प्रतियों तथा एक मुद्रित ग्रन्थ के आधार पर तैयार किया गया है। हस्तलिखित प्रतियों का परिचय निम्न-लिखित है।

अ–यह प्रति अंजनगाँव (अमरावती) के श्री दि. जैन मन्दिर के शास्त्र-भण्डार की है। इसकी पत्र सं. 28 (दोनों तरफ मिलाकर); आकार 18 × 14;" पंक्तियाँ प्रति पृष्ठ 12; वर्ण प्रति पंक्ति लगभग 24; हांसिया ऊपर–नीचे 1/2", दायें-बायें 1.3/4" है। यह प्रति सुरक्षित एक गुटके में है। लेखन सुन्दर तथा स्पष्ट है। कागज मटमैला, पतला है, प्रति जीर्ण-शीर्ण नहीं है। किन्तु कोई-कोई पत्र परस्पर चिपक गये हैं। लगभग तीन सौ वर्ष प्राचीन प्रति अनुमानित है। प्रति के प्रारम्भ में कुछ नहीं लिखा है। अन्त में संस्कृत के दो श्लोक लिखे हुए मिलते हैं, जिनको मिलाकर 222 पद्य हैं। अन्त में लिखा है–इति द्वितीय प्रसिद्धनाम योगींद्रविरचितं दोहापाहुडसमाप्तः।

ब–यह प्रति ब्यावर के दि. जैन ऐ.प. सरस्वती भवन की है। इसकी क्र. सं. 9278 है। इसकी पाना सं. 11 तथा कुल पत्र-संख्या 22 है। इसका आकार 9.1/2 "6" है। इसके प्रत्येक पृष्ठ में 13 पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में लगभग 36 वर्ण हैं। ऊपर-नीचे, दायें-बायें लगभग आधा-आधा इंच का स्थान छूटा हुआ है। प्रति का कागज सामान्य है, किन्तु लिखावट से प्राचीन प्रतीत होती है। प्रारम्भ में लिखा है–"अथ दोहापाहुड"। प्रति के अन्त में दो संस्कृत के श्लोक हैं, जिनको मिला कर कुल 222 पद्य हैं। सबके अन्त में कुछ भी उल्लेख नहीं है।

स–यह प्रति श्री दि. जैन बड़ा मन्दिर, शिवपुरी के शास्त्र-भण्डार की है जो गुटके में सुरक्षित है। इस गुटके में अपभ्रंश की कई छोटी-छोटी रचनाएँ हैं। कुछ हिन्दी की भी रचनाएँ है। इस गुटके के कुछ प्रारम्भिक पत्र नहीं हैं, किन्तु 'पाहुडदोहा' सुरक्षित है। इसका आकार 20 × 18 है तथा पत्र सं. 10 है। इसके प्रत्येक पृष्ठ में लगभग 12 पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में लगभग 15 वर्ण हैं। ऊपर-नीचे, दायें-बायें लगभग 1-1 इंच का स्थान छूटा हुआ है। प्रति अधिक प्राचीन प्रतीत नहीं होती; किन्तु शुद्धता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

इनके अतिरिक्त डॉ. हीरालाल जैन ने जिन दो प्राचीन प्रतियों (क और द)

के आधार पर "पाहुड-दोहा" का सम्पादन किया था, उन को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया है और मुद्रित संस्करण से भी पर्याप्त सहायता ग्रहण की है। लेखक विनम्र भाव से हृदयावनत हो उनका बहुत-बहुत आभार मानता हुआ बारम्बार स्मरण करता है तथा अत्यन्त कृतज्ञता का भाव व्यक्त करता है।

पुस्तक को उपयोगी बनाने में जिन विद्वानों तथा स्वाध्यायी बन्धुओं के सुझाव मिले हैं, उन सबका आभार है। विशेषकर डॉ. वीरसागर जैन के प्रति आभारी हूँ, जिनके मूल्यवान सुझाव उपयोगी प्रतीत हुए। इसके सुन्दर मुद्रण तथा प्रकाशन के लिये मैं भारतीय ज्ञानपीठ और उनके अधिकारियों के प्रति अपना आदर भाव प्रकट करता हुआ आभार मानता हूँ।

—देवेन्द्रकुमार शास्त्री

पाहुडदोहा

गुरु दिणयरु[1] गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पहं परहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ ॥1॥

शब्दार्थ–गुरु–आत्म-हित के उपदेशक, शिक्षक; दिणयरु (दिनकर) सूर्य; हिमकिरणु–चन्द्रमा; दीवउ–दीपक; अप्पहं–आपका, अपना; परहं–पर का, अन्य (चेतन से भिन्न) का; परंपरहं–परम्परा से, जो–जो, दरिसावइ–दर्शाता है; भेउ–भेद।

अर्थ–जो परम्परा से आत्मा (निज शुद्धात्मा) और पर (पराया) का भेद दर्शाते हैं–ऐसे गुरु सूर्य (दिनकर) हैं, गुरु चन्द्रमा (हिमकिरण) हैं, गुरु दीपक हैं और गुरु देव हैं।

भावार्थ–गुरु की महिमा स्पष्ट है। यथार्थ में गुरु दिनकर के समान हैं। जिस तरह सूर्य लोक को प्रकाश से भर देता है, वैसे ही गुरु भी अज्ञान-अन्धकार को दूरकर ज्ञान से आलोकित कर देते हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा शीतल किरणें चारों ओर फैला देता है, उसी प्रकार गुरु भी सुख-शान्ति की छटा बिखेर देते हैं, इसलिए वे चन्द्रमा के समान हैं। गुरु को दीपक इसलिए कहा है कि वह अपने घर के भीतर भण्डार में स्थित छिपे हुए रत्नों को प्रकाशित करता है; गुरु भी शक्ति रूप से अन्तर्हित (छिपे हुए) सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के प्रकाशन में निमित्त तथा सच्चे सुख का मार्ग दिखाने वाले हैं।

वास्तव में गुरु वही है जो अज्ञान-तिमिरान्ध को दूर कर प्रकाश देने वाले हैं। इस दृष्टि से सबसे महान् गुरु सिद्ध भगवान् हैं, जो कभी इस संसार में लौटकर नहीं आते एवं जो सम्पूर्ण ज्ञान या केवलज्ञान से सम्पन्न होने के कारण तीन लोक के गुरु हैं। गुरु का अर्थ है–भारी, वजनदार। गुरु की यह विशेषता है कि भारी होने पर भी वे संसार-समुद्र में नहीं गिरते हैं। योगीन्दुदेव 'परमात्मप्रकाश' में कहते है–

ते पुणु वंदउं सिद्धगण जे णिव्वाणि वसंति।
णाणिं तिहुयणि गरुया वि भवसायरि ण पडंति ॥1, 4

अर्थात्–मैं उन सिद्धों की वन्दना करता हूँ जो पूर्ण वीतराग स्वभाव में शाश्वत रहते हैं। तीनों लोकों में वे ज्ञान से गुरु होने पर भी भव-सागर में नहीं गिरते हैं। यही उनका माहात्म्य है। गुरु अपरिग्रही, जितेन्द्रिय, महाव्रती तथा जिनमुद्रा से

1. **अ, द, ब, स** दिणयरु; **क** दिणियरु।

विभूषित होते हैं। ऐसे गुरु की कृपा से आत्मदेव की पहचान हो जाने पर अविचल आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

बलिहारी गुरु अप्पणइं[1] दिउ हांडी[2] सय वार।
माणस हुंतउं देउ किउ करंत ण लग्गइ वार ॥2॥

शब्दार्थ—बलिहारी; गुरु (कर्मोदय)—स्वयं आत्मा, अप्पणइं—अपने को; दिउ—दी, प्रदान की; हांडी—शरीर (नामकर्म से मिला); सयवार—सैकड़ों बार; माणस—मनुष्य; हुंतउ—से (पंचमी विभक्ति), देउ (देव पर्याय)-देव गति; किउ—किया; करंत—करते हुए, ण लग्गइ—नहीं लगा; वार—समय।

अर्थ—उन गुरु की बलिहारी है जिन ने एक बार नहीं सैकड़ों बार हमें मनुष्य से देव बनाया है। देव पर्याय का जन्म देने में उन्होंने देर नहीं लगाई।

भावार्थ—जैनधर्म के अनुसार किसी भी प्राणी को मनुष्य या देव बनाना—यह देव, शास्त्र या गुरु का कार्य नहीं है। प्रत्येक पुरुष अपने पुरुषार्थ से ही शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार जन्ममरण को प्राप्त होता है। इसी प्रकार भगवान् या उनकी मूर्ति किसी भी प्राणी को न तो कुछ देती है और न कुछ करती है; लेकिन उनके अवलम्बन से व्यक्ति के भावों में शुभ भाव रूप परिणमन होने से भक्ति के वश कवि ऐसा गुणानुवाद करते हैं कि आपकी शरण में आने पर सब संकट दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ पर औपचारिकता से कर्म के फल का आरोप गुरु पर वर्णित कर यह कहा गया है कि आप मनुष्य से देव बना देते हैं। आचार्य कुमुदचन्द्र 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' में कहते हैं—

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन, देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।

श्लोक 15

अर्थात्—हे जिनेश! आपके ध्यान में लवलीन जीव क्षण भर में शरीर की ओर से हटकर परमात्म-दशा को प्राप्त कर लेते हैं।

आचार्य अमितगति के अनुसार कर्म के अतिरिक्त किसी भी प्राणी को कोई कुछ भी नहीं देता है। उनके शब्दों में—

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन॥

—भावनाद्वात्रिंशिका, 30

अर्थात्—प्रत्येक प्राणी को पूर्व में उपार्जित कर्म के सिवाय अन्य कोई भी कुछ

मुद्रित प्रति में यह दोहा नहीं है। प्राचीन प्रति तथा गुटके में उपलब्ध होता है।

1. अ आप्पणइं; 2. अ हाडी। शुद्ध पाठ हैं—अप्पणइं, हांडी।

भी नहीं देता है। अतः बाह्य आलम्बन तथा निमित्त की अपेक्षा कथन किया गया है। गुरु यदि सम्यक् बोध न देते, तो साधक साधना के द्वारा उत्कृष्ट गति, मति एवं पद प्राप्त नहीं कर पाता।

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु।
पर सुहु[1] वढ चिंतंतयहं[2] हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥3॥

शब्दार्थ—अप्पायत्तउ—आत्माधीन, अपने अधीन; जं—जो; जि—पादपूरक अव्यय; सुहु—सुख; तेण—उससे, जि—ही; करि—कर; संतोसु—सन्तोष; परसुहु—परसुख (मन, इन्द्रियों की सहायता से मिलने वाला सुख); वढ—मूर्ख; चिंतंतयहं—सोचता हुआ, चिन्ता करता हुआ; हियइ—हृदय (से); ण फिट्टइ—दूर नहीं होता; सोसु-सोच, शोक।

अर्थ—हे मूढ! जो सुख आत्मा के अधीन (आश्रित) है, उससे ही सन्तोष कर। जो पर में (अन्य के अवलम्बन से) सुख का चिन्तन करता है, उसकी चिन्ता हृदय से दूर नहीं होती।

भावार्थ—आत्माधीन सुख आत्मा के जानने से होता है। उसे ही आत्मानुभव कहते हैं। वह स्वाश्रय से उपलब्ध होता है। इसलिए ज्ञान को ज्ञान मात्र जानना; राग रूप नहीं मानना। ज्ञान इन्द्रियों के अधीन नहीं है। जो यह कहता है कि ज्ञान इन्द्रियों से होता है, वह ज्ञान को नहीं जानता है। क्योंकि आचार्य अमितगति 'योगसार' (श्लोक 76) में कहते हैं कि जितना इन्द्रियजन्य (वैषयिक) ज्ञान है, वह सभी पौद्गलिक है। यथार्थ में तो ज्ञान विषयों से परावृत्त है। आत्मीय ज्ञान के लिए इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान से ही जानने में आता है। आचार्य कुन्दकुन्द 'समयसार; (गा. 206) में यही उपदेश देते हैं कि परमार्थतः आत्मा जितना ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञान मात्र में ही सदा रति (प्रीति) कर, इसमें नित्य संतुष्ट हो और इससे तृप्त हो। इससे तुझे उत्तम सुख होगा। ज्ञान मात्र आत्मा में लीन होना, उसी में सन्तुष्ट, तृप्त होना परमध्यान कहा गया है। यह आत्मध्यान आज तक इसलिए नहीं हुआ है कि अनादि काल से यह इन्द्रियज्ञान को ज्ञान मानता आया है। इसे अपना स्वरूप भासित नहीं हुआ है। किन्तु जिसे परम आनन्द का अनुभव होता है, वह उसमें इतना सन्तुष्ट हो जाता है कि फिर इन्द्रिय जन्य सुख का विकल्प ही नहीं उठता है। इसलिए आत्मा

---

1. अ परसुह; क, द, ब परसुहु; स परसहु; 2. अ, ब, स चिंतंतयहं; क, द चिंतंतहं।

(हंस) को यही सम्बोधन किया गया है कि तू इस निर्विकल्प, वीतराग आत्मस्वभाव में लीन होकर नित्य इसी में सन्तुष्ट रह। इसी से तुझे तृप्ति तथा उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।

जं सुहु विसयपरंमुहउ[1] णिय अप्पा झायंतु।
तं सुहु इंदु[2] वि णवि[3] लहइ देविहिं[4] कोडि रमंतु ॥4॥

शब्दार्थ—जं—जो; सुहु—सुख; विसयपरंमुहउ—विषयों (से) पराङ्मुख; णिय—निज; अप्पा (शुद्धात्मा)—आत्मा; झायंतु—ध्यावे; तं—वह, सुहु—सुख; इंदु—इन्द्र; वि—भी; णवि—नहीं; लहइ—प्राप्त करता है; देविहिं—देवियों (के साथ); कोडि-करोड़; रमंतु-रमण करे।

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों से पराङ्मुख, निवृत्त होकर अपने आत्मा के ध्यान से जो सुख मिलता है, वह सुख करोड़ों देवियों के साथ रमण करने वाले इन्द्र को भी नहीं मिलता है।

भावार्थ—स्पर्श, रसना, घ्राण, नेत्र और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों के अपने-अपने विषय हैं। अनादिकाल से प्रत्येक जीव लोक के सभी विषयों के ग्रहण करने की इच्छा करता रहता है। इच्छाएँ अनन्त हैं और विषय साधन सीमित हैं। इसलिए इच्छाएँ कभी पूर्ण नहीं होती हैं। इच्छा की पूर्ति न होने पर आकुलता उत्पन्न होती है। आकुलता से प्राणी दुःखी होता है। कभी-कभी यह दुःख ऐसा होता है कि विषय को ग्रहण करने के लिए यह मरण को भी नहीं गिनता है। ऊपर का दोहा 'परमात्मप्रकाश' (अ. 1, दो. 117) में कुछ परिवर्तन के साथ मिलता है। वास्तव में इन्द्रिय सख दःख रूप ही हैं। जिस सुख में पराधीनता हो, वह सुख नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द पुद्गल (जड़) हैं जो इन्द्रियों के विषय हैं। इन्द्रियाँ उनको एक साथ नहीं जानती हैं। फिर, इन्द्रियाँ आत्मा के स्वभाव रूप नहीं हैं। इसलिए वे परद्रव्य कही गई हैं। उनके माध्यम से ज्ञात पदार्थ आत्मा के प्रत्यक्ष कैसे हो सकते हैं? वास्तव में इन्द्रियों का व्यापार दुःख ही है। सुख या आनन्द स्वभावसिद्ध है। अतः स्पर्शनादि इन्द्रियों के द्वारा आश्रय लिए जाने पर भी इष्ट विषयों को उपलब्ध कर आत्मा स्वयं सुख रूप है; शरीर सुख रूप नहीं है। यदि प्राणी की दृष्टि ही अन्धकारनाशक हो, तो दीपक से कोई प्रयोजन नहीं रहता। इसी प्रकार जहाँ आत्मा स्वयं सुख रूप परिणमन करता है वहाँ विषय क्या कर सकते हैं? (प्रवचनसार, गा. 58-69)

---

1. **अ, ब** विसयपरमुहउं; **क, द** विसयपरंमुहउ; **स** विसयपरंमुहउं; 2 **अ, क, द, स** इंदु; **ब** सक्कु; 3. **अ, द, ब** णवि; **क, द** णउ; 4. **अ, क, द** देविहिं; **ब, स** देविउ।

विषय-सुख तो आत्मा, परमात्मा को उपलब्ध कराने में बाधक ही हैं। इसलिए वे हेय, त्याज्य हैं। जब तक इन्द्रियों के विषयों से यह जीव हटेगा नहीं, तब तक इसे सच्चा सुख उपलब्ध नहीं होगा।

आभुंजंतउ[1] विसयसुहु[2] जे णवि हियइ धरंति।
ते सासयसुहु लहु लहहिं जिणवर[3] एम भणंति ॥5॥

शब्दार्थ—आभुंजंतउ—भोग करते हुए; विसयसुहु—विषय-सुख; जे—जो (बहुवचन); णवि—नहीं ही; हियइ—हृदय (में); धरंति—धरते हैं, धारण करते हैं; ते—वे; सासयसुहु—शाश्वत सुख; लहु—शीघ्र; लहहिं—प्राप्त करते हैं; जिणवर—जिनवर; एम-इस प्रकार, ऐसा; भणंति-कहते हैं।

अर्थ—विषय-सुख का भोग करते हुए भी जो उसे हृदय में धारण नहीं करते अर्थात् आसक्त नहीं होते, वे अल्पकाल में शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं; ऐसा जिनवर कहते हैं।

भावार्थ—जिनवर भगवान् कहते हैं कि देवगति में देवों के भी वास्तविक सुख नहीं है। वे शरीर की वेदना से पीड़ित होकर इन्द्रियों के रम्य विषयों में रमण करते हैं। (प्रवचनसार, गा. 76) जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है, जिसका सम्बन्ध अन्य वस्तु या इन्द्रियों के विषय से है, जो नष्ट हो जाता है, इन्द्रियों के अधीन है, जिसके बने रहने में बाधा उत्पन्न हो जाती है, वह यथार्थ में दुःख ही है। क्योंकि सच्चा सुख अतीन्द्रिय, निराकुल, निर्विकल्प, सतत बना रहने वाला सदानन्द है जो मन और इन्द्रियों की पहुँच से बाहर है। वास्तविक सुख परम सन्तोष को देने वाला और विषय-तृष्णा को नष्ट करने वाला सहज स्व-संवेद्यमान है। निज शुद्धात्मा की अनुभूति से ही वह उपलब्ध होता है।

यदि कोई यह कहता है कि इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान होता है, तो फिर इन्द्रियाँ जड़ हैं; जबकि ज्ञान चेतन की पर्याय है। आत्मा के द्वारा ज्ञान होता है। आत्मा स्वयं ज्ञान रूप परिणमन करता है। ज्ञान होना आत्मा की क्रिया है। अतः धर्म को और धर्म जिसमें रहता है उस धर्मी को जानने वाला ज्ञान प्रमाणज्ञान है। उस ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं, जो जाननहारा को स्वयं सहज रूप से स्वतः जानता है। आत्मा पर पदार्थ से वस्तुतः भिन्न है। इसलिए वह न तो उसका भोग कर सकता है और न उसे ग्रहण कर सकता है। क्योंकि चेतन की सत्ता में किसी

---

1. **अ, स** आभुंजंतउं; **क, द, ब** आभुंजंता; 2. **अ, क, ब, स** विसयसुहु; **द** विसयसुह; 3. **क, द, स** जिणवरु; **अ, ब** जिणवर।

भी जड़ या चेतन वस्तु की सत्ता का प्रवेश सम्भव नहीं है। परमार्थ से कोई पदार्थ किसी अन्य वस्तु का कुछ भी नहीं कर सकता है। (योगसार प्राभृत, 2,18)

णवि भुंजंता विसयसुहु हियडइ भाउ धरंति।
सालिसित्थु जिम वप्पुडउ[1] णर णरयहं णिवडंति ॥6॥

शब्दार्थ—णवि—नहीं; भुंजंता—भोगते हुए; विसयसुहु—विषयसुख, हियडइ—हृदय (में); भाउ—भाव; धरंति—धरते हैं; सालिसित्थु—शालिसिक्थ (तन्दुल मच्छ); जिम—जिस तरह; वप्पुडउ—बेचारा; णर—(नर) मनुष्य; णरयहं—नरक (में); णिवडंति—गिरते हैं (उत्पन्न होते हैं)।

अर्थ—विषय-सुख का भोग न करते हुए भी जो प्राणी हृदय में उसे भोगने का भाव धारण करते हैं, वे तन्दुल मच्छ (शालिसिक्थ) की तरह नरक में उत्पन्न होते (पड़ते) हैं।

भावार्थ—जैनधर्म में भाव की प्रधानता है। कोई प्राणी भोग नहीं भोगता है, लेकिन परिस्थितिवश अपने को असहाय समझकर बार-बार भोगने की इच्छा रखता है। इस सम्बन्ध में तन्दुलमच्छ की कथा प्रसिद्ध है। कथा का सार यह है कि किसी राजा ने माँस खाने का त्याग किया। किन्तु किसी माँसप्रिय व्यक्ति की कुसंगति से माँस खाने का भाव हो गया। उसने गुप्त रूप से अपने रसोइये से प्रतिदिन माँस पकाने के लिए कहा। रसोइया माँस पकाने लगा। लेकिन किसी-न-किसी अड़चन के कारण राजा माँस नहीं खा पाया। इसी बीच एक दिन रसोइया सर्प के डसने से मरकर स्वयम्भूरमण समुद्र में महामत्स्य हुआ। राजा मरकर उस महामत्स्य के कान में तन्दुल (चावल) के आकार का कीड़ा हुआ। वह वहाँ पर उस महामत्स्य के मुख में अनेक जल-जन्तुओं को भीतर जाते हुए और बाहर आते हुए देखकर मन में कहता है—"अहो! यह मच्छ बड़ा अभागा और मूर्ख है जो अपने मुँह में आये हुए जन्तुओं को भी छोड़ देता है। यदि मेरा इतना बड़ा मुँह होता, तो सारे समुद्र को जन्तुरहित कर देता।" इस प्रकार माँस खाने की शक्ति नहीं होने पर भी वह तन्दुलमच्छ मरकर सातवें नरक में गया। क्योंकि उसके भाव खोटे थे। आचार्य कुन्दकुन्द कृत 'भावपाहुड' (गा. 88) में यह उल्लेख इस प्रकार है—

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं।
इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं ॥

अर्थात्—अशुद्ध भाव के कारण सालिसित्थ मच्छ महानरक (सातवें नरक) में

---

1. **अ, द, ब, स** वप्पुडउ; **क** वापुडौ। हस्तलिखित प्रतियों में दोहा-संख्या भिन्न-भिन्न है।

गया। ऐसा जानकर निज शुद्धात्म-भावना प्रतिदिन भानी चाहिए; यह जिनवर का अभिप्राय है।

आचार्य अकलंकदेव कहते हैं कि क्रोधादि परिणामों का होना भावबन्ध है। जहाँ भी मिथ्यात्व और रागादि परिणाम होते हैं, वहीं भावबन्ध हो जाता है। वहाँ पर फिर यह नहीं है कि काम तो अभी कुछ किया नहीं है; केवल भाव ही ऐसा हुआ है। वास्तव में भाव का करना ही अन्तरंग कार्य है। पहले भीतर में कार्य होता है और फिर बाहर में होता है। बिना भाव के कोई क्रिया नहीं होती।

धंधइं[1] पडियउ सयलु जगु कम्मइं करइ[2] अयाणु।
मोक्खह कारणु[3] एक्कु[4] खणु णवि चिंतइ अप्पाणु ॥7॥

शब्दार्थ—धंधइं—धन्धे (में); पडियउ—पड़ा हुआ, लगा हुआ; सयलु—सकल, सम्पूर्ण; जगु—जगत; कम्मइं—कर्मों को; करइ—करता है; अयाणु—अज्ञान से; मोक्खह—मोक्ष का; कारणु—कारण; एक्कु—एक; खणु—क्षण; णवि—नहीं; चिंतइ—चिन्तन करता है; अप्पाणु—अपना।

अर्थ—धन्धे में लगा हुआ सम्पूर्ण जग अज्ञान से कर्म करता है, किन्तु मोक्ष के कारणभूत निज शुद्धात्मा का चिन्तन एक क्षण के लिए भी नहीं करता है।

भावार्थ—संसार (राग-द्वेष) का व्यापार धन्धा कहलाता है। इस जन्म में ही नहीं, अनादि काल से प्राणी कर्म का धन्धा कर रहा है। कर्म करने का कारण अज्ञान है। बहिर्जगत् का सभी व्यापार कर्म कहा जाता है। कर्म दो प्रकार का है—भावकर्म और द्रव्यकर्म। राग, द्वेष, मोह को भावकर्म कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, स्वानुभव, चारित्र आदि का आवरण करने वाला द्रव्यकर्म है। द्रव्यकर्म वास्तविकता है। द्रव्यकर्म वस्तुतः विज्ञान है जो वर्गणा रूप है। अणु के शक्तिसमूह को वर्गणा कहा गया है। प्रत्येक कर्म की अपनी-अपनी वर्गणा होती है। वर्गणा ही कर्म रूप परिणमन करती है। इस परिवर्तन या परिणमन का कारण राग, द्वेष या मोह भाव होता है। प्रायः सभी प्राणी यह समझते हैं कि जो राग रूप अनुभव है, वही मैं हूँ। इसका अर्थ यह हुआ कि जो चैतन्य पदार्थ है, वह अपनी सत्ता है, लेकिन यह अपने अस्तित्व को भूलकर पराई सत्ता को ही आप रूप समझता है—यही अज्ञान है। क्योंकि वस्तु का स्वरूप जो है, उससे भिन्न यह उसे समझता है। किन्तु चैतन्य तत्त्व का बोध होने पर जब इसे अपनी भूल का पता चलता है, तब स्वतः अन्तर्मुख होकर स्वभाव-सन्मुख होता है।

अंजनगाँव (अमरावती) की लगभग चार सौ वर्ष प्राचीन प्रति के अनुसार दोहों का क्रम यही है।
1. **अ, ब, स** धंधइ; **क, द** धंधइं; 2. **अ** करइं; **क, द, ब, स** करइ; 3. **अ, द, स** कारणु; **क** कारणि; **ब** कारण; 4. **अ, स** इक्कु; **क, द** एक्कु; **ब** एक्क।

अपनी सत्ता ज्ञान-आनन्द की है। इसलिए आत्मा का भान, ज्ञान होने पर उसका अनुभव होने लगता है।

यथार्थ में साक्षात् मोक्ष का कारण निज शुद्धात्मा है। उसके अवलम्बन से, आश्रय से सच्चे सुख का मार्ग प्रशस्त होता है। किन्तु संसारी प्राणी धन्धे में पड़ा हुआ होने से क्षणभर के लिए भी वीतराग, परमानन्द स्वरूप निज शुद्धात्मा का चिन्तन नहीं करता।

यह दोहा 'परमात्मप्रकाश' (2, 121) में द्वितीय अधिकार में मिलता है। इसका सारांश इस प्रकार है कि अनन्त ज्ञानादिस्वरूप मोक्ष का कारण जो वीतराग परमानन्द रूप निज शुद्धात्मा है, उसका यह मूढ़ प्राणी एक क्षण के लिए भी चिन्तन नहीं करता।

आयइं अडबड वडवडइ पर रंजिज्जइ लोउ।
मणसुद्धइ[1] णिच्चल ठियइ[2] पाविज्जइ परलोउ ॥8॥

शब्दार्थ—आयइं—ये; अडबड—अड़बड़, ऊटपटांग; वडवडइ—बड़बड़ाता है; पर—अन्य; रंजिज्जइ—प्रसन्न किया जाता है; लोउ—लोक; मण सुद्धइ—मनः शुद्धि; णिच्चल ठियइ—निश्चल स्थित होता है, स्थिर होता है; पाविज्जइ—प्राप्त किया जाता है; परलोउ—परलोक।

अर्थ—ये जो अड़बड़ (ऊटपटाँग) बड़बड़ाते हैं, उनसे लोक में अन्य लोगों का मनोरंजन होता है। किन्तु मन के शुद्ध तथा निश्चल हो जाने पर परलोक में परम सुख प्राप्त किया जा सकता है।

भावार्थ—लोक में चारों ओर कोलाहल व्याप्त है। भीतर-बाहर सब ओर कोलाहल, शोर है। प्राणी को घर-द्वार, बाल-बच्चे, अपने-पराये की चिन्ताएँ घेरे हुए हैं। उनको सहलाने के लिए या मन को बहलाने के लिए भावावेश में यह तरह-तरह की बातें करता रहता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि के भावों से प्रत्येक क्षण मन अशान्त तथा अशुद्ध रहता है। जिस प्रकार धूल से भरा हुआ जल जब तक हवा चलती रहती है, तब तक मैला रहता है; लेकिन हवा के रुकते ही धूल पेंदे में बैठ जाती है और जल स्थिर, निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार विचारों (विकल्पों) की आँधी जब तक चलती है, तब तक मन मलिन एवं अस्थिर रहता है। धर्मध्यान की साधना व आराधना से मन के शुद्ध और निश्चल हो जाने पर प्राणी साधना के बल पर इस जन्म में कदाचित् नहीं, तो अगले जन्म में निश्चय

1. अ मणसुद्धइ; क, द, ब, स मणसुद्धइं; 2. अ णिच्चलठियइ; क णिच्चलठियइं; द ठियहं; ब णिच्चलठियं।

ही परम सुख को प्राप्त कर लेता है। साधना या आराधना निर्विकल्प दशा में ही होती है। जब तक संकल्प-विकल्प मन को घेरे हुए रहते हैं, तब तक निर्विकल्पता कहाँ है? निर्विकल्प हुए बिना सुख-शान्ति की कल्पना करना दुराशा मात्र है। योगीन्दुदेव का कथन है–

> जोइय मिल्लहि चिंत जइ तो तुट्टइ संसारु।
> चिंतासत्तउ जिणवरु वि लहइ ण हंसाचारु ॥परमात्मप्रकाश, 2, 170

अर्थात्–हे योगी, चिन्ता-जाल को छोड़ोगे, तभी संसार का भ्रमण छूट सकता है। क्योंकि चिन्ता में लगे हुए बालक अवस्था के तीर्थंकर भी परमात्मा के आचरण रूप शुद्ध भाव को उपलब्ध नहीं होते। जब योगी बनकर निर्विकल्प समाधि रूप शुद्ध भाव को उपलब्ध होते हैं, तभी राग-द्वेष, मोह रूप संसार टूटता है। राग-द्वेष में चलने का नाम संसार है। जब तक राग-द्वेष के साथ एकता-बुद्धि है, तब तक आकुलता-व्याकुलता, परेशानी है।

जोणिहिं लक्खहिं परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु।
पुतकलत्तहं[1] मोहियउ जाव ण बोहि लहंतु ॥9॥

शब्दार्थ–जोणिहिं–योनियों (में); लक्खहिं–लाखों (में); परिभमइ–भ्रमण करता है; अप्पा–आत्मा (जीव); दुक्खु–दुःख; सहंतु–सहता हुआ; पुत्तकलत्तहं–पुत्र, पत्नी (में); मोहियउ–मोहित हुआ; जाव–जब तक; ण–नहीं; बोहि–बोधि (आत्मज्ञान); लहंतु–प्राप्त करता है।

अर्थ–जब तक यह आत्मा बोधि को प्राप्त नहीं करता, तब तक पुत्र-स्त्री आदि में मोहित होकर दुःख सहता हुआ लाखों योनियों में परिभ्रमण करता है।

भावार्थ–चारों गतियों में घूमने का एक मात्र कारण भ्रम पूर्ण अज्ञान है। प्राणियों को भ्रम यह है कि हम दूसरों की सहायता लिए बिना सुखी नहीं हो सकते। बाहरी साधन-सम्पन्नता से ही हमें सुख मिल सकता है–यह एक झूठी (मिथ्या) आशा है। इस आशा-तृष्णा का जनक अज्ञान ही है। प्राणी लोभ इसलिए करता है कि उसके मन में निरन्तर यह आशा बनी रहती है कि अमुक के प्राप्त होने से मैं सुखी हो जाऊँगा। जब मनचाहे की प्राप्ति नहीं होती, तो रोष, क्रोध करता है। इस तरह से राग और द्वेष का चक्र घूमता रहता है। जब तक यह चक्र चलता रहेगा, तब तक संसार बना रहेगा। संसार में जो जन्मा है, उसका मरण सुनिश्चित है; जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग अनिवार्य है। जो संसार के चक्कर में है,

---

1. अ, स कलत्तह; क, ब, कलत्तहं; द पुत्तकलत्तइं।

उसका जन्म-मरण नियत है और जन्म-मरण के कारण आवागमन है। आवागमन में एक गति से दूसरी गति में जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार अनादिकाल से संसारी जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। लेकिन यह राग-द्वेष का चक्र तब तक चलता है, जब तक अज्ञान होने से यह जीव रागादि और विभाव भावों को करता है; यही मोह है।

विभिन्न गतियों में घूमना तब तक बन्द नहीं हो सकता, जब तक यह अपने घर में चुपचाप नहीं बैठता। जिसे बाहर चक्कर लगाने की आदत हो गई है, वह चुपचाप नहीं बैठ सकता। यही नहीं, दुःखों को सहन करता हुआ भी यह घूमता-फिरता है। घर-पुत्र पत्नी आदि से मोहित होने के कारण अज्ञानतावश यह भ्रमण कर रहा है। इसका मूल कारण यही है कि इसे अपने घर का पता नहीं है। अतः दुःख-कष्टों को सहन करता हुआ कभी भी उनसे विराम नहीं लेता। कहा भी है कि भेद-विज्ञान से रहित यह मूढ़ प्राणी शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध करता है। जगत् के धन्धे में पड़े हुए सभी अज्ञानी जनों की यही दशा है।

यह दोहा 'परमात्मप्रकाश' में द्वितीय अधिकार (2, 122) में मिलता है।

अण्णु[1] म जाणहि अप्पणउ घरु-परियणु जो[2] इटठु।
कम्मायत्तउ[3] कारिमउ आगमि जोइहिं सिट्ठु[4] ॥10॥

शब्दार्थ—अण्णु—अन्य, भिन्न; म—मत; जाणहि—जानो; अप्पणउ—अपना; घरु—परियणु—घर के परिजन; जो इटठु—जो इष्ट (सम्बन्धी) हैं; कम्मायत्तउ—कर्माधीन; कारिमउ—रचना, निर्माण; आगमि—आगम, मूल सिद्धान्त ग्रन्थ में; जोइहिं—योगियों के द्वारा; सिट्ठु—शिक्षा दी गई।

अर्थ—हे जीव! जिन घर-परिजनों को तुम अपना इष्ट समझ रहे हो, वे तुमसे अन्य (भिन्न) हैं, उनको अपना मत जानो। क्योंकि कर्म के वश से इनकी रचना हुई है। योगियों ने इसे (कर्म-रचना को) आगम की शिक्षा कहा है।

भावार्थ—दृश्यमान भौतिक जगत् में जो कुछ भी संयोग में है, वह सब आत्मा से अन्य, भिन्न पर-पदार्थ हैं। उन सभी वस्तुओं से प्राणियों का गहरा सम्बन्ध है, जिनके वातावरण में उनके साथ इसे रात-दिन रहना पड़ता है। लेकिन इसके चाहे जैसे रिश्ते हों, संयोग-सम्बन्ध हों; परन्तु सदा बने रहने वाले स्थायी सम्बन्ध नहीं हैं। जो-जो आज संयोग में हैं, नियम से उनका वियोग होना निश्चित है। कर्म का सिद्धान्त हमें यह बतलाता है कि आत्मा का और कर्म का अनादिसिद्ध सम्बन्ध है;

---

1. **अ** अप्पु; **क** अपु; **द, ब** अण्णु; **स** अप्पा; 2. **अ, क, ब, स** जो; **द** तणु; 3. **अ, ब, स** कम्माइत्तउ; **क, द** कम्मायत्तउ; 4. **अ, द, ब, स** सिट्ठु; **क** सिद्ध।

लेकिन कर्म शाश्वत, नित्य एवं ध्रुव नहीं हैं। आत्मा नित्य, ध्रुव एवं त्रैकालिक है। चैतन्य आत्मा सदा काल चेतन ही रहती है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में–

एगो मे सासदो अप्पा, णाण–दंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिरो भावो, सव्वे संजोगलक्खणा ॥

अर्थात्–ज्ञान-दर्शन जिसका लक्षण है, वह एक आत्मा ही मेरी शाश्वत तथा अकेली है। इसके अतिरिक्त सभी संकल्प-विकल्प मुझसे बाहरी भाव हैं तथा ये सब संयोग लक्षण वाले हैं। ज्ञान-दर्शन आत्मा के असाधारण गुण हैं जो त्रिकाल ज्ञान, दर्शन रूप ही रहते हैं। कहा भी है–

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।
या कबहूँ या जीव को, साथी सगा न कोय ॥

जब कोई तुम्हारा अपना नहीं है, तो घर-परिवार और शरीरादि का ममत्व करना इष्ट नहीं है। क्योंकि जो कर्मों के आधीन है, वह विनश्वर है और नाशवान होने से शुद्धात्म द्रव्य से भिन्न है। तुम त्रैकालिक ध्रुव तथा नित्य हो।

यह दोहा 'परमात्मप्रकाश' (2, 123) में द्वितीय अधिकार में मिलता है।

जं दुक्खु वि तं सुक्खु किउ जं सुहु[1] तं पि य दुक्खु।
पइं[2] जिय मोहहिं वसि गयउ[3] तेण ण पायउ[4] मोक्खु[5] ॥11॥

शब्दार्थ–जं–जो; दुक्खु–दुःख; वि–भी; तं–वह; सुक्खु–सुख; किउ–किया; जं सुहु–जो सुख; तं पि–वह भी; दुक्खु–दुःख, पइं–तूने (तेरे द्वारा); जिय–हे जीव!; मोहहिं–मोह के; वसि–वश में; गयउ–गया, होने पर; तेण–उससे; ण पायउ–प्राप्त नहीं किया, नहीं पाया; मोक्खु–मोक्ष।

अर्थ–हे जीव! मोह के वश होकर तुमने दुःख को सुख माना और सुख को दुःख मान लिया; इसलिए मोक्ष प्राप्त नहीं किया।

यथार्थ में दुःख-सुख मिथ्याकल्पना में हैं। ऐसा तो कभी नहीं होता कि कोई वस्तु दुःख देने वाली हो या सुख देने वाली हो। अलग-अलग परिस्थितियों में जो वस्तु पहले सुखदायक जान पड़ती थी, वही आज दुःखदायक महसूस होने लगती है। यदि वास्तव में वह सुखदायक है, तो सदा काल सभी के लिए सुखदायक होनी चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता है। समय, व्यक्ति और परिस्थिति बदलते ही जो वस्तु पहले सुखकारक समझ में आती थी, वह बाद में दुःख देने वाली जान पड़ती है।

---

1. **अ, क, द** सुहु; **ब, स** सुह; 2. **अ** पय; **क, द, ब, स** पइं; 3. **अ, क, स** गयइ; **द, ब** गयउ; 4. **अ, द, ब, स** पायउ; **क** पावइ; 5. **अ, ब, स** मोक्खु; **क, द** मुक्खु।

वास्तव में वस्तु तो जैसी है, वह हमेशा वेसी ही रहेगी। लेकिन हमारी मनःस्थिति में परिवर्तन होने से वह हमें भिन्न रूप में दिखलाई पड़ती है। नदी का किनारा, चाँदनी रात, ठण्डी बयार सब कुछ शीतल होने पर भी वियोग की अग्नि में तपने वाले के लिए बिछोह की परिस्थिति में चारों ओर ताप-संताप दायक ही नजर आती है। यह सब मोह का प्रभाव, मिथ्या मान्यता का पसारा है, जिसके अधीन होकर बौद्धिक व्यक्ति भी वस्तु-स्वरूप को भूल जाता है; यथार्थ स्वरूप का निर्णय नहीं कर पाता है। यथार्थ स्वरूप से मतलब है—वस्तु-स्वरूप से। वस्तुतः हम वस्तु को वस्तु-स्वरूप से न समझकर उसकी अवस्थाओं के माफिक समझते हैं। जो परिस्थिति या दशा हमारे अनुभव में आती है, हमें प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ती है, उसे ही हम सत्य-स्वरूप समझते हैं; लेकिन सत्य वह है जो वस्तु का स्वरूप है। मोह के कारण हमारी पर्याय-दृष्टि या बाहरी अवस्थाजन्य दृष्टि होने से जो कुछ हमारे बाहरी जीवन में परिवर्तन हो रहा है, उसे ही सत्य मानते हैं। परन्तु बाहर में जो कुछ भी घट रहा है, वह भीतर के कर्मोदय का प्रतिबिम्ब है—यह हमारी समझ से बाहर है। इसलिए हमारी सुख-दुःख की मान्यता सही नहीं है। वास्तव में सुख-दुःख हमारे माने हुए मन के माफिक हैं। इसलिए जो परिस्थिति बनती या बिगड़ती है, उससे अपने को जोड़कर हम सुखी या दुःखी होते हैं। लेकिन वस्तु-स्वरूप की दृष्टि से देखा जाए तो सुख-दुःख वास्तविक नहीं हैं; काल्पनिक हैं। लेकिन अज्ञानी प्राणी उनको वास्तविक समझता है।

मोक्खु ण पावहि जीव तुहुं धणु-परियणु चिंतंतु
तोउ[1] वि चिंतहि तउ वि[2] तउ पावहि सुक्खु[3] महंतु ॥12॥

शब्दार्थ—मोक्खु—मोक्ष (को); ण—नहीं; पावहि—पाता है; जीव; तुहुँ—तुम; धणु—परियणु—धन-परिजन; चिंतंतु—चिन्ता करते हुए; तोउ वि—तो भी; चिंतहि—चिन्ता करते हो; तउ वि—तब भी, तदापि; तउ—वह; पावहि—पाओ, प्राप्त करो; सुक्खु—सुख; महंतु—महान्।

अर्थ—हे जीव! तुम धन और परिवार के लोगों की चिन्ता करते रहते हो, इसलिए कर्म से छुटकारा नहीं पा सकते। अब तुम निज शुद्धात्मा का चिन्तन करो, जिससे महान् सुख को प्राप्त करोगे।

भावार्थ—घर-गृहस्थी में रहने वाला रात-दिन परिवार के भरण-पोषण, धन कमाने और रोगादि से बचाने, ठीक होने आदि की चिन्ता करता रहता है। चिन्ता

---

1. **अ, स** तोउ वि; **क, द, ब** तो इ वि; 2. **अ, क, स** वि; **द, ब** जि; 3. **अ, क, ब, स** सोक्खु; **द** सुक्खु।

करने वाले के क्लेशकारक या भयकारक खोटे ध्यान होते हैं। खोटे ध्यान से खोटे या अशुभ कर्म बँधते हैं, जिनका फल खोटी गति प्राप्त करता है। खोटे या बुरे भाव करने वाला नियम से दुर्गति को प्राप्त होता है। इसलिए जो चिन्ता करता है, वह कर्मों से बँधता है। चिन्ता हमेशा पर (जो आत्मा से भिन्न है) की की जाती है, किन्तु चिन्तन निज शुद्धात्मा का होता है। आत्म-चिन्तन कर्म के झड़ने में कारण है; किन्तु चिन्ता चाहे शरीर की हो या अन्य की, उससे कर्म बँधते हैं। अपनी आत्मा की चिन्ता का प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि आत्मा अजर, अमर, त्रिकाल, ध्रुव अपने स्वरूप को लिए हुए है। बाहर की चाहे जितनी परिस्थितियाँ तथा दशा बदल जाएँ; किन्तु आत्मा अपने स्वरूप को कभी नहीं बदलता है। स्वरूप से पहले भी ऐसा था, आज है और आगे भी इसी रूप में रहेगा। इसलिए सबकी चिन्ताएँ छोड़कर अपने स्वभाव का चिन्तन, स्मरण, ध्यान करना चाहिए। निज शुद्धात्मा के ध्यान, चिन्तन से ही सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसके सिवाय वास्तविक सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

यह दोहा 'परमात्मप्रकाश' (2, 124) में द्वितीय अधिकार में मिलता है। इसमें कहा गया है कि चिन्ता करता हुआ कोई भी प्राणी सच्चे सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि जहाँ चिन्ता है, वहाँ आकुलता है, आकुलता है सो तरह-तरह की इच्छाओं की उत्पत्ति है और इच्छा है सो दुःख है। एक इच्छा पूरी नहीं हो पाती है कि अनेक मुँह खोले खड़ी रहती हैं। इच्छाएँ अनन्त होने से उनकी पूर्ति होना कभी सम्भव नहीं है। आज तक चक्रवर्ती तथा महान् सम्राट् भी जब अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर सके, तो फिर हम जैसे उनको कैसे पूर्ण कर सकते हैं?

घरवासउ मा जाणि जिय दुक्कियवासउ एहु।
पासु कयंते मंडियउ अविचलु णीसंदेहु[1] ॥13॥

शब्दार्थ—घरवासउ—घर का वासा; मा जाणि—मत जानो; जिय—जीव; दुक्कियवासउ—दुष्कृत—वास (पापों में वसा हुआ); एहु—यह; पासु—पाश, जाल; कयंते (कृतान्त) यमराज के द्वारा; मंडियउ—मांडा गया, फैलाया गया; अविचलु—दृढ़; णीसंदेहु—निःसन्देह।

अर्थ—हे जीव! इसे गृहवास मत जानो। यह तो दुष्कृतवास (पापों में वसा हुआ) है। यह निःसन्देह है कि यम (आयुकर्म) के द्वारा फैलाया गया यह अविचल, निश्चल जाल है।

भावार्थ—मनुष्य जीवन में प्रत्येक समय में कोई-न-कोई इच्छा बनी रहती है।

---

1. **अ, स** णीसंदेहु; **क, द, ब** णवि संदेहु।

इच्छा अनेक प्रकार की पाई जाती हैं। एक इच्छा पाँच इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने की होती है जो देखी-जानी जाती है। उदाहरण के लिए, रूप-रंग, आकार-प्रकार देखने की, राग-रागिनी सुनने की और जो प्रकट नहीं है, उस को जानने की इच्छा होती है। उस इच्छा में कोई पीड़ा नहीं होती; लेकिन जब तक देखना-जानना नहीं होता, तब तक आकुलता बनी रहती है। इस इच्छा का नाम ही कषाय है। एक अन्य इच्छा कषाय के भावों के अनुसार काम करने की है। काम करने की इच्छा में तो कोई पीड़ा नहीं है, लेकिन जब तक इच्छा के अनुसार काम नहीं हो जाता, तब तक व्याकुलता बनी रहती है। एक इच्छा पाप के उदय से बाहर में अनिष्ट कारणों को उपस्थित होने पर उनको दूर करने की होती है। उदाहरण के लिए, भूख-प्यास, रोग, पीड़ा आदि। इस इच्छा के होने पर प्राणी पीड़ा ही मानता है। इन तीनों प्रकार की इच्छा होने पर सम्पूर्ण जगत् दुःख मानता है। इन तीनों तरह की इच्छाओं के अनेक प्रकार हैं। इन सबका साधन एक साथ नहीं बन सकता है। इसलिए एक को छोड़कर अन्य की पूर्ति करने में लगता है, फिर उसे भी छोड़कर अन्य को पूरा करने में लगता है। इस प्रकार सभी तरह की इच्छाएँ किसी की भी पूर्ण नहीं होतीं। इच्छा रूपी रोग मिटाने के लिए सभी प्राणी रात-दिन उपाय करते हैं, लेकिन दुःख कुछ ही घटता है; मिटता नहीं है। इस कारण वह दुःख ही कहा जाता है। एक वह भी इच्छा होती है जिसमें तीनों प्रकार की इच्छा घटने से सुख कहा जाता है। नरक में रहने वालों के तीव्र कषाय होने से इच्छा बहुत होती है। देवों के मन्द कषाय होने से इच्छा अल्प होती है। अल्प इच्छा वाले को सुखी कहते हैं। वास्तव में तो देवादिक के सुख मानना भ्रम ही है। क्योंकि उनके चौथी तरह की इच्छा की मुख्यता है, जिससे आकुलता होती रहती है। यथार्थ में जहाँ इच्छा है, वहीं आकुलता है और जो आकुलता है, वही दुःख है। इस तरह सभी संसारी जीव घर-गृहस्थी में अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित होते रहते हैं। इसलिए सच में घर-गृहस्थी में रहना दुःख का पाश है।

मूढा सयलु वि कारिमउ मं फुडु तुहुं तुस कंडि[1]।
सिवपहि[2] णिम्मलि करहि रइ[3] घरु-परियणु लहु छंडि ॥14॥

शब्दार्थ—मूढा—मूढ़ लोगों (सम्बोधन); सयलु वि—सभी (कुछ); कारिमउ—कार्मिक, कर्म—रचित; मं—मत; फुडु—स्फुट रूप से (प्रकट); तुहुं—तुम; तुस—धान्य का छिलका; कंडि—कूटो; सिवपहि—मोक्षमार्ग (शिव-पथ)

1. **अ, द, स** तुस कंडि; **क, ब** तुस खंडि; 2. **अ, क, ब, स** सिवपहि; **द** सिवपइ; 3. **अ** रई; **क, द, ब, स** रइ।

में; णिम्मलि—निर्मल में; करहि—करो; रइ—रति (प्रेम); घरु-परियणु—घर-परिजन; लहु—शीघ्र; छंडि—छोड़ो।

अर्थ—हे मूढ! (बाहर में) यह सब कर्म कृत है। अतः प्रकट रूप से तुम भूसे को मत कूटो। शीघ्र ही घर-परिजन को छोड़कर निर्मल मोक्षमार्ग में प्रीति करो।

भावार्थ—हे मूढ जीव! निज शुद्धात्मा के सिवाय अन्य सब विषय-कषाय आदिक विनाशशील हैं। यह पहले ही कह चुके हैं कि पाँचों इन्द्रियों के विषय असार हैं। इस मूर्ख ने अनादि काल से इनसे ही प्रीति जोड़ी है। इन विषयों के खातिर ही घरवालों से, कुटुम्बी जनों से मोह करता है। लेकिन ये सभी कृत्रिम तथा विनश्वर हैं। केवल एक शुद्ध आत्मा ही नित्य, अविनश्वर है। यद्यपि पाँचों इन्द्रियाँ भिन्न हैं, मन और राग-द्वेष, मोह आदि परिणाम अन्य हैं तथा चारों गतियों के दुःख भी अन्य हैं; क्योंकि ये सभी कर्म से उत्पन्न हुए हैं जो जीव से भिन्न हैं; तथापि यह जीव विषयाभिलाषा आदि को लेकर रात-दिन विकल्पों में उलझा हुआ रहता है। यह सच है कि कर्म के कारण जीव तरह-तरह के विकल्प करता है और उनसे ही पुण्य-पाप का संचय तथा बन्ध होता है। यही नहीं, संसार के सभी दुःख-सुख कर्म से उत्पन्न होते हैं। सही अर्थ में तो जीव जानने, देखने वाला है। इसलिए आत्मा का स्वरूप जानन...जानन है। यह आत्मा जिस रूप का चिन्तन करता है, और उससे जुड़ता है, उस रूप परिणमन करता रहता है। अतएव निज शुद्धात्मा को प्राप्त करने वालों को यही योग्य है कि रागादि विकल्पों की ओर से दृष्टि को हटाकर निज शुद्धात्मा का ध्यान करें। जिसका ध्यान किया जाता है, वह उसी रूप परिणमन करता है। जैसे गारुड़ी आदि मन्त्रों से गरुड़ रूप आसन होता है, उससे सर्प भी डर जाता है, वैसे ही उपयोग में जैसी परिणति होती है, वैसा ही भासित होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सुख-आराम प्राप्ति हेतु भावों के विकल्प-जाल से हटकर ज्ञानानन्द स्वभावी निज शुद्धात्या का चिन्तन, मनन, ध्यान करना चाहिए।

यह दोहा 'परमात्मप्रकाश' (अ. 2, दो. 128) में द्वितीय अधिकार में उपलब्ध होता है।

मोहु विलिज्जइ[1] मणु मरइ तुट्टइ सासु-णिसासु।
केवलणाणु वि परिणवइ अंबरि जाह णिवासु ॥15॥

शब्दार्थ—मोहु—मोह; विलिज्जइ—विलीन हो जाता है; मणु—मन; मरइ—मर जाता है; तुट्टइ—टूट जाता है; सासु-णिसासु—श्वासोच्छ्वास;

---

1. अ विलज्जइ; क, द, ब, स विलिज्जइ।

केवलणाणु—केवलज्ञान; वि—भी; परिणवइ—परिणमन करता है; अंबरि—आकाश (निर्विकल्प), ध्रुव आत्म—स्वभाव; जाह—जिसका; णिंवासु—निवास।

अर्थ—आकाश (ध्रुव स्वभाव) में जिसका वास हो जाता है, उसका मोह नष्ट हो जाता है, मन मर जाता है, श्वासोच्छ्वास छूट जाता है, टूट जाता है; केवल केवलज्ञान रूप परिणमन करता है।

भावार्थ—यहाँ पर केवलज्ञान की प्राप्ति कैसे होती है, यह बतलाते हैं। यद्यपि विकल्प सहित अवस्था में शुरुआत करने वालों के चित्त की स्थिरता के लिए और विषय-कषाय रूप खोटे ध्यान को रोकने के लिए जिनप्रतिमा, मन्त्र आदि ध्याने योग्य हैं, किन्तु निश्चय ध्यान के समय निज शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य है। क्योंकि शुभ-अशुभ विकल्प तो संसार के कारण हैं। मुनि योगीन्दुदेव भी यही कहते हैं कि जो विकल्परहित ब्रह्मपद को ध्याते हैं, उन योगियों की मैं बार-बार मस्तक नवाकर पूजा करता हूँ। सच्चा योगी ही अनादिकाल के शुद्ध चैतन्य रूप निश्चय प्राणों का घात करने वाले मिथ्यात्व-रागादि रूप विकल्प-समूह को अपने स्वरूप-नगर से निकाल देता है। जब तक वह उनको उजाड़ता नहीं है, तब तक विकल्प-जाल में उलझा रहता है। (परमात्मप्रकाश, अ. 2, दो. 160) यथार्थ में निर्विकल्प समाधि की साधना करने वाला सच्चा योगी है।

यद्यपि 'अम्बर' शब्द का **अर्थ** आकाश है, लेकिन यहाँ पर वह प्रतीक रूप में निर्विकल्प समाधि का वाचक है। यथा—

णास-विणिग्गउ सासडा अंबरि जेत्थु विलाइ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहिं मणु अत्थवणहं जाइ ॥ प. प्र., 2, 162

अर्थात्—यदि नाक से निकलने वाली साँस निर्विकल्प समाधि में लय को प्राप्त हो जाए, तो उसी समय झट से मोह टूट जाता है और मन स्थिर हो जाता है।

वास्तव में निज स्वभाव में मन की चंचलता नहीं रहती। क्योंकि बाहरी ज्ञान से शून्य निर्विकल्प समाधि में विकल्पों का आधारभूत मन अस्त हो जाता है। इसके सिवाय केवलज्ञान की उपलब्धि के लिए अन्य कोई साधना रूप उपाय नहीं है। बाहर में आसन लगाना, माला फेरना, जप करना आदि बाहरी साधन हैं जो मन की चंचलता को रोकने के साधन मात्र हैं। यथार्थ में आत्म-स्वभाव में स्थिर होने पर ही एकाग्रता तथा धर्मध्यान की वास्तविक स्थिति (उत्कृष्ट ध्यान) प्राप्त होती है।

सप्पें[1] मुक्की[2] कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ[3]।
भोयहं[4] भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु[5] करेइ[6] ॥16॥

शब्दार्थ—सप्पें—साँप के द्वारा; मुक्की—छोड़ी गई; कंचुलिय—केंचुली; जं—जो; विसु—विष, जहर; तं—उसे; ण—नहीं; मुएह—छोड़ता है; भोयहं—भोग (विषयभोग) का; भाउ—भाव; ण परिहरइ—नहीं छोड़ता है; लिंगग्गहणु करेइ—लिंग (पहचान) ग्रहण करता है अर्थात् भेष बदलता है।

अर्थ—जिस प्रकार साँप केंचुली को छोड़ देता है, लेकिन विष को नहीं छोड़ता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव द्रव्यलिंग धारण कर बाहर में त्याग करता है, किन्तु भीतर में से विषय-भोगों की भावना को नहीं छोड़ता।

भावार्थ—बाहर से भेष बदलना या तरह-तरह के परिवर्तन कर त्याग का नियम लेना एक अलग बात है और सहज स्वाभाविक रूप से उसका रस क्षीण हो जाना या उस वृत्ति की रुचि समाप्त हो जाना वास्तविक त्याग है। यदि हम नियम ले लेते हैं और उसके अनुसार बाह्य आचार का पालन भी करते हैं; लेकिन जिसका त्याग किया है, उसके प्रति यदि राग भाव, आसक्ति या लगाव बना रहता है, तो वास्तव में वह त्याग नहीं है। त्याग पहले भीतर से होता है और फिर बाहर का होता है। मुनि रामसिंह ने बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त से साँप का उल्लेख किया है कि वास्तव में सर्प जहरीला होता है, इसलिए केंचुली को उतार देने पर भी उसका विष कम नहीं होता है। हम आजकल के जीवन में भी यही देखते हैं कि धार्मिक कर्म-क्रियाओं को करते-करते लोगों के सत्तर-अस्सी वर्ष निकल जाते हैं, लेकिन क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अणु मात्र भी नहीं निकलते हैं, कम नहीं होते हैं। यथार्थ में केवल बाहर का त्याग त्याग नहीं है और न केवल भीतर का राग-द्वेष का त्याग कहने से त्याग होता है; परन्तु भीतर से राग छूटने पर ही त्याग सच्चा त्याग कहा जाता है। जैनधर्म के अनुसार त्याग भीतर से होता है—ममत्व (मेरा मन) भाव छोड़ने पर होता है। ममत्व भाव छूटे बिना व्यवहार से भी वास्तविक त्याग नहीं होता।

---

1. अ सप्पें; क, द, ब, स सप्पिं; 2. अ मुंकिय; क, द, ब, स मुक्की; 3. अ, क मुएइ; द, ब मुवेइ; स मुवइ; 4. अ भोयह; क, ब भोयहिं, द, स भोयहं; 5. अ, द, स लिंगग्गहणु; क लिंगागहणु, ब लिंगग्गहणं; 6. अ, द, ब धरेइ; क, स करेइ।

जो मुणि छंडिवि विसयसुह पुणु अहिलासु[1] करेइ।
लुंचणु सोसणु सो सहइ पुणु संसारु भमेइ ॥17॥

शब्दार्थ—जो मुणि—जो मुनि; छंडिवि—छोड़कर; विसयसुह—विषय-सुख; पुणु—फिर; अहिलासु—अभिलाषा; करेइ—करता है; लुंचणु—(केश) लुंचन; सोसणु—(शरीर) शोषण; सो सहइ—वह सहता है; पुणु—फिर; संसारु—संसार (में); भमेइ—घूमता है।

अर्थ—जो मुनि विषय-सुखों को छोड़कर फिर उनको प्राप्त करने की अभिलाषा करता है, वह केशलोंचन तथा शरीर-शोषण के क्लेश सहता हुआ पुनः संसार में परिभ्रमण करता है।

भावार्थ—घर-द्वार छोड़ना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से मुँह मोड़ना है। इसलिए साधु साधुता को वास्तव में तभी ग्रहण करते हैं, जब पाँचों इन्द्रियों के विषयों को त्याग देते हैं। लोग इन्द्रियों के विषयों में सुख मानते, जानते और अनुभव करते हैं; लेकिन उनमें वास्तविक सुख नहीं है। वास्तविक सुख अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द है। इन मन और इन्द्रियों की सहायता से मिलने वाला सुख तृष्णा का जनक, क्षणिक तथा विपत्तियों में डालने वाला है। इसलिए ज्ञानी-वैरागी विषय-सुखों को तिलांजलि देकर साधु-जीवन को स्वीकार करते हैं। लेकिन एक बार साधु-सन्त हो जाने पर जिसने विषय-सुखों को छोड़ दिया है, वह पुनः उनको अपनाने की अभिलाषा करता है, तो समझ लीजिए कि उसका संसार बरकरार है।

वास्तव में दुनिया का नाम संसार नहीं है, किन्तु राग-द्वेष में चक्कर खाने का नाम संसार है। संसार को असार समझकर उसका त्याग करने वाला यदि फिर से उसे ग्रहण करता है, तो उसके त्याग करने का लाभ क्या हुआ? संसार तो ज्यों का त्यों कायम रहा। शरीर को सुखाया, क्लेश सहा और इतना समय साधना-आराधना में लगाया, वह सब सन्तापदायक ही रहा।

लोक में यह कहीं नहीं देखा जाता है कि एक बार या बार-बार खा-पीकर पहले कोई वमन कर उसे बाहर निकाल दे, फिर पुनः उसी का भक्षण करने लगे। जिस प्रकार से यह निन्दनीय कार्य है, उसी प्रकार पहले संन्यास लेना, फिर छोड़ने की इच्छा करना निन्दा के योग्य ही है।

---

1. **अ** अहिलास; **क, द, ब, स** अहिलासु।

विसया-सुह[1] दुइ दिवहडा[2] पुणु दुक्खहं परिवाडि।
भुल्लउ जीव म बाहि तुहं अप्पाखंधि[3] कुहाडि ॥18॥

शब्दार्थ—विसया- सुह—विषयों के सुख; दुइ—दो; दिवहडा—दिन (के); पुणु—फिर; दुक्खहं—दुःख की; परिवाडि—परिपाटी (है); भुल्लउ—भोले; जीव; म बाहि—मत मारो; तुहुं—तुम; अप्पा- खंधि—अपने कन्धे पर; कुहाडि—कुल्हाड़ी।

***अर्थ**—विषयों के सुख तो दो दिन के हैं। फिर, दुक्खों की परिपाटी चलेगी।* इसलिए हे भोले जीव! तुम अपने कन्धे पर कुल्हाड़ी मत मारो।

भावार्थ—पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सुख भी विविध प्रकार के हैं। भले ही उनमें विविधता हो, लेकिन वे टिकते नहीं हैं; बदलते रहते हैं। 'दो दिन' कहने का अर्थ गिनती के दो दिन नहीं हैं, किन्तु अल्प समय के हैं। वास्तव में इन्द्रियों के विषय-सुख क्षणभंगुर हैं। विषयों के सुख-भोग प्राणियों को बार-बार दुर्गति में दुःख देने वाले हैं। इनका सेवन करना अपना विनाश करने के समान है। जैसे अपने कन्धे पर कुल्हाड़ी मारने से अपना मरण हो सकता है, वैसे ही विषयों के सुख नरक में डुबोने वाले हैं।

उक्त दोहा 'परमात्मप्रकाश' में द्वितीय अधिकार में दोहा संख्यक 138 है। उसमें कहा गया है कि ये विषय क्षणभंगुर हैं, बारम्बार दुर्गति के दुःख के देने वाले हैं, इसलिए विषयों का सेवन करना अपने कन्धे पर कुल्हाड़ी का मारना है अर्थात् नरक में अपने को डुबोना है—ऐसा व्याख्यान जानकर विषय-सुखों को छोड़, वीतराग परमात्म-सुख में ठहरकर निरन्तर शुद्धोपयोग की भावना करनी चाहिए। शुद्धोपयोगियों के ही पाँचों इन्द्रियों और मन के रोकने रूप संयम व तप होते हैं। शुद्धोपयोग विकल्प की निवृत्तिरूप होता है और जिसके होने पर कर्म का क्षय होता है। सभी प्रकार के शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित जीव का शुद्ध भाव ही सच्चे सुख व मोक्ष का वास्तविक मार्ग है।

---

1. अ, द, ब विसयसुहा; क, स विसइ सुहइं; 2. अ दिउडहा; क, द, ब, स दिवहडा; 3. अ अप्पउ खंधि; क अप्पाक्खंधि; ब अप्पाक्खंध; द,स अप्पाखंधि।

उव्वडि[1] चोप्पडि चिट्ठ करि देहि[2] सुमिट्ठाहारु।
सयल वि देह-णिरत्थ गय जिम[3] दुज्जण-उवयारु ॥19॥

शब्दार्थ—उव्वडि—उबटन; चोप्पडि—(तेल) चुपड़ना; चिट्ठ करि—सजा कर, शृंगार कर; देहि—दो, देते रहो; सुमिट्ठाहारु—बहुत मधुर भोजन; सयल वि—सभी; देह-णिरत्थ शरीर (के लिए) निरर्थक; गय—गया (चला गया), जिम—जिस प्रकार; दुज्जण-उवयारु—दुर्जन का उपकार।

अर्थ—उबटन, तेल-मर्दन कर एवं मीठा भोजन खिलाकर शरीर को चाहे जितना सजाया जाए, लेकिन दुर्जन के प्रति किए गए सभी उपकारों की भाँति शरीर के लिए किए गए समस्त कार्य निरर्थक हैं।

भावार्थ—शरीर अपवित्र तथा अनित्य है। इसको चिकना तथा सुन्दर बनाए रखने के लिए चाहे जितनी तेल की मालिश करो, गोरा दिखने के लिए लेप लगाओ, उबटन करो एवं देह की पुष्टि के लिए बढ़िया से बढ़िया भोजन खिलाओ, लेकिन यह तुम्हारा उपकार मानने वाला नहीं है; एक-न-एक दिन तुमसे बिछुड़ जाएगा।

यह दोहा 'परमात्मप्रकाश' में किंचित् परिवर्तन के साथ द्वितीय अधिकार में 148 संख्यक मिलता है। इसमें टीका में कहा गया है कि जैसे दुर्जन के लिए किए गए सभी उपकार व्यर्थ जाते हैं, इसलिए उपकार करने से कोई लाभ नहीं है, उसी तरह शरीर को सजाने, सँवारने आदि से पारमार्थिक लाभ नहीं है। अतः इसको परिपुष्ट करने के बजाय उचित मात्रा में भोजन-पानादि देकर स्थिर कर मोक्ष की प्राप्ति के लिए पवित्र शुद्धात्मस्वरूप की आराधना करनी चाहिए। वास्तव में शरीर भोग के लिए नहीं, योग-साधना के लिए है। इस निर्गुण शरीर से केवल ज्ञानादि गुणों का संयम, तप आदि का साधन होता है, इसलिए इनसे सारभूत गुणों की सिद्धि करनी चाहिए।

अथिरेण थिरा मइलेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारा।
काएण जा विढप्पइ सा किरिया किण्ण[1] कायव्वा ॥20॥

शब्दार्थ—अथिरेण—अस्थिर, चंचलता द्वारा; थिरा—स्थिर; मइलेण—मलिन द्वारा; णिम्मला—निर्मल; णिग्गुणेण—निर्गुण के द्वारा;

---

1. **अ, ब** उव्वडि; **क, द** उव्वलि; **स** उव्वट्टि—'परमात्मप्रकाश' में 'उव्वलि' पाठ है। 2. **अ, क, स** देहि; **द, ब** देह; 3. **अ, क, स** जह; **द** जिह; **ब** जिम;

1. **अ** किंणि; **ब** किण; **क, द, स** किण्ण।

गुणसारा—गुणसार; काएण—काया (शरीर के) द्वारा; जा—जो; विढप्पइ—अर्जित की जाती, कमाई जाती है; सा किरिया—वह क्रिया; किण्ण—क्यों नहीं; कायव्वा—करनी चाहिए।

अर्थ—चंचल, मैले, निर्गुण शरीर से यदि स्थिर, निर्मल और गुणसार क्रिया पैदा की जा सकती है, तो क्यों नहीं कमानी चाहिए?

भावार्थ—जो शरीर मल-मूत्रादि से निरन्तर भरा रहता है, वह पवित्र कैसे हो सकता है? इस शरीर में नौ द्वार हैं जिनसे मैला झरता रहता है। इस घिनावने शरीर के स्वरूप का पता न होने से उसके रूप-रंग आदि पर मोहित होकर उसके साथ रमण करता है। यद्यपि शरीर के भीतर आत्मा विराजमान है जो भावों के द्वारा तरह-तरह के नाटक करता है, किन्तु शरीर के भीतर होने पर भी वह उससे जुदा और परम पवित्र है। इसलिए साधु-सन्तों व योगियों को शरीर से प्रीति छुड़ाने के लिए ऐसा उपदेश दिया जाता है। इससे यह भी नहीं समझना चाहिए कि सद्गृहस्थों और श्रावकों के लिए यह व्याख्यान नहीं है। वास्तव में साधुओं के लिए मुख्य रूप से है और गृहस्थों के लिए भूमिका के अनुसार गौण है। लेकिन तथ्य तो यही है कि—

ऊपर अमल मल भर्यो भीतर, कौन विध घट शुचि कहे।
बहु देह मैली सुगुन थैली, शौच गुन साधु लहे ॥

—पं. द्यानतराय

मुनि योगीन्दुदेव तो यहाँ तक कहते हैं कि तीन लोक में जितने दुःख हैं, उनसे यह देह बना हुआ है; इसलिए यह दुःख रूप है। टीकाकार यह कहते हैं कि तीन लोक में जितने पाप हैं, उन पापों से यह शरीर निर्मित है, इसलिए यह पाप रूप ही है।

उम्मूलिवि ते मूलगुण उत्तरगुणहिं[1] विलग्ग।
वाण्णर जेम पलंबचुय बहुय पडेविणु भग्ग ॥21॥

शब्दार्थ—उम्मूलिवि—उन्मूलन कर; ते—जो; मूलगुण उत्तरगुणहिं—मूलगुणों और उत्तरगुणों (से); विलग्ग—अलग; वाण्णर—वानर, बन्दर; जेम—जिस प्रकार; पलंबचुय—डाल (से) च्युत; बहुय—बहुत; पडेविणु—पड़कर, गिरकर; भग्ग—भग्न, घायल।

अर्थ—जो साधु मूलगुणों को खण्डित कर उत्तरगुणों से अलग हो जाता है, वह डाल से चूके हुए बन्दर के समान बहुत नीचे गिरकर भग्न/घायल हो जाता है।

---

1. अ, क, द उत्तरगुणहिं; ब, स उत्तरगुणह।

भावार्थ—*साधु के मुख्य गुणों को मूलगुण कहते हैं। 'मूल' का अर्थ है—जड़। जैसे जड़ के बिना पेड़-पौधा नहीं ठहर सकता, वैसे ही मूलगुण की क्रियाओं के बिना* मुनि की स्थिति नहीं हो सकती। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—पाँच महाव्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, पाँच इन्द्रियों का निरोध करना, केश-लोंच करना, छह आवश्यकों का पालन करना, वस्त्र का त्याग करना (नग्न रहना), स्नान न करना, भूमि पर सोना, दाँत नहीं धोना, खड़े होकर भोजन लेना, एक ही बार पाणिपात्र में आहार लेना। इनके पालन में प्रमादी होने पर निर्विकल्प सामायिक संयम के विकल्पों का अभ्यास नहीं होने से साधु सामायिक चारित्र से च्युत हो जाता है। (प्रवचनसार, गा. 208, 209) इनमें से एक भी मूलगुण कम होने पर साधुपना नहीं रहता। अतः वह डाल से चूके हुए बन्दर की भाँति अपने महान् साधुपद से नीचे गिर जाता है। यही कारण है कि आगम में यह व्यवस्था तथा मर्यादा है कि जो श्रमण नित्य ज्ञान-दर्शन की मर्यादा में रहकर मूलगुणों का पालन करता है, वही साधुता में पूर्ण होता है। (प्रवचनसार, गा. 214)

आचार्य पद्मनन्दि कहते हैं कि मूलगुणों को छोड़कर केवल शेष उत्तरगुणों का पालन करने वालों का प्रयत्न मूलघातक होगा। क्योंकि उत्तर गुणों में दृढ़ता मूलगुणों के निमित्त से ही प्राप्त होती है। इसलिए यह प्रयत्न वैसा ही होगा, जिस प्रकार कि युद्ध में कोई मूर्ख योद्धा अपने सिर को छेदने वाले शत्रु के प्रहार की परवाह न कर केवल अँगुली के अगले भाग को खण्डित करने वाले वार से ही अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता हो। (प. पंचविंशति, 1, 40) अतः साधु में किसी भी समय न एक मूलगुण कम होता है और न अधिक। आचार्य कुन्दकुन्द 'मोक्षपाहुड' (गा. 98) में कहते हैं कि मूलगुण का छेद करने वाला साधु सच्चा सुख प्राप्त नहीं कर सकता।

वरु विसु विसहरु वरु[1] जलणु वरु सेविउ वणवासु।
णउ जिणधम्परम्मुहउ मिच्छत्तिय[2] सहु वासु ॥22॥

शब्दार्थ—वरु—भले ही; विसु—विष; विसहरु—विषधर (साँप); जलणु—अग्नि; वरु—भले ही; सेविउ—सेवन करो, सेवो; वणवास—वनवास; णउ—नहीं (हो); जिणधम्मपरम्मुहउ—जैनधर्म से पराङ्.मुख; मिच्छत्तिय—मिथ्यात्वी (का); सहु—संग, साथ; वासु—निवास।

अर्थ—कदाचित् विष, विषधर (साँप), अग्नि तथा वनवास का सेवन भला है, किन्तु जैनधर्म से पराङ्मुख मिथ्यादृष्टियों का संग भला नहीं है।

---

1. **अ** वरि; **क** जालजलणु; **द, स** वरु; **ब** वर; 2. **अ, स** मिच्छत्तिय; **क, द** मित्थतिय; **ब** मिच्छते।

भावार्थ—जगत् के भौतिक ऐश्वर्य को ही सब कुछ मानकर जो अपना सम्पूर्ण पुरुषार्थ धन कमाने या प्राकृतिक सम्पदाओं को पाने में लगा देते हैं, किन्तु आत्म-भान तथा आत्म-ज्ञान से शून्य होते हैं, उनको मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि का मुख्य लक्षण यह है कि उसकी आत्मा-परमात्मा में ज्ञान-ध्यान में रुचि नहीं होती। उसे विषय-भोग ही सुहाते हैं। इसलिए वह कदाचित् जैनकुल में भी उत्पन्न हो, किन्तु वह जैनधर्म से विमुख ही रहता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि परद्रव्य में लीन होने वाला साधु भी मिथ्यादृष्टि है जो मिथ्यात्व रूप से परिणमन करता हुआ दुष्ट अष्ट कर्मों का बन्ध करता है। (मोक्षपाहुड, गाथा 15) मिथ्यादृष्टि अपने पक्ष की हठ पकड़ लेता है और अज्ञानता के कारण सच्ची बात को स्वीकार नहीं करता। जिनागम में मिथ्यादृष्टि के तत्त्व-विचार, नय-प्रमाण आदि सभी मिथ्या कहे गए हैं। आचार्य शिवकोटि कहते हैं कि संसार का मूल कारण मिथ्यात्व ही है। कर्म के बन्ध का वह प्रधान कारण है। कहा है—"संसारमूलहेदुं मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि।" (भगवती आराधना, 6, 724)

टीका—संसारमूलहेदुं संसारकारणकर्मबन्धप्रधानकारणम्।

यही नहीं, अग्नि, विष और काला साँप आदि हानिकारक होने पर भी एक ही बार मानव-जीवन के घातक हैं, लेकिन मिथ्यात्व अनेक जन्म-जन्मान्तरों का बारम्बार विघातक है। विष से बुझे हुए बाण से शरीर का एक ही अंग नहीं, उसका जहर सारे शरीर में फैलकर प्राणी को प्राणरहित कर देता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व-शल्य के विष से आहत होकर प्राणी तीव्र वेदनाओं से छटपटाता है। (वहीं, गा. 730-731)

सो णत्थि इह पएसो चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि।
जिणवयणं अलहंतो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो ॥23॥

शब्दार्थ—सो—वह; णत्थि—नहीं है; इह—यह; पएसो—प्रदेश; चउरासी लक्खजोणि—चौरासी लाख योनि (यों); मज्झम्मि—मध्य में; जिणवयणं—जिनवचन को; अलहंतो—प्राप्त नही करते हुए; जत्थ—जहाँ; ण—नहीं; दुरुदुल्लिओ—भ्रमण किया; जीवो—जीव ने।

अर्थ—चौरासी लाख योनियों में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ जिनवचन (जिनवाणी) को प्राप्त किए बिना यह जीव भ्रमण नहीं कर चुका हो।

भावार्थ—इस जगत् में कोई भी ऐसा स्थान नहीं छूटा है जहाँ पर इस जीव ने निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय का कथन करने वाले जिनवचनों को प्राप्त न किया हो।

---

1. **अ** दुलदुल्लिउ; **द, ब** दुरदुल्लिओ; **क, स** दुरुदुल्लिओ।

लेकिन जिनवर के वचनों की प्रतीति न करने से सब स्थानों पर और सभी योनियों में भ्रमण कर चुका है। जीव किसी भी योनि में एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहता, बाहर ही बाहर घूमता रहता है। आचार्य कुन्दकुन्द के 'भावपाहुड' (गा. 47) में भी यह गाथा इस प्रकार है–

सो णत्थि तप्पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि।
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥

भावार्थ यह है कि द्रव्यलिंग धारण कर निर्ग्रन्थ मुनि भी बनकर शुद्धोपयोग की साधना के बिना यह जीव चौरासी लाख योनियों में भटकता रहा। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जिसमें मरण नहीं हुआ हो। चौरासी लाख योनियाँ इस प्रकार हैं–पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु, नित्यनिगोद और इतरनिगोद ये सभी सात-सात लाख हैं, वनस्पति दस लाख हैं, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय दो-दो लाख हैं, पंचेन्द्रिय तिर्यंच चार लाख, देव चार लाख, नारकी चार लाख, मनुष्य चौदह लाख; कुल मिलाकर चौरासी लाख हैं। कहने का अभिप्राय केवल इतना है कि भावशुद्धि के बिना सिद्धि नहीं हो सकती है। यथार्थ में धर्म का पालन शुद्ध भाव से ही होता है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध मध्यकालीन कवि कबीरदास ने चौरासी लाख योनियों का उल्लेख किया है। उनके ही शब्दों में–

लाख चौरासीहि जानि भ्रमि आयो। –कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट, पद 173

अप्पा बुज्झिउ[1] णिच्चु जइ केवलणाणसहाउ।
ता परि[2] किज्जइ काइं[3] वढ तणु उप्परि अणुराउ ॥24॥

शब्दार्थ–अप्पा–आत्मा (को); बुज्झिउ–जाना, समझा; णिच्चु–नित्य; जइ–यदि; केवलणाणसहाउ–केवलज्ञानस्वभाव; ता–तो; परि–ऊपर; किज्जइ–किया जाता है; काइं–क्यों; वढ–मूर्ख; तणु (तनु)–शरीर; उप्परि–ऊपर; अणुराउ–अनुराग, प्रेम।

अर्थ–यदि अपने आप को नित्य तथा केवलज्ञान स्वभावी जान लिया, तो हे मूढ! इस शरीर पर ममता (अनुराग) क्यों करता है?

भावार्थ–यह सच है कि ज्ञानी अपने को शुद्ध, बुद्ध, एक, नित्य स्वभावी समझता है। मुनि योगीन्दुदेव कहते हैं कि जो महान् निर्मल केवलज्ञानादि अनन्त गुण

---

1. **अ, क** बुज्झहि; **ब** बुज्झइ; **द, स** बुज्झिउ; 2. **अ, ब, स** परि; **क, द** पर; 3. **अ, क, ब, स** काइं; **द** एत्थु।

रूप अपने आपको छोड़कर जड़ पदार्थ एवं परद्रव्य का ध्यान लगाते हैं, वे अज्ञानी हैं। वास्तव में सच्चे ज्ञानी की यही पहचान है कि वह शरीर को भी अपने से भिन्न समझता है, इसलिए वह उससे भी ममता नहीं करता। क्योंकि पर में अपनेपन की बुद्धि होना ही अज्ञानता की सूचक है। यद्यपि दोहे में 'ममत्व' को 'अनुराग' शब्द से संकेतित किया गया है, लेकिन यह दर्शनमोह का वाचक है। पर को आप रूप समझना दर्शनमोह का ही लक्षण है। अतः जो ज्ञानी हैं, वे शरीर आदि में ममत्व (मेरापन) नहीं करते और जो ममता करते हैं, वे अज्ञानी हैं। आत्मा के स्वाभाविक परिणाम को 'भाव' कहते हैं। अपने भाव या स्वभाव का भान होना ही अपने स्वभाव को जानना है। स्वभाव में अहंबुद्धि, अहंकार, ममकार नहीं होता। क्योंकि वह सहज, स्वाभाविक, नित्य है। आत्मा में राग-द्वेष नहीं होते। परन्तु अज्ञानी जीव को प्रत्येक समय में राग या द्वेष ही अनुभवगोचर होते हैं। इस कारण वह शरीरादि से इतना तन्मय होकर रहता है कि उनकी विभिन्न अवस्थाओं को आप रूप जानता, मानता है; क्योंकि उसकी बुद्धि उन सबमें मोहित है।

जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ कम्महं हेउ करंतु।
सो मुणि पावइ सोक्खु[1] णवि सयलइं सत्थ मुणंतु ॥25॥

शब्दार्थ—जसु—जिसके; मणि—मन में; णाणु—ज्ञान; ण—नहीं; विप्फुरइ—प्रकाशित होता, स्फुरायमान होता; कम्महं—कर्म के; हेउ—हेतु; करंतु—करता हुआ; सो—वह; मुणि—मुनि; पावइ—प्राप्त करता है; सोक्खु—सुख; णवि—नहीं; सयलइं—सम्पूर्ण; सत्थु—शास्त्र; मुणंतु—जानता हुआ।

अर्थ—जिस मुनि (साधु, सन्त) के मन में ज्ञान (आत्मज्ञान, सम्यग्ज्ञान) प्रकाशित नहीं होता, वह सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता होने पर भी जिन कारणों से कर्म बँधते हैं, उनको करता हुआ सुख प्राप्त नहीं करता।

भावार्थ—जैनधर्म का सार यह है कि अपने स्वभाव में रहना ही वास्तविक सुख है। लेकिन जिसको अपने स्वभाव की पहचान नहीं है, वह स्वभाव में कैसे रह सकता है? और जब तक यह जीव राग-द्वेष, मोह आदि के संग रहता है, तब तक भले ही सभी शास्त्रों का जानकार हो; उसके संसार (राग-द्वेष में चलने की प्रक्रिया) की क्रिया (कर्म) का बन्ध निरन्तर होता रहता है। और जब तक कर्मों का सम्बन्ध बना हुआ है, तब तक कर्मों के आने, बँधने और लौकिक सुख-दुःख रूप फल देने का सिलसिला चालू रहता है। इसलिए यह निश्चित है कि शास्त्रों के पारगामी विद्वान्

---

1. अ, ब, स सोक्खु; क, द सुक्खु।

हो जाने पर भी कोई अज्ञानी रह सकता है; क्योंकि शास्त्रों के जानने या पढ़ लेने से नहीं, वरन् शास्त्रों में वर्णित निज शुद्धात्मा के सच्चे बोध से अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होती है। उस बोध का नाम ज्ञान रूप ज्ञान का अनुभव करना है। उसे स्वसंवेदन भी कहते हैं। स्वानुभव की यह प्रक्रिया स्वभाव के सन्मुख होने पर प्रारम्भ होती है। सद्गृहस्थ भी स्वानुभूति कर सकता है। साधु-सन्तों व मुनियों के यह विशेष रूप से होती है। इसके बिना कोई भी प्राणी सच्चे सुख या अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द को उपलब्ध नहीं हो सकता। आत्मज्ञान के बिना अध्यात्म प्रकट नहीं होता। यही नहीं, इसके बिना परमात्मतत्त्व की अनुभूति प्रसिद्ध नहीं होती। अतः सम्पूर्ण जिनागम में मोह को दूर करने का एक मात्र उपाय तत्त्वज्ञान कहा गया है।

बोहिविवज्जिउ जीव तुहुं[1] विवरिउ तच्चु मुणेहि[2]।
कम्मविणिम्मिय भावडा[3] ते अप्पाण[4] भणेहि[5] ॥26॥

शब्दार्थ—बोहि—बोधि (तत्त्वज्ञान); विवज्जिउ—विवर्जित (रहित); जीव; तुहं—तुम; विवरिउ—विपरीत; तच्चु—तत्त्व; मुणेहि—मानते हो; कम्मविणिम्मिय—कर्म—विनिर्मित; भावडा—भाव (हैं); ते—उन (को); अप्पाण—अपने; भणेहि—कहते हो।

अर्थ—हे जीव! तुम तत्त्वज्ञान से रहित होने के कारण तत्त्व (वस्तु-स्वरूप) को विपरीत मानते हो। जो भाव कर्मों से बने हुए हैं, उनको तुम अपना कहते हो।

भावार्थ—जिस प्राणी को तत्त्व का ज्ञान नहीं है, वह चेतन को अचेतन और अचेतन को चेतन, पराये को अपना और आप को परांया समझता है। इसलिए अज्ञानी देह को नष्ट होते देखकर जीव का मरण या सर्वथा नाश मानते हैं और शरीर को पुष्ट होते देखकर अपने को शक्तिवान मानता है। वास्तव में जीव का स्वरूप वचन के अगोचर तथा अनुभवगम्य है। जो जानता है, अनुभव करता है, वह उसे शब्दों से पूर्णरूप से नहीं कह सकता।

प्रत्येक संसारी जीव अनादि काल से राग, द्वेष, मोह आदि भाव-कर्मों को जो सूक्ष्म शरीर है और प्रत्येक दशा में जीव के साथ रहता है, उसे यह अपना रूप मानता है। क्योंकि हर अवस्था में यह राग-द्वेष रूप अनुभव करता है। प्रत्यक्ष रूप से जो अनुभव में आता है और जिसके साथ सदा काल रहता है, उसे ही भ्रम से अपना मानता है। वस्तु-स्वरूप की दृष्टि से देखा जाए, तो राग-द्वेष जीव के स्वभाव में नहीं हैं। यदि इनको जीव का स्वभाव मान लिया जाए, तो फिर भगवान् को भी रागी-द्वेषी

1. **अ** तुहु; **ब, स** तुहं; **क, द** तुहुं; 2. **अ, ब** मुणेइ; **क, द, स** मुणेहि; 3. **अ** भावडइं; **क, द, ब, स** भावडा; 4. **अ, द, ब** अप्पाण; **क, स** अप्पणा; 5. **अ, स** भणेहिं; **ब** भणेइ; **क, द** भणेहि।

मानना होगा। यही नहीं, भावकर्म और जीव में फिर कोई अन्तर नहीं रहेगा। इस प्रकार अन्ततः जीव और कर्म एक सिद्ध हो जाएँगे। वस्तु-स्थिति यह है कि जीव भिन्न है और कर्म भिन्न हैं। कर्म अचेतन हैं और जीव चेतन है। कर्म में जानने-देखने की शक्ति नहीं है; जबकि जीव जानन-देखनहारा है। यथार्थ में इन दोनों की भिन्नता का वास्तविक ज्ञान तत्त्वज्ञान होने पर भेद-विज्ञान की प्रक्रिया से होता है।

उक्त दोहे की द्वितीय पंक्ति 'परमात्मप्रकाश' (1, 79) में ज्यों की त्यों उपलब्ध होती है।

हउं गोरउ हउं सामलउ हउं जि[1] विभिण्णउ[2] वण्णु[3]।
हउं तणु अंगउ थूलु[4] हउं एउह जीव ण[5] मण्णु[6] ॥27॥

शब्दार्थ—हउं—मैं; गोरउ—गौर (वर्ण); हउं सामलउ—मैं सांवला (हूँ); हउं—मैं; जि—पादपूरक (ही); विभिण्णउ—विभिन्न; वण्ण—वर्ण (रंग); हउं तणु—मैं तनु (दुबला-पतला); अंगउ थूलु—स्थूल (मोटे) अंग (वाला); हउं—मैं; एहउ—ऐसा; जीव; ण मण्णु—मत मान।

अर्थ—मैं गोरा हूँ, मैं साँवला हूँ तथा मैं विभिन्न रंगों का हूँ। मैं पतले अंग का हूँ, मैं मोटा हूँ —ऐसा मत मान।

भावार्थ—पिछले दोहों में यह कथन है कि विपरीत मान्यता के कारण प्राणी को वस्तु-स्वरूप का ज्ञान नहीं है। दूसरे शब्दों में हम वस्तु को वस्तु-स्वरूप से नहीं, वरन् उसकी अवस्थाओं से समझते हैं। इसलिए आज तक वस्तु के मूल स्वरूप से अनभिज्ञ व अनजान रहे हैं। वस्तु को सही रूप से समझने के लिए द्रव्यदृष्टि से भली-भाँति अवलोकन आवश्यक है। जैसे कि श्वेत मणि; काँच, स्फटिक और हीरा एक दृष्टि में लगभग समान दिखाई देते हैं, लेकिन दूरबीन लगाकर देखने से उनमें भिन्नता नजर आती है, वैसे ही ज्ञानस्वरूपी आत्मा और राग भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन अज्ञानता के कारण अज्ञानी जीव दोनों को एक रूप समझते हैं।

'परमात्मप्रकाश' (1, 80) में यह दोहा प्रथम अधिकार में उपलब्ध होता है। इसमें कहा गया है कि गोरा, साँवला, पतला-मोटा होना नामकर्म के भाव हैं। जो कार्य कर्म से उत्पन्न होता है, उसे प्राणी अपना आप-रूप मानता है, यही भूल है। अतः इस भूल में सुधार कर जीव के भाव को जीव का और कर्म के भाव को कर्म

---

1. **अ, द, ब, स** जि; **क** मि; 2. **अ, क** विभिण्णइ; **द, ब, स** विभिण्णउ; 3. **अ, क, ब** वण्णि; **द, स** वण्णु; 4. **अ** थूल; **ब** थूलउं; **क, द, स** थूलु; 5. **अ, ब** ण; **क, द, स** म; 6. **अ, क, ब** मण्णि; **द, स** मण्णु।

का मानना चाहिए। किन्तु संसारी प्राणी क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि भाव करता हुआ उन भावों को अपना ही मानता है; जबकि स्वरूप या लक्षण-दृष्टि से वे कर्म से उत्पन्न हुए भाव हैं। जीव उनके उस रूप होने में निमित्त मात्र है।

णवि तुहुं[1] पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु[2] णवि णीसु।
णवि गुरु कोइ वि सीसु[3] णवि सव्वइं[4] कम्मविसेसु ॥28॥

शब्दार्थ—णवि—नहीं; तुहुं—तुम; पंडिउ—पण्डित; मुक्खु—मूर्ख; णवि—नहीं; णवि—नहीं; ईसरु—ईश्वर; णवि णीसु—नहीं नरेश; णवि गुरु—नहीं गुरु; कोई वि—कोई भी; सीसु—शिष्य; णवि—नहीं; सव्वइं—सभी; कम्म-विसेसु—कर्म विशेष (हैं)।

अर्थ—न तुम पण्डित हो, न मूर्ख; न तुम ईश्वर हो, न नरेश; न गुरु हो, न कोई शिष्य—(ये सब रूप) सभी कर्म की विशेषताएँ हैं।

भावार्थ—पूर्व जन्म में कमाए हुए कर्म के कारण शरीर, कुल, विद्या, विद्वत्ता, गुरु-शिष्य आदि का योग-संयोग प्राप्त होता है। वास्तव में अभी हमारे संयोग, साथ में जो भी दिखलाई पड़ रहा है, उसमें से एक अणु मात्र भी हमारा नहीं है। यह मकान, कुटुम्ब, परिवार आदि सब कर्म का दिया हुआ है। इसलिए जब तक कर्म की स्थिति और फल देने की शक्ति कर्म में है, तब तक यह सब पंसारा हमारे साथ है। जिस दिन या जिस समय फल देने की शक्ति घट जाएगी अथवा कर्म की स्थिति पूर्ण हो जाएगी, उसी समय हमारे पास कुछ नहीं रहेगा। हम समझते हैं कि व्यापार, सेवादि से धन कमाकर मकान बनाया है, लेकिन वह हमेशा हमारे पास रहने वाला नहीं है। सदा काल ज्यों का त्यों बना रहने वाला नित्य ध्रुव एक आत्मा ही है। आत्मा न तो कभी पण्डित होता है और न मूर्ख। वास्तव में वह न ईश्वर होता है और न राजा। इसी प्रकार वह न कभी गुरु बनता है और न शिष्य। कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा सदा आत्मा ही रहता है। लोक-व्यवहार में, संयोग-सम्बन्ध में और तरह-तरह के रिश्तों के कारण जो हालतें नजर आती हैं, वे सब कर्म की देन हैं। यही कारण है कि कोई बिना मेहनत किए किसी भी घर में जन्म लेते ही मालामाल हो जाता है और कोई दूसरा जिन्दगी भर तरह-तरह की मेहनत करता है, लेकिन ठीक से घरवालों का पालन-पोषण भी नहीं कर पाता। कर्म की यह विचित्रता तथा विशेषताएँ ऐसी हैं कि उन सबका वर्णन कर पाना सम्भव नहीं है।

---

1. अ तुहु; क, द, ब, स तुहुं; 2. अ, ब ईसर; क, द, स ईसरु; 3. अ, क,द, स सीसु; ब सिस्सु; 4. अ, द, ब, स सव्वइं; क सव्वु।

णवि तुहं[1] कारणु कज्जु[2] णवि णवि सामिउ णवि भिच्चु।
सूरउ कायरु जीव णवि णवि उत्तमु णवि णिच्चु ॥29॥

शब्दार्थ—णवि—नहीं; तुहं—तुम; कारणु—कारण; कज्जु णवि—कार्य नहीं; णवि सामिउ—स्वामी नहीं; भिच्चु—भृत्य, सेवक; सूरउ—शूर (वीर); कायरु—कायर, डरपोक; जीव णवि—जीव नहीं; णवि उत्तमु—न उत्तम (हो); णवि णिच्चु—नहीं नीच।

अर्थ—न तुम कारण हो (किसी के) और न कार्य; न तुम स्वामी हो, न सेवक; न शूरवीर हो, न कायर; न तुम उत्तम हो और न नीच।

भावार्थ—दुनिया के लोग अपने जन्म में कोई माता-पिता को कारण मानते हैं और कोई ईश्वर को जनक मानते हैं। लेकिन आत्मा का जन्म न तो किसी से होता है और न वह स्वयं किसी को जन्म देता है। इसी प्रकार किसी वस्तु के उत्पादन या जन्म होने में आत्मा न तो कारण है और न किसी अन्य वस्तु या शक्ति (जो चेतन से भिन्न है) का वह कार्य है। ज्ञान-आनन्द स्वरूपी आत्मा स्वयं के ज्ञान को प्रकट या प्रकाशित करने में कारण है और ज्ञान-आनन्द ही उसका कार्य है। व्यवहार में यह कहा जाता है कि गुरु के बिना, शास्त्र के बिना ज्ञान नहीं होता। यह कथन निमित्त कारण की उपेक्षा है। ज्ञान होने में बाहरी साधन गुरु, शास्त्र हैं। लेकिन वे साधन या निमित्त मात्र हैं। विद्या प्राप्त करने के लिए शिक्षक बाह्य निमित्त या साधन मात्र है। शिक्षक के बार-बार समझाने पर भी शिक्षा प्राप्त करने वाला यदि समझता नहीं है, तो फिर वह कैसा साधन है? इसलिए शिक्षक साधन मात्र है। अन्तरंग साधन तो समझ ही है। इस प्रकार से आत्मा न तो किसी के लिए कोई निमित्त कारण है और न किसी कारण का कार्य है। आत्मा तो जो है, वह है। उसके मूल स्वरूप में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं होता। वह जैसी है, वैसी ही हमेशा रहती है। जो भी बदलाव अनुभव में आता है, वह सब बाहरी व संयोगी है। उसका कारण कर्म है और जो दशा बदलकर नई अवस्था होती है, वह कर्म का कार्य है; आत्मा न तो कारण है और न भौतिक साधनों से होने वाला कार्य है। यदि आत्मा अन्य का कारण और कार्य हो जाए, तो फिर अध्यात्म कुछ नहीं रह जाएगा।

---

1. **अ** तुह; **क, द, ब, स** तुहं; 2. **अ** कज्ज; **क, द, ब, स** कज्जु।

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु[1] धम्मु अहम्मु ण काउ[2]।
एक्कु वि जीव ण होहि तुहुं[3] मेल्लिवि[4] चेयणभाउ ॥30॥

शब्दार्थ—पुण्णु वि—पुण्य भी; पाउ वि—पाप भी; कालु—समय, काल द्रव्य; धम्मु—धर्म; अहम्मु—अधर्म (द्रव्य); ण काउ—नहीं शरीर; एक्कु वि—एक भी; जीव; ण होहि—नहीं हो; तुहुं—तुम; मेल्लिवि—छोड़कर; चेयणभाउ—चेतना भाव।

अर्थ—हे जीव! तुम एक चेतन भाव को छोड़कर न पुण्य, न पाप, न काल, न आकाश, न धर्म, न अधर्म और न शरीर हो।

भावार्थ—आत्मा एक चैतन्य भाव है। वह सदा चेतन ही रहता है। यद्यपि पुण्य रूप शुभ कर्म और पाप रूप अशुभ कर्म भावकर्म से पैदा होते हैं, लेकिन जीव की संयोगी दशा में उत्पन्न होने के कारण व्यवहार से शुभ, अशुभ भावों को आत्मा का कहा जाता है। क्योंकि यदि आत्मा शुभ, अशुभ भाव रूप हो, तो फिर शुद्ध भाव रूप कौन होता है? वास्तव में तो अनादि काल से लेकर आज तक आत्मा शुद्धभाव स्वरूप है और उसी रूप परिणमन करता है, लेकिन संयोगी भावों में राग-द्वेष मोह का संयोग होने से प्राणी को ऐसा भ्रम होता है कि आत्मा शुभ, अशुभ भावरूप परिणमन करती है। जैसे सोना-चाँदी में चाहे जितनी मिलावट की जाए, सोना आदि धातुएँ अपना मूल रूप कभी नहीं छोड़तीं, वैसे ही आत्मा हर हालत में आत्मा ही रहता है। उसमें कभी भी अचेतन का अंश मात्र भी प्रवेश नहीं होता। अतः आत्मा अपने स्वरूप में शुद्ध ही है।

इससे मिलती हुई गाथा 'परमात्मप्रकाश' में इस प्रकार है—

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ।
एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयण-भाउ ॥1, 92

अर्थात्—अपने चेतनभाव को छोड़कर पुण्य रूप शुभकर्म, पापरूप अशुभकर्म, भूत-भविष्य-वर्तमानकाल, आकाश, धर्म-अधर्म द्रव्य, शरीर इनमें से एक भी आत्मा नहीं है।

भावार्थ यह है कि अज्ञानी जीव पराये द्रव्य तथा पराये भाव को अपने साथ जोड़कर उनसे तन्मय होकर एकत्व स्थापित करता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि आत्मा उन सभी से भिन्न एवं पृथक् है।

---

1. **अ, द, स** णहु; **क** णउ, **ब** णवि; 2. **अ** कालु; **क, द, ब, स** काउ; 3. **अ** तुहु; **क, द, ब, स** तुहुं; 4. **अ** मिल्लिवि; **क** मिल्लिअ; **ब, स** मेल्लि 'मेल्लिसच्चेयणभाउ'।

णवि गोरउ णवि सामलउ[1] णवि तुहुं[2] एक्कु[3] वि वण्णु।
णवि तणु अंगउ थूलु णवि एहउ जाणि सवण्णु[4] ॥31॥

शब्दार्थ- णवि गोरउ–न गोरे; णवि सामलउ–न साँवले; णवि तुहुँ–नहीं तुम; एक्कु वि–एक भी; वण्ण–वर्ण (रंग); णवि तणु अंगउ–नहीं दुबले-पतले अंग (वाले); थूलु णवि–मोटे नहीं; एहउ–ऐसा; जाणि–जानो; सवण्णु–अपने वर्ण (जाति के हो)।

अर्थ–न तुम गोरे हो, न साँवले। तुम एक भी रंग के नहीं हो। न तुम दुबले अंग के हो और न स्थूल हो। इन सबको तुम अपनी जाति का मत समझो।

भावार्थ–भेद-विज्ञान की भावना का स्वरूप बताने के लिए परमार्थ से आत्मा को ध्यान में रखकर यह कहा जा रहा है कि आत्मा न तो सफेद है और न काला। उसके कोई भी रंग नहीं है। न आत्मा दुबला-पतला है और न मोटा। ये सब जड़ पदार्थ के गुण हैं। इसलिए तुम अपनी चेतन जाति से भिन्न जाति का इनको समझो।

यह दोहा कुछ अन्तर के साथ 'परमात्मप्रकाश' (1, 86) के प्रथम अधिकार में मिलता है। इसमें कहा गया है कि ये गोरे-काले आदि गुण-धर्म शरीर के सम्बन्ध से जीव के कहे जाते हैं, किन्तु वास्तव में शुद्धात्मा से भिन्न कर्म से उत्पन्न हैं। इसलिए ये त्यागने योग्य हैं। जो ज्ञानी हैं, वे इनको अपना नहीं समझते हैं। वास्तव में वर्ण, गन्ध, रस आदि गुण जड़ पदार्थ में पाए जाते हैं। अतः काला-गोरा आदि रंग आत्मा के कैसे हो सकते है? यह तो ठीक उसी प्रकार है, जैसे हम रात-दिन कहते रहते हैं कि शक्कर की बोरी खाली कर दो। यथार्थ में आज तक बोरी से कोई चीनी या शक्कर बनकर तैयार नहीं हुई; केवल बोरी के संयोग में रहने के सम्बन्ध के कारण 'शक्कर की बोरी' इस नाम से व्यवहार चलाने के लिए पुकारी जाती है। इसी प्रकार जब तक आत्मा शरीर में रहता है, उस शरीर की होनी वाली सारी क्रियाएँ आत्मा की कही जाती हैं। लेकिन यह सब औपचारिक कथन है।

---

1. अ, द, ब, स सामलउ; क सावलउ; 2. अ तुहु; क, द, ब, स तुहुं; 3. अ इक्कु; क, द, ब, स एक्कु; 4. अ णिवण्णु; क, द, ब, स सवण्णु।

हउं वरु बंभणु णवि वइसु णउ खत्तिउ णवि[1] सेसु[2]।
पुरिसु णउंसउ इत्थि[3] णवि एहउ जाणि विसेसु ॥32॥

शब्दार्थ—हउं—मैं; वरु—श्रेष्ठ; बंभणु—ब्राह्मण; णवि वइसु—नहीं वैश्य; णउ—नहीं; खत्तिउ—क्षत्रिय; णवि सेसु—नहीं शूद्र; पुरिसु—पुरुष; णउंसउ—नपुंसक; इत्थि—स्त्री; णवि—नहीं; एहउ—ऐसा; जाणि—जानो; विसेसु—विशेष।

अर्थ—मैं न श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ और न वैश्य। मैं क्षत्रिय तथा शूद्र भी नहीं हूँ। मैं पुरुष, स्त्री और नपुंसक भी नहीं हूँ। यही विशेष रूप से जानो।

भावार्थ—यद्यपि लोक-व्यवहार में तरह-तरह की जातियाँ हैं जो व्यवहार चलाने के लिए हैं; वास्तविक नहीं हैं। फिर भी, मोह के कारण मूढ़ व्यक्ति ऐसा मानता है कि मैं सबसे अलग ब्राह्मण, बनिया या क्षत्रिय हूँ। वास्तव में ये आत्मा के स्वभाव भाव नहीं हैं; विकारी भाव हैं। लेकिन मूर्ख मनुष्य शरीर के भावों को अपना मानता है। क्योंकि ऐसे भाव जड़ कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते है।

यह दोहा 'परमात्मप्रकाश' (1, 82) के प्रथम अधिकार में है। इसमें यह कहा गया है कि परमार्थ से ब्राह्मणादि भेद कर्म से उत्पन्न हुए हैं। इन जातियों को किसी परमात्मा ने नहीं बनाया है। इसलिए जो आत्मज्ञानी हैं, उनके लिए ग्रे भेद त्याज्य हैं। फिर भी, अज्ञानतावश यह अपने आपको वर्ण तथा जाति-भेद का मानकर अपने आप (निज शुद्धात्मा) को ऊँचा-नीचा समझता है। जो वास्तव में अपने को श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि मानता है, वह निज शुद्धात्म तत्त्व की भावना से रहित मूढ़ व अज्ञानी है। अन्य पदार्थ में मोहित होकर उससे एकता स्थापित करता है और उसमें तन्मय हो जाता है। यह सब अज्ञानता की पहचान है। जो भाव अपने स्वभाव में नहीं हैं, उनको यह अज्ञानतावश अपना भाव मानता है। यह अज्ञान नहीं तो क्या है कि यह चेतन की जाति का परम चैतन्य है, लेकिन अज्ञानतावश अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य रूप मानता है।

---

1. **अ, द, ब, स** णवि; **क** णउ; 2. **अ, क, द, स** सेसु; **ब** सुद्दु; 3. **अ** इत्थ; **क, द, ब, स** इत्थि।

तरुणउ बुड्ढउ[1] बालु हउं[2] सूरउ[3] पंडिउ दिव्वु।
खवणउ वंदउ सेवडउ[4] एहउ चिंति म सव्वु ॥33॥

शब्दार्थ—तरुणउ—तरुण, नवयुवक; बुड्ढउ—बूढ़ा; बालु—बालक; हउं—मैं; सूरउ—शूर (वीर); पंडिउ दिव्वु—पण्डित दिव्य (विलक्षण); खवणउ—क्षपणक (दिगम्बर नग्न); वंदउ—वन्दक—भगवा भेषधारी; सेवडउ—सेवड़ा (श्वेताम्बर); एहउ—ऐसी; चिंति—चिन्ता; म सव्व—मत (करो) सब।

अर्थ—मैं जवान हूँ, बूढ़ा हूँ, बालक हूँ, शूरवीर हूँ, दिव्य पण्डित हूँ, क्षपणक (दिगम्बर), वन्दक (भगवा वस्त्रधारी), श्वेताम्बर हूँ—इस सब की चिन्ता मत कर।

भावार्थ—यद्यपि व्यवहार की दृष्टि से तरुण-वृद्ध-बालक आदि शरीर के भेद आत्मा के कहे जाते हैं, लेकिन परमार्थ से ये सभी भेद शुद्धात्म स्वभाव रूप परमात्मा से भिन्न हैं।

यह दोहा 'परमात्मप्रकाश' (1, 82) में प्रथम अधिकार में किंचित् अन्तर लिए हुए मिलता है। इसके भावार्थ में कहा गया है—"यद्यपि व्यवहार नय कर ये सब तरुण-वृद्धादि शरीर के भेद आत्मा के कहे जाते हैं, तो भी निश्चय नय कर वीतराग सहजानन्द एक स्वभाव जो परमात्मा उससे भिन्न हैं। ये तरुणादि विभाव पर्याय कर्म के उदय कर उत्पन्न हुए हैं, इसलिए त्यागने योग्य हैं, तो भी उनको साक्षात् उपादेय रूप निज शुद्धात्म तत्त्व में जो लगाता है अर्थात् आत्मा के मानता है, वह अज्ञानी जीव बड़ाई, प्रतिष्ठा, धन का लाभ इत्यादि विभाव परिणामों के अधीन होकर परमात्मा की भावना से रहित हुआ मूढ़ात्मा है, वह उसे जीव के ही भाव मानता है।"

देहहो पिक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि।
जो[1] अजरामरु बंभु[2] परु सो अप्पाण[3] मुणेहि ॥34॥

शब्दार्थ—देहहो—शरीरका; पिक्खिवि—देखकर; जरमरणु—जरा—मरण (बुढ़ापा, मृत्यु); मा भउ—मत भय; जीव; करेहि—करो; जो; अजरामरु—अजर, अमर; बंभु—ब्रह्म; परु—परम; सो—वह; अप्पाण—अपने (को); मुणेहि—जानो।

---

1. **अ, ब, स** बुड्ढउ; **क, द** बूढउ; 2. **अ** णवि; **क, द, ब, स** हउं; 3. **अ** सूरो, **क, द, ब, स** सूरउ; 4. **अ, द, ब, स** सेवडउ; **क** सेउडउ।

1. **अ** सो; **क, द, ब, स** जो; 2. **अ, द** बंभपरु; **क, ब, स** बंभु परु; 3. **अ, द, ब, स** अप्पाण; **क** अप्पणा।

अर्थ—हे जीव! देह का बुढ़ापा-मरण देखकर भय मत कर। जो अजर, अमर, परम ब्रह्म है, उसे ही अपना (स्वरूप) मान।

भावार्थ—यहाँ पर आत्माराम को सम्बोधित करते हुए श्रीगुरु समझाते हैं कि जन्म-मरण और बुढ़ापा शरीर की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। आत्मा का न तो जन्म होता है और न मरण आदि। शरीर की बुढ़ापा, मरण आदि अवस्थाओं को देखकर डरना नहीं चाहिए। यद्यपि व्यवहारनय की दृष्टि में जन्म-मरण जीव का कहा जाता है, लेकिन परमार्थ से जन्म-मरण देह का होता है; जीव का नहीं। इसलिए शरीर के मरण को देखकर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि एक दिन हमारी मृत्यु होगी।

यह दोहा 'परमात्मप्रकाश' (1, 71) में प्रथम अधिकार में है। इसमें कहा गया है कि जो अजर, अमर, परमब्रह्म शुद्ध स्वभाव है, उसको ही आत्मा जान। अतः देह के जन्म-मरण को देखकर भयभीत नहीं होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा के अखण्ड परमब्रह्म स्वभाव को अपना स्वरूप जानकर पाँचों इन्द्रियों के विषयों को और सभी विकल्पों को छोड़कर समाधि में स्थिर होकर निज शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए। जब तक शरीर में ममता रूपी विकल्प है और उसकी (मोह, ममत्वकी) ही निरन्तर सम्हाल है, तब तक आत्म-ध्यान नहीं हो सकता। आत्मध्यान के बिना कोई भी धर्मध्यान नहीं हो सकता। इसलिए उसका ही उपाय करना चाहिए।

देहहं[1] उब्भउ जरमरणु देहहं[2] वण्ण विचित्त।
देहहं रोया जाणि तुहुं देहहं लिंगइं मित्त ॥35॥

शब्दार्थ—देहहं—देह, शरीर के; उब्भउ—उभय, दोनों; जरमरणु—जरा-मरण; देहह—देहके; वण्ण विचित्त—वर्ण विचित्र (रंगों की विचित्रिता); देहहं—देहके; रोया—रोग; जाणि—जानो; तुहुं—तुम; देहहं—देहके; लिंगइं—चिन्हों (को); मित्त—हे मित्र!

अर्थ—हे मित्र! बुढ़ापा और मरण ये दोनों शरीर के हैं। विचित्र रंग भी शरीर के ही हैं। रोग तथा स्त्री-पुरुषादि लिंग शरीर के ही जानना चाहिए।

भावार्थ—व्यवहारनय किसी में किसी को मिलाकर कहता है। आज तक चीनी या शक्कर से कोई भी बोरी नहीं बनी। लेकिन 'शक्कर की बोरी खाली कर दो' ऐसा ही भाषा का प्रयोग करते हैं। न सड़क कहीं जाती है और न नल कहीं से आते हैं, किन्तु लोक-व्यवहार में सभी समझते हैं कि कहने वाला क्या कहना चाहता है। इसी प्रकार जीव के मौजूद रहने पर ही जन्म, यौवन, प्रौढ़ता, बुढ़ापा आदि

---

1. **अ, ब, स** देहहं; **क, द** देहहि 2. **अ, ब, स** देहहं; **क, द** देहहि।

अवस्थाएँ दिखलाई पड़ती हैं। इसलिए किसी प्राणी की मृत्यु होने पर कहा यही जाता है कि वह मर गया है; जबकि सभी वस्तुएँ नित्य तथा शाश्वत हैं।

यह दोहा 'परमात्मप्रकाश' के प्रथम अधिकार में किंचित् परिवर्तन के साथ (70 संख्यक) उपलब्ध होता है। इसमें कहा गया है कि शुद्धात्मा का सच्चा श्रद्धान, ज्ञान, आचरण रूप अभेद रत्नत्रय की भावना से विमुख जो राग-द्वेष, मोह से उत्पन्न हुए जन्म-मरणादि हैं, वे सब व्यवहार में जीव के हैं; किन्तु परमार्थ से जीव के स्वभाव नहीं होने से वास्तव में नहीं हैं। इसलिए वीतराग, ज्ञानानन्द स्वरूप निज शुद्धात्मा को ही उपादेय समझना चाहिए।

अत्थि ण उब्भउ जरमरणु रोय वि लिंगइं वण्ण।
णिच्छइ[1] अप्पा जाणि तुहुं[2] जीवहं[3] णेक्क वि सण्ण ॥36॥

शब्दार्थ—अत्थि ण—नहीं है; उब्भउ—दोनों; जरमरणु—जरा-मरण; रोय वि—रोग भी; लिंगइं—चिन्ह (हैं); वण्ण—वर्ण; णिच्छइ—निश्चय; अप्पा—आत्मा; जाणि—जानो; तुहुं—तुम; जीवहं—जीव के; णेक्क वि—एक का भी; सण्ण—अस्तित्व।

अर्थ—बुढ़ापा और मरण ये दोनों आत्मा के नहीं हैं। रोग, लिंग तथा वर्ण भी आत्मा में नहीं हैं। हे आत्मन्! निश्चय से यह जान कि तुममें किसी एक का भी अस्तित्व नहीं है।

भावार्थ—यहाँ पर भी परमार्थ की दृष्टि से यही कहते हैं कि जीव के जन्म, जरा, मरण, रोग, लिंग, वर्ण आदि संज्ञाएँ नहीं हैं। आत्मा इन सब विकारों से रहित है। वर्तमान में इनमें से जो भी अवस्था नजर आती है, वह संयोग के कारण संयोगी है। जब तक संयोग दशा है, तब तक जीव के कहे जाते हैं। इनका वियोग हो जाने पर कौन इनको आत्मा का कहेगा? इसलिए आचार्य समझाते हुए कहते हैं कि वास्तव में जीव के जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, रोग, चिह्न, वर्ण, आहार आदि एक भी संज्ञा या नाम नहीं है—यही निश्चय करना चाहिए। क्योंकि निश्चयनय से आत्मा अनन्त गुणों का भण्डार, भरपूर, अखण्ड, ध्रुवधाम, निर्विकार है—ऐसा शुद्ध आत्मा ही एक मात्र उपादेय है। यही नहीं, यदि शरीर दुर्घटनावश छिद जाए, भिद जाए, नष्ट हो जाए, तो भी श्रीगुरु कहते हैं कि तू भय मत कर। क्योंकि दृश्यमान अवस्थाओं से तथा संयोग में रहने वाले जड़ कर्मों से तुम्हारा अस्तित्व नहीं है। क्योंकि कर्म में जानने, देखने की शक्ति नहीं है; चेतन ज्ञाता-द्रष्टा है। अतः चेतन का अस्तित्व ज्ञान, दर्शन

---

1. **अ, द, स** णिच्छइ; **ब** णिच्छवि; **क** निच्छवि; 2. **अ, ब** तुहं; **क, द, स** तुहुं; 3. **अ, ब, स** जीवह; **क, द** जीवहो।

आदि अनन्त गुणों से है; कर्म से नहीं है। इसलिए ऐसा मानना कि जो भी रोग, रंग-रूप आदि शरीर की अवस्थाएँ हैं। मैं उनसे त्रिकाल भिन्न एक अविनाशी, अखण्ड, परमतत्त्व हूँ जिसे सच्चिदानन्द कहते हैं।

कम्महं[1] केरउ भावडउ जइ अप्पणा[2] भणेहि।
तो वि ण पावहि परमपउ पुणु संसार भमेहि[3] ॥37॥

शब्दार्थ—कम्महं—कर्मों के; केरउ—षष्ठी विभक्ति का कारक-चिन्ह; भावडउ—भावों (को); जइ—यदि; अप्पणा—अपना; भणेहि—कहते हो; तो वि—तब भी; ण पावहि—नहीं पाते हो; परमपउ—परमपद; पुणु—फिर; संसार (में) भमेहि—घूमते हो।

अर्थ—यदि तुम कर्मों के भाव को अपना भाव कहते हो, तो फिर निर्वाण (परम पद) प्राप्त नहीं कर सकते। तुम इस संसार में ही भ्रमण करते रहोगे।

भावार्थ—हे जीव! कर्मों से उत्पन्न राग-द्वेष, मोहादि भाव एवं शरीर आदि अचेतन पदार्थ हैं। जो अचेतन हैं, वे निश्चय ही चेतन से भिन्न हैं। यदि चेतन जीव कर्म के भाव राग-द्वेष, मोहादि को अपने भाव मानता है, तो वह हमेशा इनके ही अधीन रहेगा और पराधीन रहने वाला कभी स्वतन्त्र व स्वाधीन (मुक्त) नहीं हो सकता। अन्य के सहारे रहने वाला और अन्य की सहायता की आशा करने वाला सदा इधर-उधर भटकता रहता है।

उक्त दोहे से मिलता हुआ भाव 'परमात्मप्रकाश' अ. 1, दो. 73 में इस प्रकार वर्णित है—

"हे जीव! कर्मजनित रागादिक भाव और शरीर आदि अचेतन पदार्थ इन सबको निश्चय से जीव के स्वभाव से भिन्न जानो। अभिप्राय यह है कि ये सभी पर-भाव कर्म के उदय से उत्पन्न हुए हैं जो आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं। आत्मा का स्वभाव निर्मल ज्ञान-दर्शनमयी है।"

इसका अभिप्राय यह है कि जो कर्म-बन्ध के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों से निवृत्ति की भावना भाते हैं, उनके लिए उस समय शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। जो शुद्ध आत्मा-स्वभाव रूप अपने को समझता है, वह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि को अपने से भिन्न ही जानता है; क्योंकि आत्मस्वरूप भासित हुए बिना भ्रम बना ही रहता है। आत्मा का मर्म यथार्थ में समझ में आने पर 'भरम' (भ्रम) भाग जाता है।

---

1. **अ** कम्महु; **ब, स** कम्मह; **क, द** कम्महं; 2. **अ, क, ब, स** अप्पणा; **द** अप्पाण; 3. **अ** भणेहिं; **ब, स** भणेह; **क, द** भणेहि।

अप्पा मेल्लिवि[1] णाणमउ अवरु[2] परायउ भाउ।
सो छंडेविणु जीव तुहुं झायहि[3] सुद्धसहाउ ॥38॥

शब्दार्थ—अप्पा—आत्मा (को); मेल्लिवि—छोड़कर; णाणमउ—ज्ञानमय; अवरु—अन्य; परायउ—पराया; भाउ—भाव; सो—वह; छंडेविणु—छोड़कर; जीव; तुहुं—तुम; झायहि—ध्याओ; सुद्धसहाउ—शुद्धस्वभाव।

अर्थ—हे जीव! ज्ञानमय आत्मा के (भाव के) अतिरिक्त अन्य सभी भाव परभाव हैं। उनको छोड़कर तुम अपने शुद्ध स्वभाव का ध्यान करो।

भावार्थ—यथार्थ में ज्ञानी को ज्ञान भाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता। तीन लोकों में ज्ञान ही एक सुन्दर वस्तु है। जो सहज सुन्दर है वह अच्छी लगती ही है। परमात्म पदार्थ को जानने वाले का मन विषयों में नहीं लगता है। अपने ज्ञानमय सहज स्वभाव के अलावा जो भी भाव हैं, वे पराये भाव हैं और पराये पराये ही होते हैं, क्योंकि वे अपने नहीं होते। जिसने वीतराग सहजानन्द अखण्ड अतीन्द्रिय सुख में तन्मय परमात्मतत्त्व को जान लिया है, उसे यह पूर्ण निश्चय हो जाता है कि जो विषय-वासना के अनुरागी हैं, वे अज्ञानी हैं; क्योंकि ज्ञानियों का जीव तो ज्ञान और वैराग्य से भरपूर होता है। इसलिए उनका मन विषयों में नहीं रमता है। (द्रष्टव्य है—परमात्मप्रकाश, 2, 77)

यथार्थ में जिनको उत्तम वस्तु मिल जाती है, उनका मन तुच्छ वस्तुओं की ओर नहीं जाता। ठीक इसी प्रकार जिसने वीतराग सहजानन्द अखण्ड सुख में तन्मय परमात्मतत्त्व को जान लिया है, वह विषय-वासना का अनुरागी नहीं हो सकता। उसका मन विषय-विकार से सहज ही विरक्त रहता है।

वण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ।
संतु णिरंजणु सो जि सिउ तहिं[4] किज्जइ अणुराउ ॥39॥

शब्दार्थ—वण्णविहूणउ—वर्ण-विहीन (रंग रहित); णाणमउ—ज्ञानमय; जो; भावइ—भाता है; सब्भाउ—सद्भाव, स्वरूप; संतु णिरंजणु—सन्त, निरंजन; सो—वह; जि—ही; सिउ—शिव (सिद्ध भगवान); तहिं—वहीं, उसी में; किज्जइ—किया जाता है, करना चाहिए; अणुराउ—अनुराग, प्रेम।

अर्थ—राग-रंग से विहीन, ज्ञानमय जो निज स्वभाव की भावना भाता है एवं जो सन्त, निरंजन है, वही शिव है तथा उसी में अनुराग करना चाहिए।

---

1. **अ, ब, स** मेल्लिवि; **क, द** मिल्लिवि; 2 **अ, ब,** अवर; **क, द, स** अवरु; 3. **अ, क, ब, स** झायहि; **क, द** झावहि। 4. **अ, ब** तहि; **क, द, स** तहिं।

भावार्थ—आचार्य अमितगति कहते हैं कि किसी भी समय में चेतन आत्मा के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, देह, इन्द्रियाँ आदि स्वभाव से नहीं होते। (योगसार, 1, 53)

चेतन का स्वभाव ज्ञान-आनन्दमय है। ज्ञान की यह विशेषता है कि वह ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेयरूप नहीं होता। जिस प्रकार नेत्र रूप को ग्रहण करते हुए रूपमय नहीं हो जाते, वैसे ही ज्ञान भी कभी ज्ञेयरूप नहीं हो जाता। ज्ञान का काम जानने का है, ज्ञेयरूप परिणमन करने का नहीं है। ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह अपने को और पर को जानता है। ज्ञान की यह महिमा है कि वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों कालों के सत्-असत् पदार्थ सभी एक साथ उसके विषय होते हैं। ज्ञान की स्वच्छता का ही यह परिणमन है कि केवलज्ञान में तीनों कालों और तीनों लोकों के सभी पदार्थ एक साथ एक समय में झलकते हैं, प्रतिबिम्बित होते हैं। जब तक ज्ञान राग-द्वेष की पराधीनता से सहित है, तब तक सम्यक्चारित्र नहीं होता। वास्तव में स्वाधीन ज्ञान ही सम्यक्चारित्र है। कर्म का मल धोने में सम्यक्चारित्र ही समर्थ है। इसलिए निर्मोही और वीतरागी होने के लिए वीतराग स्वभावी निज शुद्धात्म-स्वभाव की भावना और उसी में अनुराग किंवा एकत्व बुद्धि होनी चाहिए।

तिहुवणि[1] दीसइ देउ[2] जिणु जिणवरु तिहुवणु[3] एउ।
जिणवरु दीसइ सयलु जगु को वि ण किज्जइ भेउ ॥40॥

शब्दार्थ—तिहुवणि—तीन भुवन में; दीसइ—दिखलाई पड़ता है; देउ जिणु—जिनदेव; जिणवरु—जिनों में श्रेष्ठ; तिहुवणु—तीनों लोक; एउ—ये; जिणवरु—जिनवर (के ज्ञान में); दीसइ—दृश्यमान होता है; सयलु—सम्पूर्ण; जगु—जगत; कोवि—कोई भी; ण किज्जइ—नहीं किया जाता है; भेउ—भेद।

अर्थ—तीनों लोकों में एक देव जिनदेव दिखलाई पड़ते हैं और तीनों लोक उन जिनवर में झलकते हैं। जिनवर के ज्ञान में सम्पूर्ण लोक एक साथ प्रतिबिम्बित होता है। अतः इसमें कोई भेद नहीं करना चाहिए।

भावार्थ—जिसने चैतन्य प्रकाश का अवलोकन कर लिया है, उसे चारों ओर परम ज्योतिस्वरूप भगवान् आत्मा या परमात्मा ही दृष्टिगोचर होता है। मुनिश्री योगीन्दुदेव कहते हैं—जैसे ताराओं का समूह निर्मल जल में प्रतिबिम्बित प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है, उसी तरह मिथ्यात्व रागादि विकल्पों से रहित स्वच्छ आत्मा में

---

1. **अ, ब, स** तिहुवणि; **क, द** तिहुयणि; 2. **अ** देव; **क, द, ब, स** देउ; 3. **अ** तिहुअण; **ब** तिहुवण; **क** तिहुयणु; **क, द** तिहुवणु।

सम्पूर्ण लोक-अलोक प्रकाशमान होते हैं, भासते हैं। (परमात्मप्रकाश 1, 102) वास्तव में यह आत्मस्वरूप या भगवान् आत्मा की विशेषता है कि जो उसका अवलोकन करता है, उसे समस्त लोकालोक दृष्टिगोचर होता है। आत्मा का स्वभाव वीतराग, निर्विकल्प है। जिनदेव भी वीतराग, निर्विकल्प समाधि में लीन हैं। उनके ज्ञान में तीनों लोकों के चर-अचर पदार्थ एक साथ एक समय में झलकते हैं। इसलिए जिसने आत्मस्वभाव का दर्शन कर लिया, उसे परमात्म स्वरूप चैतन्य पदार्थ तीनों लोकों में व्याप्त दिखलाई पड़ते हैं। वास्तव में अपने स्वभाव को देखने से समस्त लोक भी दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि सभी स्थानों पर चेतन पदार्थ समान रूप से चैतन्य स्वरूप को लिए हुए हैं। जो आत्मस्वभाव में संलीन पुरुष हैं, उनके प्रत्यक्ष ज्ञान में यह विशेषता होती है कि उनके आत्मस्वभाव में समस्त लोकालोक शीघ्र दिखाई देने लगता है। (परमात्मप्रकाश, 1, 100) अतः एक निज शुद्धात्मा को जानने से तीन लोक जान लिया जाता है।

बुज्झहु बुज्झहु जिणु भणइ को बुज्झइ[1] हलि अण्णु।
अप्पा देहहं[2] णाणमउ छुडु बुज्झियउ विभिण्णु ॥41॥

शब्दार्थ—बुज्झहु बुज्झहु—बूझो, बूझो, जानो, जानो; जिणु भणइ—जिन (देव) कहते हैं; को बुज्झइ—कौन (को) जानते (हो); हलि—अरे!; अण्णु—अन्य; अप्पा—आत्मा; देहहं—देह से; णाणमउ—ज्ञानमय (होने से), छुडु—यदि; बुज्झियउ—जान लिया; विभिण्णु—विभिन्न, अलग।

अर्थ—जिनदेव कहते हैं कि जानो! जानो! यदि ज्ञानस्वरूपी आत्मा को देह से भिन्न जान लिया, तो फिर अरे! अन्य को जानने से क्या?

भावार्थ—*उक्त अभिप्राय से युक्त एक दोहा 'परमात्मप्रकाश' (अ. 1, दो. 104)* में प्रकारान्तर से है जिसमें यह कहा गया है कि जिस आत्मा के जानने से निज और पर सभी पदार्थ जान लिए जाते हैं, उसी आत्मा को स्वसंवेदन ज्ञान के बल से जानो। प्रभाकर भट्ट विनयपूर्वक ज्ञान का स्वरूप पूछता हुआ कहता है—हे भगवन्! जिस ज्ञान से क्षणभर में अपनी आत्मा जानी जाती है, वह परम ज्ञान ही मेरे लिए प्रकाशित करें। अन्य विकल्प-जालों से क्या लाभ है? यथार्थ में ज्ञान निर्विकल्प, अतीन्द्रिय, स्वसंवेदन ज्ञानगम्य प्रत्यक्ष है। साधु वीतराग दशा इसलिए धारण कर लेते हैं कि वे अपने स्वभाव को पाँचों इन्द्रियों के विषयों से, राग-द्वेष,

---

1. **अ, क, ब** बुज्झइ; **द, स** बुज्झउ; 2. **अ, ब** देहह; **क, द** देहहं।

शरीरादि से भलीभाँति भिन्न जान लेते हैं। वास्तव में भेद-ज्ञान होने पर आराधना का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसलिए ज्ञानी यह विचार करता है कि जिसने उस एक अखण्ड ज्ञायक को जान लिया, उसे अब कुछ अन्य को जानने से क्या लाभ है? उसके लिए तो अन्य को जानना व्यर्थ ही है। कहा भी है–

एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।

एक निज शुद्धात्मा को जानने से यह लाभ है कि आत्मा में भाव रूप केवलज्ञान में सम्पूर्ण लोक प्रतिबिम्बित होता है। इसलिए जिसने अपने को जान लिया, उसे जानने के लिए कुछ नहीं बचता है।

वंदहु वंदहु जिणु भणइ को वंदउ हलि एत्थु[1]।
णियदेहहं[2] णिवसंतयहं[3] जइ जाणिउ परमत्थु ॥42॥

शब्दार्थ–वंदहु वंदहु–वन्दन करो, वन्दन करो; जिणु–जिन (देव); भणइ–कहते हैं; को वंदउ–कौन वन्दन करे; हलि–अरे!; एत्थु–यहाँ णियदेहहं–निज देह में; णिवसंतयहं–निवास करते हुए, जइ–यदि; जाणिउ–जान लिया; परमत्थु–परमार्थ।

अर्थ–जिनदेव कहते हैं कि वन्दन करो! वन्दन करो! अरे! जिसने अपनी देह में वसने वाले (भगवान् आत्मा) को परमार्थ से जान लिया, तो फिर यहाँ कौन किसकी वन्दना करे?

भावार्थ–आत्म-सुधा-रस में मग्न रहने वाले यतीश्वरों के तो यह विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता कि मैं वन्दन करूँ? किन्तु जिनका मन अभी इन्द्रियों के विषयों में और क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों में जाता है, उनके लिए जिनदेव उपदेश देते हुए कहते हैं कि वीतराग देव, सद्गुरु और अनेकान्तमय जिनवाणी की प्रतिदिन वन्दना करनी चाहिए। वास्तविक वन्दन तो उस ज्ञान तथा निर्विकल्प समाधि को है जिसके प्रकाशित होने पर वन्द्य-वन्दक भेद-भाव समाप्त हो जाता है। आत्मा परमात्मा या शुद्धात्मा को तभी तक वन्दन करती है, जब तक उन दोनों में भेद है। जहाँ अभेद है, वहाँ कौन किसको वन्दन करेगा? मुनिश्री योगीन्दुदेव का यह कथन है–

---

1. अ यत्थु; ब एत्थु; क, द इत्थु; स अत्थु; 2. अ णियदेहाहिं; क, द णियदेहाहं; ब, स णियदेहहं; 3. अ, क, द वसंतयहं; ब, स णिवसंतयहं।

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ।
सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइँ मुच्चेइ ॥—परमात्मप्रकाश, 1, 76

अर्थात्—अपने को अपने से जानता हुआ यह जीव वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान से परिणत अन्तरात्मा स्व शुद्धात्मा को जानता हुआ अनुभव करता हुआ वीतराग सम्यग्दृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि जीव शीघ्र ही ज्ञानावरणादि कर्मों से मुक्त हो जाता है। अतः उस स्थिति में वह किसी वन्दना करेगा? वन्दना करने का विकल्प ही वहाँ उत्पन्न नहीं होता।

उपलाणहिं[1] जोइय[2] करहुलउ दावणु[3] छोडिहिं[4] जिम चरइ।
जसु अक्खयणी[5] रामा[6] गयउ मणु सो किम बुहु जगि रइ करइ ॥43॥

शब्दार्थ—उपलाणहिं—पलान (पल्याण, पलेंचा) को; जोइय—देखकर; करहुलउ—करभ (ऊँट); दावणु-दामन, बन्धन; छोडिहिं—छुड़ाकर; जिम—जिस प्रकार; चरइ—चरता, खाता है; जसु—जिसका; अक्खमयी—अक्षयिनी, रामा—(मुक्ति) रमा; गयउ—गया हुआ, मणु-मन, सो—वह; किम-किस प्रकार; बुहु—बुद्धिमान; जगि—जगत पर; रइ—रति, प्रेम; करइ—करता (कर सकता) है।

अर्थ—जिस प्रकार ऊँट पलान को देखकर बन्धन छोड़कर चरने के लिए निकल पड़ता है, वैसे ही अक्षयनिधि स्वरूप मुक्ति-रमा के प्रति गया हुआ (ज्ञानी का) मन इस संसार के ऊपर प्रीति कैसे कर सकता है?

भावार्थ—लोक में कोई भी प्राणी पराधीन होकर नहीं रहना चाहता है। दूसरे के अधीन होकर रहना, दूसरे पर निर्भर रहना या गुलाम बनकर रहना सबसे बड़ा दुःख है। इसलिए स्वतन्त्रता सबको प्यारी है। ऊँट जैसा पशु भी बन्धन खुलते देखकर खुले मैदान में तुरन्त चरने के लिए निकलकर भागता है। इसी प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द के धनी का मन मोक्ष रूपी लक्ष्मी के पास पहुँचते ही संसार से घबराकर उदासीन हो जाता है। संसार के प्रति उसके मन में रस नहीं रह जाता है। जो अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म, शरीरादि नोकर्म रूप परद्रव्य में लीन हैं, वे नर-नरकादि रूप पर पर्यायों में मग्न हो रहे हैं, इसलिए निश्चय से मिथ्यादृष्टि हैं।

---

1. अ उपलाणहि; **ब** उपलाणिहि; **क, द, स** उपलाणहिं; 2. अ जोइहु; **द, ब, स** जोइय; 3. अ दावण; **ब** दांवण; **क** दाम्वणु; **द, स** दावणु; 4. अ छोडिहिं; **ब** छोडइ; **क, द, स** छोडहि; 5. अ, अखइणि, **ब, स** अक्खइणि, **क, द** अखइणि; 6. अ रामइ; **ब, स** रामय; **क, द** रामइं।

जब तक पराई दृष्टि है, तब तक राग-द्वेष, मोह हैं और इनसे एकता होने पर ही संसार है। किन्तु जब दृष्टि पलट जाती है, पर से हटकर स्वभाव-सन्मुख हो जाती है, तब संसार से चित्त हट जाता है और अपने स्वभाव में लग जाता है। आत्म-प्रीति होने पर संसार की किसी भी वस्तु में प्रीति नहीं होती। क्योंकि यथार्थ में दृष्टि, रुचि और प्रीति एक से ही होती है।

उक्त दोहे में 'ऊँट' को मन के प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया गया है। ऊँट चंचल प्रकृति तथा संग्रहवृत्ति वाला पशु कहा गया है। इसलिए अपभ्रंश और हिन्दी के कवियों ने 'ऊँट' शब्द का प्रयोग मन के प्रतीक रूप में किया है।

ढिल्लउ होहि[1] म इंदियहं[2] पंचइं[3] विण्णि[4] णिवारि।
एक्क[5] णिवारहि जीहडिय[6] अण्ण[7] पराइय णारि ॥44॥

शब्दार्थ—ढिल्लउ—ढीले; होहि—होओ; म—मत; इंदियहं—इन्द्रियों के (विषयों में); पंचइं—पाँचों (में से); विण्णि—दोनों (को); णिवारि—रोको; एक्क—एक; णिवारहि—रोके; जीहडिय—जीभ (को); अण्ण-अन्य पराइय—पराई; णारि-नारी (को)।

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों में ढीला नहीं होना चाहिए। पाँचों इन्द्रियों के विषयों में से कम से कम दो को तो रोकना ही चाहिए—एक जीभ को और दूसरी पर-स्त्री को।

भावार्थ—शरीर, इन्द्रियाँ, द्रव्य, विषय, वैभव और स्वामी के सम्बन्ध व्यवहार से मेरे कहे जाते हैं। परमार्थ में तो एक अखण्ड ज्ञायक मात्र हूँ। वास्तव में जब पर से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, तब पाँचों इन्द्रियों के विषयों में छूट या ढील नहीं देनी चाहिए। यद्यपि इन्द्रियों के विषय आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणों का हरण नहीं करते (योगसार, 5, 18) तथा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने के कारण इन्द्रियों के विषयों में जाते हुए मन को रोकने का उपदेश दिया जाता है। क्योंकि आयु गल जाती है, मन और आशा नहीं गलती। मोह प्रायः उभरता रहता है, किन्तु आत्महित उत्पन्न नहीं होता। मुनि योगीन्दुदेव कहते हैं कि जिस तरह से मन विषयों में रमता है, उसी तरह से निज शुद्धात्मा में रमता, तो हे योगियो! यह जीव शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त कर लेता। अतः छोड़ने योग्य तो सभी इन्द्रियों के विषय हैं। लेकिन

---

1. **अ** होइ; **क, द, ब, स** होहि; 2. **अ** इंदियह; **क, द, ब, स** इंदियहं; 3. **अ, क, ब** पंचइ; **द, स** पंचहं; 4. **अ, ब** बंधणि; **क, द, स** विण्णि; 5. **अ, द, ब, स** एक्क; **क** एक; 6. **अ** जीहडीय; **ब** जीहडिव; **क, द, स** जीहडिय; 7. **अ, क, द, स** अण्ण; **ब** अवर।

परिस्थितिवश यदि गृहस्थ के लिए यह सम्भव नहीं है, तो कम से कम अपनी जीभ को अपने वश में रखना चाहिए और पर-स्त्री की ओर अभिलाषा पूर्ण दृष्टि से देखना छोड़ देना चाहिए। यदि अन्य की चाह बनी रहेगी, तो उसे पाने के लिए प्रयत्न भी करते रहोगे और यह सिलसिला सदा बना रहेगा। यही नहीं, अप्राप्ति के क्षणों में आकुलता भी निरन्तर बनी रहेगी। अतः यह उपाय सम्यक् नहीं है।

पंच बलद्द ण रक्खियइं[1] णंदणवणु ण गओसि।
अप्पु ण जाणिउ णवि परु[2] वि एमइं[3] पव्वइओसि ॥45॥

शब्दार्थ–पंच–पाँच; बलद्द–बैलों (की); ण रक्खियइं–नहीं रक्षा (की); णंदणवणु–नन्दनवन; ण गओसि–नहीं गये हो; अप्पु–आत्मा (को); ण जाणिउ–नहीं जाना; णवि–नहीं; परु वि–पर (को) भी; एमइं–यों ही; पव्वइओसि–प्रव्रजित, संन्यासी (हो गये) हो।

अर्थ–तुमने न तो पाँचों बैलों की रखवाली की और न नन्दनवन में प्रवेश किया। तुमने न अपने आप को जाना और न पर (अन्य) को। क्या ऐसे ही संन्यासी बन गए हो?

भावार्थ–यहाँ पर पाँच बैलों से अभिप्राय बलवान पाँचों इन्द्रियों से है और नन्दनवन का अर्थ है–आत्मा। यह एक कूटपद है।

साधु को शिक्षा देने के लिए यह पद लिखा गया है। साधु संयमी और तपस्वी होता है। संयमन करने का अर्थ संयम है। मुख्य रूप से संयम दो प्रकार का है–भावसंयम और द्रव्यसंयम। भावसंयम के बिना द्रव्यसंयम नहीं होता। आत्मा के स्वभाव में कुछ समय तक लीन रहना और उस समय राग-द्वेष रूप चित्तवृत्ति का न होना भावसंयम है। मन और इन्द्रियों को वश में करना द्रव्यसंयम है। द्रव्यसंयम के दो भेद हैं–प्राणी-संयम और इन्द्रिय-संयम। प्राणी तथा इन्द्रिय-संयम के 17 भेद हैं। चारित्र और संयम में अन्तर है। चारित्र जीव का स्वभाव है, व्यवहार संयम पुरुषार्थपूर्वक होता है, इसलिये वह जीव का स्वभाव नहीं है। संयम एक प्रकार की लगाम है। जिस प्रकार घोड़े की लगाम थामकर उसे वन में सरलता से घुमाया जा सकता है, वैसे ही संयमपूर्वक आत्मस्वभाव के परमानन्द रूपी नन्दनवन (परम आनन्ददायक) में प्रवेश किया जा सकता है, जिससे पूर्ण सुख की उपलब्धि होती है।

---

1. **अ**, रखियइ; **क, द, ब, स** रक्खियइं; 2. **अ** पर; **क, द, ब, स** परु; 3. **अ, क, द, स** एमइ; **ब** एवइं।

'परमात्मप्रकाश' (2, 140) की टीका में 'पंच' का अर्थ पाँच ज्ञानों की प्रतिपक्षभूत पाँच इन्द्रियाँ किया गया है। अपभ्रंश के कवियों ने पाँचों इन्द्रियों के लिए 'बैल' के प्रतीक का प्रयोग किया है।

पंचहिं[1] बाहिरु णेहडउ[2] हलि सहि लग्गु पियस्स[3]।
तासु[4] ण दीसइ आगमणु जो खलु मिलिउ[5] परस्स ॥46॥

शब्दार्थ—पंचहिं—पाँचों के; बाहिरु—बाहरी; णेहडउ—स्नेह (में); हलि सहि—हे सखि!; लग्गु—लगे हुए; पियस्स—प्रियतम के; तासु—उसका; ण दीसइ—नहीं दिखाई देता है; आगमणु—आना; जो; खलु—निश्चय, वास्तव में; मिलिउ—मिल गया (है); परस्स—पर से, दूसरे से।

अर्थ—हे सखि! प्रियतम बाहर के (एक नहीं) पाँच के स्नेह में लगे हुए हैं। जो दुष्ट दूसरे से हिल-मिल गया है, उसका आना भी नहीं दिखलाई पड़ता है।

भावार्थ—सुमति रूपी सखि अपनी सहेली कुमति को समझाती हुई कहती है कि चेतनरूपी प्रियतम एक नहीं, पाँचों इन्द्रिय रूपी नारियों के प्रेम-पाश में आबद्ध है। इसलिए पता ही नहीं चलता है कि कब किस इन्द्रिय के आलिंगन में संलग्न हो जाता है। पाँचों इन्द्रियों और उनके कार्य-व्यापारों (विषयों) में वह इतना विमोहित हो गया है कि उसका आवागमन सतत इन्द्रियों के विषयों की ओर होता रहता है। सुमति को यह प्रत्यक्ष रूप से न तो दिखलाई पड़ता है और न यह पता चलता है कि वह इनसे कैसे हिल-मिल गया है? केवल अनुभव से ही जाना जाता है कि वह अपने घर में सुमति रानी के पास नहीं रहता। उसके अपने पास में न रहने के कारण वह अनुमान से जानती है कि प्रिय किसी अन्य से स्नेह करने लगा है। लेकिन प्रिय को इसकी कोई चिन्ता नहीं है। जब तक चेतन इन्द्रियों (मन) के अधीन रहेगा, तब तक विषय-भोगों में संलिप्त रहेगा और भोगों में आसक्त चेतना कभी भी आत्मानुभव के आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकती। विषय-सुखों की 'चाह' ही सांसारिक जीव की विडम्बना है। यही कारण है कि आज तक नन्दनवन (शुद्धात्मा) में प्रवेश नहीं हुआ।

---

1. **अ, द** पंचहिं; **क** पंचहे; **ब, स** पंचहि; 2. **अ, क, ब, स** णेहडउ; **द** मेहडउ; 3. **अ, क, ब, स** पियस्स; **द** पयस्स; 4. **अ** तास; **क, ब** तासु; **द, स** जासु; 5. **अ** मिलिय; **क, द, ब, स** मिलिउ।

मणु जाणइ उवएसडउ जहिं सोवइ[1] अचिंतु[2]।
अचित्तहं[3] चित्तु जो[4] मेलवइ सो पुणु होइ णिचिंतु ॥47॥

शब्दार्थ—मणु—मन; जाणइ—जानता है; उवएसडउ—उपदेश (को); जहिं—जहाँ; सोवइ—सोता (सो जाता) है; अचिंतु—निश्चिन्त (होकर); अचित्तहं—अचेतन से; चित्तु (को); जो; मेलवइ—हटा लेता है; सो पुणु—वह फिर; होई—होता है; णिचिंतु—निश्चिन्त।

अर्थ—जब मन निश्चिन्त होकर सो जाता है अर्थात् एकाग्र होकर थम जाता है, तभी वह उपदेश को समझता है। मन निश्चिन्त तभी होता है, जब अचित्त (अचेतन) से चित्त को अलग कर लेता है।

भावार्थ—जब तक मन उधेड़-बुन में रहता है, कुछ-न-कुछ सोचता रहता है, संकल्प-विकल्पों में उलझा रहता है, तब तक स्थिर या एकाग्र नहीं होता। मन प्रत्येक समय सोच-विचार करता रहता है। कोई भी समय ऐसा नहीं होता जब निर्विकल्प होता हो। इसलिए यही समझना चाहिए कि मनुष्य विचाररहित नहीं होता। अतः निर्विचार होने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। परन्तु यह निश्चित है कि चिन्ता करना सभी तरह से अनुपयुक्त है। यह भी वास्तविकता है कि चिन्ता सदा अन्य (पर) की करता है। जिसे अपना समझता है और जो अपना नहीं है, उसकी ही चिन्ता की जाती है। चिन्ता रूप विचार सोते समय भी स्वप्न रूप में चलते रहते हैं। यथार्थ में विचारों की यह शृंखला जागते-सोते बनी रहती है। यदि स्वप्न एक मूर्च्छा की प्रक्रिया है, तो जागते हुए वही सब स्वप्न की तरह चलते रहना जाग्रत स्वप्न की क्रिया है। इन दोनों अवस्थाओं में मन जागता रहता है, पर आत्मा सोता है। 'आत्मा के सोने' का अर्थ है—ज्ञान की ज्ञान रूप जागृति का न होना। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—जो योगी, ध्यानी, मुनि व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप के काम में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है। (मोक्षपाहुड, गा. 31) वास्तव में सोने में मन का विश्राम होता है। सोते या विश्राम करते समय भी आत्मा जागृत रहता है। इसलिए किसी चींटी या कीड़ा के काटने पर वेदन होते ही अंगुलि वहाँ पहुँच जाती है। यथार्थ में मनका विश्राम आत्म-स्वभाव में एकाग्र होना आत्मानुभूति की निर्विकल्प दशा का नाम है जो अतीन्द्रिय मानस-प्रत्यक्ष होती है।

---

1. **अ, क, ब, स** सोवइ; **द** सोवेइ; 2. **अ, द, स** अचिंतु; **क** अच्चिंतु; **ब** णिच्चंतु; 3. **अ** अचित्तहं; **ब** अचित्तुहु; **क, द** अचित्तहो; 4. **अ** जु; **द, ब** जि; **क, द, स** जो।

वट्टडिया अणुलग्गयहं अग्गउ[1] जोवंताहं[2]।
कंटउ भग्गउ[3] पाउ जइ भज्जउ[4] दोसु ण ताहं[5] ॥48॥

शब्दार्थ—वट्टडिया—मार्ग, वाट (पर); अणुलग्गयहं—लगे हुए; अग्गउ—आगे; जोवंताहं—देखते हुए; कंटउ—काँटे (से); भग्गउ-भग्न, घायल; पाउ—पाद, पैर; जइ—यदि; भज्जउ—भागने (का); दोसु—दोष; ण—नहीं; ताहं—उसके।

अर्थ—जो मार्ग पर लगे हुए आगे (पथ) देखते हुए चलते हैं, उनके पैर में यदि काँटा लगने से वे घायल हो जाएँ, तो इसमें उनके भागने का कोई दोष नहीं है।

भावार्थ—मार्ग का अर्थ है—अन्वेषण, खोज। मंजिल पर पहुँचने के लिए मार्ग एक ऐसा माध्यम है जिसके बिना यात्रा नहीं हो सकती है। लेकिन चौराहे पर खड़े हुए व्यक्ति को यह निश्चय करना होता है कि मुझे किस दिशा में जाना है? यदि दिशा का निर्णय ठीक नहीं होता है, तो उसे भटकना पड़ता है। अनादि काल से यह जीव (प्राणी) चौरासी लाख योनियों में इसलिए भटक रहा है कि इसे सच्चे सुख की दिशा का निश्चय नहीं हो सका है।

आत्मा की खोज करने वाले व्यक्ति को यदि दिशा सही मिल जाती है और वह चलने का अभ्यास भी कर लेता है, तो विघ्न बाधाएँ, उपसर्ग-परीषह आये बिना नहीं रहते हैं। जिस तरह पैर में काँटा लगने का कारण भागकर चलना नहीं, किन्तु असावधानी है। इसी प्रकार मोक्ष-मार्ग पर चलकर कोई घोर उपसर्ग और परीषहों से आहत हो जाए, तो उसका दोष संयम-तप को नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि साधु-सन्तों ने तो ऐसे घोर उपसर्ग समताभाव पूर्वक शमन किए थे, जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। और परीषह तो उनके जीवन का ही अंग है। वास्तव में आहत या विचलित होने का कारण आत्मा की अस्थिरता या चारित्र की कमजोरी है; न कि संयम-तप की साधना है। संयम से तो आत्मस्वभाव में गुप्त होते हैं और ध्यान की अग्नि में तप तपकर, आत्मा का शोधन कर उसे निर्मल करते हैं।

---

1. **अ** आगउ; **क, द, ब, स** अग्गउ; 2. **अ, ब, स** जोवंताहं; **क, द** जोयंताहं; 3. **अ** भाजइ पाइ जइ; **क** भग्गइ पाउ जइ; **द** भज्जउ पाइ जइ; **ब** भग्गउ पाइज्जइ; **स** भग्गउ पाउ जइ; 4. **अ, क, द** भज्जउ; **ब, स** भग्गउ; 5. **अ, क, स** ण ताहं; **द** कु ताहं; **ब** ण ताहिं।

मेल्लउ मेल्लउ[1] मोक्कलउ[2] जहिं भावइ तहिं जाउ।
सिद्धिमहापुरि पइसरउ मा करि हरिसु विसाउ ॥49॥

शब्दार्थ—मेल्लउ मेल्लउ—छोड़ो, छोड़ो; मोक्कलउ—उन्मुक्त (कर दो); जहिं—जहाँ भावइ—अच्छा लगता है; तहिं—वहाँ; जाउ—जाओ; सिद्धिमहापुरि—मुक्ति-नगरी में; पइसरउ—प्रति अग्रसर; मा करि—मत करो; हरिसु—हर्ष; विसाउ—विषाद।

अर्थ—छोड़ो, छोड़ो! (मन को सहज रूप से) स्वतन्त्र उन्मुक्त कर दो। जहाँ अच्छा लगे, वहाँ जाने दो। जब मुक्ति नगरी की ओर अग्रसर हो गए हो, तब हर्ष-विषाद मत करो।

भावार्थ—साधु-सन्त को ध्यान में रखकर यह कहा जा रहा है कि मुक्ति-नगरी की यात्रा हठयोग से नहीं हो सकती है; सहजयोग से ही सम्भव है। आचार्य अमितगति स्पष्ट कहते हैं—"पाँचों इन्द्रियों के विषय अचेतन होने से आत्मा का कोई उपकार या अनुपकार नहीं करते हैं।" (योगसार, 5, 28) देह को तपाने या कायक्लेश का उल्लेख होने पर भी यह समझ लेना चाहिए कि कायक्लेश और कायक्लेशतप में अन्तर है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि समता भाव से सहन किया गया परीषह है और स्वयं आचरित किया गया कायक्लेश है। (सर्वार्थसिद्धि अ. 19, सू. 19, 439) जैनधर्म में बालतप का निषेध इसलिए किया गया है कि वह अज्ञानता से हठपूर्वक किया जाता है। कायक्लेश से दुःख का अनुभव होता है और उस अनुभव से पाप का आस्रव होता है। यद्यपि तप से इन्द्रियदमन होता है, किन्तु वह स्वेच्छा से तथा आत्मशुद्धि के लिए होने से सहज होता है; बलात् तथा हठपूर्वक नहीं होता है, जिससे दुःखदायक भी नहीं होता। तप की भावना ही वेग से विषय-सुख की ओर दौड़ने वाली इन्द्रियों को नियन्त्रित कर देती है। अतः बलपूर्वक दमन करने की बजाय सहज आनन्द की प्राप्ति होना ही तप का वास्तविक लक्षण है। आचार्य पूज्यपाद के शब्दों में—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खीयते ॥ समाधिशतक, श्लो. 34

अर्थात—आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से उत्पन्न हुए आनन्द से जो आनन्दित है, वह तप के द्वारा उदय में लाए हुए भयानक दुष्कर्मों के फल को भोगता हुआ भी खेद को प्राप्त नहीं होता।

---

1. **अ, स** मेल्लउ मेल्लउ; **क, द, ब** मिल्लहु मिल्लहु; 2. **अ** मोकलउ; **क, द, ब, स** मोक्कलउ।

मणु मिलियउ परमेसरहं[1] परमेसरु वि[2] मणस्स।
विण्णि वि समरसि हुइ रहिय[3] पुज्ज चढाउं[4] कस्स ॥50॥

शब्दार्थ—मणु—मन; मिलियउ—मिल गया, जुड़ गया; परमेसरहं—परमेश्वर से; परमेसरु वि—परमेश्वर भी; मणस्य—मन का (हो गया); विण्णि वि—दोनों ही; समरसि—समरस, एकरस; हुइ रहिय—हो रहे; पुज्ज—पूजा; चढाउं—चढ़ाऊँ; कस्स—किस (को);

अर्थ—मन परमात्मा से मिल गया है और परमात्मा मन से (मन के विलीन होने से) मिल गया है। दोनों एक समरस भाव को प्राप्त हो रहे हैं। इसलिए मैं पूजा किसकी करूँ? अर्थात् पूजा की सामग्री किसमें समारोपित कर चढ़ाऊँ?

भावार्थ—जब तक परमात्मा का परिचय, अवलोकन, दर्शन मात्र होता है, तब तक पूज्य-पूजक व्यवहार रहता है। वास्तव में तो पूजा करने वाला प्रशस्त मन यजमान है। किन्तु जब मन विशेष ज्ञान-ध्यान की स्थिति में भगवान् आत्मा में विलय को प्राप्त हो जाता है और दोनों समरस हो जाते हैं, तब पूज्य-पूजक का व्यवहार समाप्त हो जाता है। इसलिए जैनधर्म में साधु-सन्तों के लिए सामग्री चढ़ाकर पूजा करने का विधान नहीं है। उनके नियम से निश्चयभक्ति होती है।'परमात्मप्रकाश' के दो क्षेपक दोहों में (1, 123,2) एक यह दोहा भी मिलता है जो 'पाहुडदोहा' से सम्मिलित किया गया प्रतीत होता है। दोनों क्षेपक दोहे मुनि रामसिंह के 'पाहुडदोहा' के ही हैं। उक्त दोहे का भावार्थ लिखते हुए टीकाकार ब्रह्मसूरि कहते हैं—जब तक मन भगवान् से नहीं मिला था, तब तक पूजा करता था और जब मन प्रभु से मिल गया, तब पूजा का प्रयोजन नहीं रहा। व्यवहार में गृहस्थ अवस्था में विषय-कषाय रूपी खोटे ध्यान से बचने के लिए पूजा, दान आदि की प्रवृत्ति होती है, तथापि वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन साधुओं के बाहरी व्यापार का अभाव होने से द्रव्यपूजा का प्रसंग नहीं आता है। वे भावपूजा में तन्मय होते हैं।

यहाँ पर आत्मा-परमात्मा की अद्धैत स्थिति का वर्णन होने से रहस्यानुभूति स्पष्टतः अभिव्यंजित है।

---

1. **अ, क, ब, स** परमेसरहं; **द** परमेसरहो; 2. **अ** वि; **क, द, ब, स** जि; 3. **अ** रहिया; **क, द, ब, स** रहिय; 4. **अ, ब, स** पुज्ज चडाउं; **क, द** पुज्ज चडावउं।

आराहिज्जइ काइं[1] देउ[2] परमेसरु[3] कहिं गयउ।
वीसारिज्जइ काइं तासु जो सिउ सव्वंगउ ॥51॥

शब्दार्थ—आराहिज्जइ—आराधना की जाती (है); काइं—क्या; देउ—देव; परमेसरु—परमात्मा; कहिं गयउ—कहीं चला गया है; वीसारिज्जइ—विसारा जा सकता (है); विस्मृत किया जाता है; काइं—क्या; तासु—उस (को); जो; सिउ—शिव; सव्वंगउ—सर्वांग (में व्याप्त है)।

अर्थ—क्या देव कहीं बाहर चला गया है जो उसकी आराधना की जाए? जो शिव (भगवान् आत्मा) सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, उसका विस्मरण कैसे किया जा सकता है?

भावार्थ—आराधना कोई भी जीव कर सकता है। वास्तव में आराधना शुद्धात्म-स्वभाव या परमात्मा की होती है। आराधक आराध्य से भिन्न होता है। लेकिन यहाँ पर भगवान् आत्मा (कारण परमात्मा) आराध्य है और शुद्धात्मसेवी (साधु) जीव स्वयं आराधक है। इसलिए यह कहा गया है कि सारे शरीर में व्याप्त होकर रहने वाला ज्ञान-दर्शन-स्वभावी आत्मा सदा अपने असंख्यात प्रदेशों में रहता है। वह शरीर से निकलकर दो-चार घण्टे के लिए भी कहीं बाहर नहीं जाता। इसलिए अपने में रहने वाले को कौन भूल सकता है? इसी बात पर कवि ने व्यंग्य किया है कि जो सारे शरीर में व्याप्त है, उसे कैसे भूल सकते हैं?

'शिव' का अर्थ आत्म-स्वभाव है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान-आनन्द है। ज्ञान आत्मा के सभी गुणों में तथा उसके सभी प्रदेशों में व्याप्त है। अतः ज्ञानी जीव राग, मोहादि को भूल सकता है, लेकिन ज्ञानस्वरूपी अपने रूप को कैसे भूल सकता है? यथार्थ में उस परमात्म तत्त्व का चिन्तन-मनन, स्मरण कर उसमें रमण करना ही सच्ची आराधना है। कहा भी है—

> समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं।
> तह चारित्तं धम्मो सहाव-आराहणा भणिया ॥
>
> —बृहत् नयचक्र, गा. 356

अर्थात्—समता तथा माध्यस्थ, शुद्ध भाव और वीतरागता, चारित्र तथा धर्म ये सब स्वभाव की आराधना कहलाते हैं। अतः निज शुद्धात्म-स्वभाव में लीन रहना सम्यक् आराधना है।

---

1. अ काइ; क, द, ब, स काइं; 2. अ, क, स देउ; ब दिउ; 3. अ, द, ब परमेसरु; क, स परमेसरहं।

अम्मिए जो परु सो जि परु परु अप्पाण ण होइ।
हउं डज्झउ[1] सो उव्वरइ वलिवि ण जोवइ सोइ[2] ॥52॥

शब्दार्थ—अम्मिए—ओहो!; जो; परु—पर, अन्य; सो जि—वह तो; परु, परु—अन्य; अप्पाण—अपना; ण होइ—नहीं होता (है); हउं—मैं; डज्झउ—दग्ध हो गया; सो उव्वरइ—वह उबर जाता है; वलिवि—लौटकर; ण जोवइ—नहीं देखता (है); सोइ—वह।

अर्थ—ओहो! जो पर (अन्य) है, वह पर ही है। पर अपना (आत्मा) नहीं हो सकता। क्योंकि मैं दग्ध (संतप्त) हो जाता हूँ और वह उबर जाता है। फिर वह लौटकर भी नहीं देखता।

भावार्थ—इन्द्रियों के माध्यम से जो भी देखने-जानने में आता है, वह सब 'पर' है। पर का अर्थ है—अपने से भिन्न। मकान, बाल-बच्चे, शरीरादि तो भिन्न ही हैं, लेकिन मन और राग-द्वेष, मोहादि (क्रोध, मान, माया, लोभ आदि) भाव भी आत्मा से भिन्न हैं। जो अपने से अलग हैं और अपने संग में हैं, वे कभी भी हमेशा के लिए अपने से अलग किए जा सकते हैं, लेकिन जो आप स्वयं 'स्व' है, वह किसी भी प्रकार से अलग नहीं हो सकता है और न किसी उपाय से अलग किया जा सकता है। पर के बारे में सोचने से चिन्ता होती है। चिन्ता सन्ताप का कारण है।

यथार्थ में 'पर' दुःख का कारण नहीं है, किन्तु पर में एकत्व बुद्धि ही दुःख का कारण है। विश्व में हजारों की संख्या में प्रतिदिन प्राणियों का जन्म-मरण होता है, लेकिन जिनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, उनमें एकत्व बुद्धि नहीं है और इसलिए उनके चल बसने पर हमें कोई दुःख नहीं होता है।

एकत्व बुद्धि में 'अहं' भाव ही मुख्य है। जब तक अहंकार है, तब तक संसार है। अहंकार का विसर्जन हो जाने पर 'अहं' चला जाता है, आत्मा का अस्तित्व फिर भी बना रहता है। 'पर' में अहं बुद्धि के हटते ही संसार की रुचि समाप्त हो जाती है, इसलिए साधु-सन्त, योगी उस ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते।

उक्त दोहे में आत्मा और परमात्मा की अद्वैत स्थिति का वर्णन किया गया है। दोनों का अभेद वर्णन बहुत कम शब्दों में भावपूर्ण लक्षित होता है। कवि का भावार्थ यह है कि परमात्मतत्त्व उपादेय है। उसके सिवाय सब कुछ त्याज्य तथा हेय है।

---

1. **अ, स** डज्झउं; **क, द, ब** डज्झउ; 2. **अ, क** तो वि; **द, ब** तोइ; **स** सोइ।

मूढा सयलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ।
जीवहु[1] जंत[2] ण कुडि गयइ[3] यहु[4] पडिछंदा[5] जोइ ॥53॥

शब्दार्थ—मूढा—मूढो! (सम्बोधन); सयलु वि—सभी (कुछ); कारिमउ—कर्म-रचना; णिक्कारिमउ—कर्म- निर्माण से रहित; ण कोइ—कोई नहीं है; जीवहु—जीव के; जंत—जाते (ही); ण कुडि—कुटिया (शरीर); गयइ—गया; यहु—यह; पडिछंदा—प्रतिच्छंद, स्थानापन्न; जोइ—देखता है।

अर्थ—हे मूढो! यह सब (शरीर, मन-वचन, सुख-दुःख आदि) कर्म की रचना है। बिना कर्म के किसी की उत्पत्ति नहीं है—(अर्थात् जन्म-मरण कर्म के कारण हैं।) इसी दृष्टान्त को देख लो कि जीव के शरीर से निकलकर चले जाने पर उसके साथ शरीर नहीं जाता।

'परमात्मप्रकाश' की टीका में 'कारिमउ' का अर्थ 'कृत्रिम' तथा 'णिक्कारिमउ' का अर्थ अकृत्रिम किया गया है।

भावार्थ—उक्त दोहा 'परमात्मप्रकाश' के द्वितीय अधिकार के 128 दोहे का पहला चरण है और शेष तीनों चरण उसके बाद के दोहे (2, 129) के हैं। इन दोनों दोहों में कहा गया है—हे मूढ जीव! शुद्धात्मा के सिवाय अन्य सब विषयादिक विनाशशील हैं। संसार में सभी विनश्वर हैं, देहादि समस्त सामग्री विनाशीक है। अकृत्रिम कोई भी वस्तु नहीं है। शरीर से जीव के निकल जाने पर उसके साथ शरीर नहीं जाता। इस दृष्टान्त को प्रत्यक्ष देखो।

हे योगिन्! टंकोत्कीर्ण अमूर्तिक पुरुषाकार ज्ञायक स्वभावी अकृत्रिम वीतराग परमानन्दस्वरूप आत्मा केवल अविनाशी है, शेष सब विनश्वर हैं। जैसा शुद्ध, बुद्ध परमात्मा अकृत्रिम है, वैसा देहादि में से कोई भी नहीं है, सब क्षणभंगुर हैं। इसलिए देहादि की ममता छोड़कर सम्पूर्ण विभाव (रागादि) भावों से रहित निज शुद्धात्म पदार्थ की भावना भानी चाहिए।

उक्त दोहे में 'कारिमउ' का अर्थ 'कर्मकृत' अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, हास्य, शोक आदि भाव एवं शरीर, घर-द्वार, दुकान-मकान, बाहरी वैभव, पद आदि तथा भोजन, वस्त्रादि सभी कर्म की रचना है।

---

1. **अ** जीवहो; **क, द, ब, स** जीवहु; 2. **अ, क, ब, स** जंत; **द** जंतु; 3. **अ, द, ब, स** कुडि गयइ; **क** कुडि गइय; 4. **अ, स** यहु; **द** इउ; **क, ब,** इहु; 5. **अ** परिछंदा; **क, द, ब, स** पडिछंदा।

देहादेवलि[1] जो वसइ सत्तिहिं सहियउ[2] देउ।
को तहिं जोइय सत्तिसिउ सिग्घु गवेसहि[3] भेउ ॥54॥

शब्दार्थ—देहादेवलि—देह (रूपी); देवालय में; जो; वसइ—रहता है; सत्तिहिं—शक्ति से; सहियउ—सहित; देउ—देव; को—कौन; तहिं—वहाँ; जोइय—योगी; सत्तिसिउ—शक्ति (मान) शिव; सिग्घु—शीघ्र; गवेसहि—खोजो; भेउ—भेद, रहस्य।

अर्थ—देह रूपी देवालय में जो शक्तियों से सहित देव वसता है; हे जोगी! वह शक्तिमान् शिव कौन है? इस रहस्य की शीघ्र ही गवेषणा, खोज कर।

भावार्थ—लोक में सब कहते यही हैं कि यदि आत्मशक्ति न हो, तो शरीर-शक्ति अथवा अस्त्र-शस्त्र की शक्ति क्या कर सकती है? बात भी ठीक है। यह सम्पूर्ण सृष्टि शक्तिमान् से संचालित है। यदि शक्ति न हो, तो फिर शक्तिमान् का भी क्या अस्तित्व है? इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य गुण की शक्ति से क्रियाशील है। उसे ही वस्तु की योग्यता कहते हैं। योग्यता का अर्थ है—पर्यायों को प्राप्त करने की शक्ति। क्षयोपशम (ज्ञान-दर्शनादि गुणों को ढँकने वाले कर्म के क्षय तथा उपशम) से प्रकट होने वाली शक्ति को भी योग्यता कहते हैं। किन्तु स्वाभाविक शक्ति के सन्दर्भ में कारण के कार्य को उत्पन्न करने वाली स्वाभाविक शक्ति को योग्यता कहते हैं। यद्यपि धान के बीज और धान के अंकुरों में भिन्न-भिन्न समय में वृत्तिपने की समानता होने पर भी साठी चावल के बीज की ही धान के अंकुरों को पैदा करने की शक्ति है। कोई चाहे कि जौ के बीज से धान पैदा कर लिया जाए, तो सम्भव नहीं है। अतः द्रव्य के परिणमन में उसकी योग्यता ही कारण है। वास्तव में शक्तियों का प्रतिनियम पदार्थ के अपने स्वभाव से हो जाता है। (श्लोकवार्तिक 1, 1, 1, 126)

निश्चित ही परमात्मा शक्तिमान शिव है। उसे ही भगवान् समझना चाहिए।

मुनिश्री योगीन्दुदेव कहते हैं कि दुनिया के लोग यह कहते हैं कि जिनदेव तीर्थ में और मन्दिर में विराजमान हैं। परन्तु कोई विरला पण्डित ही यह समझता है कि जिनदेव तो देहरूप देवालय में विराज रहे हैं। (योगसार, दो. 45) अतः अपने शरीर रूपी मन्दिर में आत्मदेव को पहचानना योग्य है।

---

1. **अ, द, ब, स** देहादेवलि; **क** देहादेउलि; 2. **अ** सहिउ; **क, द, ब, स** सहियउ; 3. **अ, क, द, स** गवेसहि; **ब** गवेसइ।

जरइ ण मरइ ण संभवइ जो परि[1] को वि अणंतु।
तिहुवणसामिउ[2] णाणमउ[3] सो सिवदेउ[4] णिभंतु ॥55॥

शब्दार्थ—जरइ—जीर्ण (जूना) होता; ण मरइ—न मरता है; ण संभवइ—न उत्पन्न होता है; जो; परि—परे; को वि—कोई; अणंतु—अनन्त; तिहुवणसामिउ—त्रिभुवन के स्वामी; णाणमउ—ज्ञानमय; सो—वह; सिवदेउ—शिवदेव; णिभंतु—निर्भ्रान्त (है)।

अर्थ—जो न जूना-पुराना होता है, न मरता है और न उत्पन्न होता है, जो सबसे परे कोई अनन्त ज्ञानमय त्रिभुवन का स्वामी है, वह निर्भ्रान्त शिवदेव है। (अर्थात् त्रैकालिक ध्रुव, एक, अखण्ड, निष्क्रिय चैतन्य ज्योति मात्र परमात्म रूप है।)

निश्चय नय की दृष्टि में शक्ति रूप परमात्मा का नाम शिव है। वह सदा शिव अर्थात् मुक्त स्वरूप है, इसलिए परमात्मा है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में वीतराग सहज परमानन्द रूप सुख 'शिव' शब्द का वाच्य है। 'शिव' का अर्थ परम कल्याण भी है। लेकिन ये सभी वाचक शब्द निर्वाण या मुक्ति अर्थ के प्रतिपादक हैं। कहा भी है—

"शिवं परमसौख्यं परम कल्याणं निर्वाणं चोच्यते।"

—समाधिशतक टीका 2, 25

आचार्य गुणभद्र कहते हैं—

अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः।
देह मात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोदूर्ध्वमचलः प्रभुः ॥

—आत्मानुशासन, श्लोक 266

अर्थात्—यह आत्मा कभी पैदा नहीं हुआ इससे अजन्मा है, कभी नाश नहीं होगा इससे अविनाशी है, अमूर्तिक है, अपने स्वभाव का कर्ता, अपने सहज सुख का भोक्ता है, परम सुखी है, ज्ञानी है, शरीर मात्र आकार का धारक है, कर्म रूपी मलों से रहित, लोक के अग्र भाग में ठहरने वाला, अचल, परमात्मा (प्रभु, शिव) है।

---

1. अ, पर; द, ब, स परु; क परि; 2. अ तिहूअण सामी; क, द, ब, स तिहुवणसामिउ; 3. अ णाणमउं; क, द, ब, स णाणमउ; 4. अ, क, स सिउदेउ; द सिवदेउ; ब सिवदेव।

सिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ[1] पुणु सत्तिविहीणु।
दोहिं वि[2] जाणइ सयलु जगु बुज्झइ मोहविलीणु ॥56॥

शब्दार्थ—सिव—शिव; विणु—बिना; सत्ति—शक्ति; ण—नहीं; वावरइ—व्यापार होता है; सिउ—शिव; पुणु—फिर; सत्तिविहीणु—शक्ति (से); विहीन; दोहिं वि—दोनों को ही; जाणइ—जानता है; सयलु जगु—सम्पूर्ण जगत; बुज्झइ—जानता है; मोहविलीणु—मोह विलीन (हो जाता है)।

अर्थ—शिव के बिना शक्ति का व्यापार नहीं होता और शक्ति से रहित शिव कुछ नहीं कर सकता। इन दोनों को जान लेने पर सम्पूर्ण जगत् मोह में डूबा हुआ समझ में आने लगता है और मोह विलीन हो जाता है।

भावार्थ—रहस्यवाद का मूल अभिप्राय उक्त दोहे में निहित है। 'शिव' का यहाँ पर अभिप्राय है—परम सुख या अतीन्द्रिय पूर्ण ज्ञानानन्द। प्रत्येक आत्मा का स्वभाव ज्ञानानन्द है। बिना शक्ति तथा गुणों के कोई द्रव्य नहीं है और जो भी द्रव्य है, वह परिणमनशील है। प्रत्येक द्रव्य का व्यापार उसके अपने परिणमन स्वभाव से होता है। उसके अपने परिणमन में कोई अन्य शक्ति या द्रव्य कारण नहीं होता; स्वभाव स्वयं कारण है। इसलिए स्वभाव रूप परिणमन सिद्ध भगवान् में भी पाया जाता है। यदि बीज में शक्ति न हो, तो मिट्टी में डालने के बाद अंकुरण होना, फूटना, पौधा बनना, पत्ते, फल-फूल लगना कैसे सम्भव है? अतः प्रत्येक द्रव्य अपनी योग्यता से विकसित होता है। अनेक बीज एक साथ एक-सी उर्वरक भूमि में एक ही समय में बोये जाते हैं, लेकिन कुछ विकसित, अर्द्ध विकसित या विशेष रूप से विकसित होते देखे जाते हैं।

परम सुखमय निर्वाण को 'शिव' कहते हैं। जिसने बाधा रहित, अक्षय, अनन्त सुख को प्राप्त कर लिया है, वह भी शिव है। कहा भी है—

शिवं परमकल्याणं निर्वाणं ज्ञानमक्षयम्।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ॥ द्रव्यसंग्रह, गा. 14 टीका

यदि वस्तु में स्वतः शक्ति न हो, तो उसे कोई बना नहीं सकता, वस्तु में डाल नहीं सकता। बिना शक्ति के वस्तु का विकास नहीं हो सकता। वस्तु की शक्ति पर की अपेक्षा नहीं रखती। (समयसार कलश, 119)

इसलिए वस्तु की प्रकाशक तथा विकासक स्वतः उसकी शक्ति है।

---

1. अ, क, द, स सिउ; ब सिव; 2. अ दोहिमि; ब, स दोहिम्मि; क, द दोहिं मि।

अण्णु तुहारउ णाणमउ लक्खिउ जाम ण भाउ।
संकप्प-वियप्प[1] अणाणमउ[2] दड्ढउ चित्तु वराउ ॥57॥

शब्दार्थ—अण्णु—अन्य, दूसरा; तुहारउ—तुम्हारा; णाणमउ—ज्ञानमय; लक्खिउ—लखा; अनुभव किया; जाम ण—जब तक नहीं; भाउ—(स्व) भाव (को); संकप्प-वियप्प—संकल्प-विकल्प; अणाणमउ—अज्ञानमय; दड्ढउ—दग्ध हो गया; चित्तु—चित्त; वराउ—बेचारा।

अर्थ—जब तक तुमने अपने ज्ञान भाव को नहीं लखा है, तब तक बेचारा चित्त अज्ञानमय संकल्प-विकल्प से दग्ध होता रहेगा।

भावार्थ—ज्ञान का ज्ञानमय देखना (लखना) ही शुद्धात्मा की स्वसंवेद्य ज्ञानानुभूति या आत्मानुभूति है। वास्तव में आत्मा अनुभव की वस्तु है। आत्मा को शब्दों से भली-भाँति नहीं बताया जा सकता, लौकिक भावों से नहीं समझाया जा सकता और प्रवचनों से भी वह समझ में नहीं आता। आत्मा को केवल स्वानुभव से समझ सकते हैं। वास्तव में निज शुद्धात्मा की अनुभूति तत्त्व के अभ्यास से ही सम्भव है। कुछ जिनागम के पाठी ऐसा कहने लगे हैं कि मिथ्यात्व व अज्ञान की दशा में अशुद्ध ज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभव कैसे हो सकता है? यह तो सत्य है कि मिथ्यात्व व अज्ञान से आत्मानुभव नहीं होता; लेकिन अशुद्ध ज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभव हो सकता है। आचार्य जयसेन के अभिप्राय के अनुसार केवलज्ञान शुद्ध होता है और छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) का ज्ञान अशुद्ध है। अतः वह शुद्ध केवल ज्ञान का कारण नहीं हो सकता। लेकिन आचार्य जयसेन का कथन है—"ऐसा नहीं है। छद्मस्थ के ज्ञान में कथंचित् (किसी अपेक्षा से) शुद्धाशुद्धत्व होता है। वह इस प्रकार है कि केवलज्ञान की अपेक्षा तो वह शुद्ध नहीं है, तथापि मिथ्यात्व रागादि से रहित होने के कारण तथा वीतराग सम्यक्चारित्र से सहित होने के कारण वह शुद्ध भी है।" (देखिए, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भा. 1, पृ. 86) संक्षेप में यही समझना चाहिए कि शुक्लध्यान रूप स्वसंवेदनज्ञान इस काल में इस क्षेत्र में किसी को भी नहीं होता है, किन्तु धर्मध्यान रूप स्वसंवेदन ज्ञान किसी भी अन्य जीव के हो सकता है। (समयसार, गा. 10 तात्पर्यवृत्ति टीका)

वास्तव में सामायिक, धर्मध्यान के काल में गृहस्थों (श्रावकों) के शुद्धभावना देखी जाती है और उस अशुद्ध अवस्था में शुद्ध ध्येय तथा शुद्ध का अवलम्बन होने से शुद्धोपयोग घटित होता है। (द्रव्यसंग्रह, गा. 34) इसमें सिद्धान्त यह है कि

---

1. **अ, क, द, स** संकप्पवियप्पिउ; **ब** संकविअप्पउ; 2. **अ** णाणमइ; **क, द, ब, स** णाणमउ।

सम्यग्दृष्टि को स्वानुभूति का आवरण करने वाले कर्म का क्षयोपक्षय अवश्य होता है। सम्यक्त्व होते ही आवरण करने वाले कर्म का नाश हो जाता है। (दे. धर्मपरीक्षा, श्लोक 407, 846) पण्डितप्रवर टोडरमल जी के शब्दों में "बहुरि नीचली दशा विषैं केई जीवनि कै शुभोपयोग अर शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइए है। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कह्या है।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृ. 310, दिल्ली संस्करण)

णिच्चु णिरामउ णाणमउ परमाणंदसहाउ।
अप्पा बुज्झिउ जेण परु[1] तासु ण अण्णु[2] हि भाउ ॥58॥

शब्दार्थ—णिच्चु—नित्य; निरामउ—निरामय; णाणमउ—ज्ञानमय; परमाणंद-सहाउ—परमानन्द स्वभावी; अप्पा—आत्मा; बुज्झिउ—जाना, समझा; जेण—जिसने, जिसके द्वारा; परु—फिर; तासु—उसके; णं—नहीं; अण्णु—अन्य; हि—ही; भाउ—भाव।

अर्थ—परमानन्द स्वभावी नित्य, निरामय, ज्ञानमय आत्मा को जिसने जान लिया, उसके फिर अन्य कोई भाव नहीं रहता।

भावार्थ—'बूझने' या 'जानने' का अर्थ यहाँ पर अनुभव करने से है। आचार्य अमृतचन्द्र स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि एक परमार्थ का ही चिन्तवन करना चाहिए। उनके शब्दों में—

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चिन्त्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥
—समयसारकलश, श्लोक सं. 244

पं. जयचन्द जी छावड़ा के अनुसार—

"व्यवहारनय का तो विषय भेदरूप है। सो अशुद्ध द्रव्य है। सो परमार्थ नाहीं। अर निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है सो परमार्थ है। सो जे व्यवहार ही कूं निश्चय मानि प्रवर्ते हैं तिनिकै समयसार की प्राप्ति नाहीं है। अर जे परमार्थ कूं परमार्थ जाने हैं तिनि के समयसार की प्राप्ति होय है। ते ही मोक्षकूं पावे हैं। आचार्य कहे हैं, जो अति बहुत कहने करि अर बहुत दुर्विकल्पनि करि तौ पूरि पडो। इस अध्यात्म ग्रन्थ विषैं यह परमार्थ है, सो ही एक निरन्तर अनुभवन करना। जातैं निश्चय करि अपने रस का फैलाव करि पूर्ण जो ज्ञान ताका स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार परमात्मा तिस सिवाय अन्य किछू भी सार नहीं है। पूर्ण ज्ञानस्वरूप

---

1. अ, क, द, स परु; ब पर; 2. अ, क अण्णहि; ब अण्णहिं; द, स अण्णु हि।

आत्मा का अनुभवन करना। निश्चय करि इस उपरान्ति किछू भी सार नाहीं है।"

(समयप्राभृत, नई दिल्ली, 1988, पृ. 600)

यह कथन तो अब स्पष्ट हो गया है कि जो भी आचार्य अमृतचन्द्र या जयसेनाचार्य की टीका का निष्पक्ष रूप से अध्ययन करता है, वह यह मानता है कि चतुर्थ गुणस्थान में स्वानुभूति अवश्य होती है। मुनिश्री वीरसागर जी के शब्दों में–

"श्रीजयसेनाचार्यजी आगम भाषा और अध्यात्म भाषा का मिलान दिखाते हुए कहते हैं कि स्वानुभूति से ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है याने स्वानुभूति होती है, तो ही दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों का उपशम-क्षयोपशम होता है। स्वानुभूति नहीं होती तो मिथ्यादृष्टि है, वह चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती नहीं है।"

(समयसार, अनुवादक श्रीवीरसागरजी महाराज, सोलापुर, 1983, पृ. 387)

अम्हहिं[1] जाणिउ एकु जिणु जाणिउ देउ अणंतु।
णवरि सु[2] मोहें[3] मोहियउ अच्छइ दूरि भमंतु[4] ॥59॥

शब्दार्थ–अम्हहिं–हमने, हमारे द्वारा; जाणिउ–जाना (गया); एक जिणु–एक जिन (देव); जाणिउ–जान लिया; देउ–देव; अणंतु–अनन्त; णवरि–केवल; सु मोहें–भलीभाँति मोह से; मोहियउ–मोहित; अच्छइ–है; दूरि-दूर; भमंतु–घूमता हुआ।

अर्थ–यदि हमने एक जिनदेव को जान लिया, तो अनन्त देवों को जान लिया। मोह (मिथ्यात्व) में मत चल। जो केवल दर्शनमोह से मोहित है, वह दूर ही घूमा करता है अर्थात् कभी जिनदेव के पास नहीं आता।

यथार्थ में जिनदेव अनन्त हैं। किन्तु उन जिनदेवों में कोई भेद नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी जिनदेव होता है। जो पूर्णतः वीतरागी और सर्वज्ञ नहीं है, वह जिनदेव नहीं है। वस्तुतः जैसा एक जिनदेव होता है, वैसे ही अनन्त जिनदेव होते हैं। उनमें लक्षण-भेद नहीं पाया जाता। इसलिए जिसने एक जिनदेव को सम्पूर्ण रूप से जान लिया, उसने सभी जिनदेवों को जान लिया। क्योंकि सभी जिनराज 'शंकर' अर्थात् सहज सुखकारक हैं। श्रीपद्मनन्दि मुनि कहते हैं–

अव्वावाहमणंतं जम्हा सोक्खं करेइ जीवाणं।
तम्हा संकर णामो होइ जिणो णत्थि संदेहो ॥–धम्मरसायण, गा. 125

अर्थात्–जिनेन्द्र के स्वरूप के ध्यान से जीवों को बाधा रहित, अनन्त,

---

1. अ, ब अम्हह; क, स अम्हहं; द अम्हहिं; 2. अ, द, स णवरि सु; क ण चरिसु; ब णवर सु; 3. अ मोहि; क, द, ब, स मोहे; 4. अ, द, स भमंतु; क भवंतु; ब भमंत।

वास्तविक सहज सुख उपलब्ध होता है, इसलिए उस जिनेन्द्र को 'शंकर' नाम से भी कहते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

जिनदेव कहीं बाहर में नहीं अपने ही घट में भगवान् आत्मा के रूप में विराजमान हैं। किन्तु हम उनके दर्शन तब तक प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक दर्शनमोह (मिथ्यात्व) के आवरण से हमारे ज्ञानरूपी नेत्र बन्द हैं। आचार्य कुमुदचन्द्र के शब्दों में—"नूनं न मोहतिमिरावृत्तलोचनेन पूर्वं विभो सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।"

—कल्याण, 37

अर्थात् हे प्रभो! निश्चय से मोहान्धकार से आवृत होने के कारण इन नेत्रों से इसके पूर्व कभी एक बार भी आपके दर्शन नहीं हुए।

अप्पा केवलणाणमउ[1] हियडइ णिवसइ जासु।
तिहुवणि[2] अच्छउ मोक्कलउ पावु ण लग्गइ तासु ॥60॥

शब्दार्थ—अप्पा—आत्मा; केवलणाणमउ—केवलज्ञानमय; हियडइ—हृदय (में); णिवसइ—रहता है; जासु—जिसके; तिहुवणि—तीनों लोक में; अच्छउ—रहे, हो; मोक्कलउ—मुक्त; पावु—पाप; ण लग्गइ—नहीं लगता है; तासु—उसके।

अर्थ—जिसके हृदय में केवल ज्ञानमय आत्मा (पूर्ण वीतरागी) निवास करता है, वह तीनों लोकों में मुक्त है। उसे कोई पाप नहीं लगता।

भावार्थ—जब मोहरूपी अन्धकार दूर हो जाता है, तब ज्ञान-ज्योति का प्रकाश होता है; उसी समय अन्तरंग में सहज सुख का अनुभव होता है। जिसके स्मरण मात्र से ऐसी ज्ञान-ज्योति प्रकट होती है, उस परमात्मा का ध्यान कर। जो परम ज्योति परमात्मा में प्रकाशमान है, वही भगवान् आत्मा में भी विद्यमान है। लेकिन उस केवलज्ञान-ज्योति को हमने कभी भी एक समय की पर्याय में आज तक प्रकाशित नहीं की, इसलिए मोह के अन्धकार में रहते आये हैं। अब सम्यग्ज्ञान या आत्मज्ञान के प्रकाश में उस भगवान् आत्मा देव की शीघ्र ही इस देह के भीतर खोज कर। उस परम सत्य की खोज करने वाले को रंच मात्र भी पाप नहीं लगता।

यथार्थ में निज शुद्धात्मा के दर्शन करने से पूर्व संचित पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं और नया कर्म नहीं बँधता है। जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करने की भी यही महिमा है। आचार्य मानतुंग के शब्दों में—

---

1. **अ** केवलणाणमउं; **क, द, ब, स** केवलणाणमउ; 2. **अ** तिहूअण; **क, द, स** तिहुयणि; **ब** तिहुवणि।

त्वत्संस्तवेन भव-सन्तति–सन्निबद्धं
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्त-लोकमलि-नीलमशेषमाशु
सूर्यांशु-भिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥7॥

जिनवर की स्तुति करने से, चिरसंचित भविजन के पाप।
पलभर में भग जाते निश्चित, इधर-उधर अपने ही आप ॥
सकल लोक में व्याप्त रात्रि का, भ्रमर सरीखा काला ध्वान्त।
प्रातः रवि की उग्र किरण लख, हो जाता क्षण में प्राणान्त ॥

चिंतइ जंपइ कुणइ णवि जो मुणि बंधणहेउ।
केवलणाणफुरंततणु सो परमप्पउ देउ ॥61॥

शब्दार्थ–चिंतइ–चिन्ता करता है; जंपइ–कहता है; कुणइ–करता है; णवि–नहीं; जो मुणि–जो मुनि; बंधणहेउ–बन्धन के कारण; केवलणाणफुरंत-तणु–केवलज्ञान से स्फुरायमान शरीर (वाला); सो–वह; परमप्पउ देउ–परमात्मा देव (है)।

अर्थ–जो मुनि बन्धन के कारण की न तो चिन्ता करता है, न उसके सम्बन्ध में कहता है और न करता है (अर्थात् अपने स्वभाव में लीन रहता है), वह केवलज्ञान से स्फुरायमान तन सहित परमात्मदेव है।

भावार्थ–राग-द्वेष में चलने का नाम संसार है। संसार है तो उसमें रहना पड़ता है। संसार में रहना ही सांसारिक बन्धन है। बन्ध है तो बन्धन है। संसारी प्राणियों को पूर्व बाँधे कर्मों के उदय के अनुकूल सुख तथा दुःख होता है। मेरे मन में उनमें राग-द्वेष कदाचित् प्रकट नहीं होता–यह जानकर जो सुख-दुःख में समता भाव रखता है, वह बुद्धिमान पूर्व संचित कर्मों का क्षय करता है और नवीन कर्मों का संचय नहीं करता। आचार्य अमितगति के शब्दों में–

भवति भविनः सौख्यं दुःखं पुराकृतकर्मणः।
स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथम् ॥
मनसि समतां विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः।
क्षपयति सुधीः पूर्वः पापं चिनोति न नूतनम् ॥तत्त्वभावना, श्लोक 102

अशुभ भावों से नरकगति होती है, शुभ भावों से स्वर्ग मिलता है। किन्तु शुद्ध

1. **अ, क, ब, स** देउ; **द** भेउ।

भावों से यह जीव कर्म से रहित होकर प्रशंसनीय शिवपद (मुक्ति को) को प्राप्त करता है। इसलिए शुभ, अशुभ भावों से विरक्त होकर शुद्ध भाव ही करना योग्य है। शुद्ध भावों से ही आत्मा का विकास होता है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥—समयसारकलश, श्लोक 106

अर्थात् आत्मज्ञान के स्वभाव से वर्तना सदा ही ज्ञान में परिणमन करना है, क्योंकि वहाँ एक आत्मद्रव्य का ही स्वभाव है, इसलिए यही मोक्ष का साधन है। जब आत्मा निज स्वभाव में ही वर्तता है अर्थात् आत्मस्थ हो जाता है, तब मोक्ष का मार्ग प्रकट होता है।

अब्भिंतरचित्तु जु[1] मइलियइ[2] बाहिरि[3] काइं तवेण।
चित्ति[4] णिरंजणु[5] कोवि[6] धरि मुच्चहि जेम मलेण ॥62॥

शब्दार्थ—अब्भिंतरचित्तु—आभ्यन्तर चित्त; जु—जो; मइलियइ—मैला (है); बाहिरि—बाहर में; काइं—क्या; तवेण—तप द्वारा; चित्ति—चित्त में; णिरंजणु—निरंजन; कोवि—कोई; धरि—धारण करो; मुच्चहि—छुटकारा हो; जेम—जिस प्रकार; मलेण—मलिनता से।

अर्थ—जो चित्त भीतर में मैला है, उसके लिए बाहर में तप करने से क्या? उस निरंजन सिद्ध परमात्मा की चित्त में स्थापना कर जिससे मलिनता से छुटकारा हो।

भावार्थ—मिथ्याज्ञानी घोर तप करके जिन कर्मों को बहुत जन्मों में क्षय करता है, उन कर्मों को आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि मन, वचन, काय को रोक करके ध्यान के द्वारा एक अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है। (मोक्षपाहुड, गा. 53)

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि जो मोह के मैल को नाशकर इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर तथा मन को रोककर अपने स्वभाव में भली-भाँति स्थित होता है, वही आत्मध्यानी है। (प्रवचनसार, गा. 108)

संसारी जीवों का चित्त निरन्तर विषय-कषाय से मलिन हो रहा है। चित्त का मैल तत्त्वज्ञान से दूर हो सकता है। यदि शीशी भीतर में मैली है, तो बाहर में उसे कितनी ही बार क्यों न धोइए, वह उज्ज्वल नहीं हो सकती। इसी प्रकार बाहरी तप

---

1. **अ, क, द** अब्भिंतरचित्ति वि; **ब** अब्भिंतरि मणा; **स** अब्भिंतर चित्तु जु; 2. **अ** मलिइयइ; **क, द, स** मइलियइं, **ब** मईलियइ; 3. **अ, क, ब** बाहिर; **स, द** बाहिरि; 4. **अ, स** चित्तु; **क, द, ब** चित्ति; 5. **अ, द, स** णिरंजणु; **क, ब** णिरंजणि; 6. **अ** का वि; **क, द, ब, स** को वि।

वर्षों तक कीजिए, लेकिन तत्त्वज्ञान के बिना अन्तर की उज्ज्वलता प्रकट नहीं होती।

पं० द्यानतरायजी के शब्दों में–

इष्ट अनिष्ट पदारथ जे जगत माहिं,
तिन्हें देख राग-दोष-मोह नाहिं कीजिए।
विषय सेती उचटाइ त्याग दीजिए कषाय,
चाह-दाह धोय एक दशा माहिं भीजिए ॥

तत्त्वज्ञान को सँभार समता सरूप धार,
जीत के परीसह आनन्द-सुधा पीजिए।
मन को सुवास आनि नानाविध ध्यान ठानि,
अपनी सुवास आप आप माहिं भीजिए ॥द्यानतविलास, पद 51

अतः ब्रह्मज्ञान के द्वारा ही मलिनता से छुटकारा मिल सकता है।

जेण णिरंजणि मणु[1] धरिउ विसयकसायहिं[2] जंतु।
मोक्खह क़ारणु[3] एहु वढ[4] अवरइ तंतु ण मंतु ॥63॥

शब्दार्थ—जेण—जिसने, जिसके द्वारा; णिरंजणि—निरंजन में; मणु—मन; धरिउ—लगाया; विसयकसायहिं—विषय—कषयों में; जंतु—जाते हुए; मोक्खह—मोक्ष का; कारणु—कारण; एहु—यह; वढ—मूर्ख; अवरइ—और; तंतु ण मंतु—तन्त्र—मन्त्र नहीं (है)।

अर्थ—जिसने विषय-कषायों में जाते हुए अपने मन को शुद्ध उपयोग में स्थिर कर लिया, तो वही स्थिरता मोक्ष का कारण है। हे मूढ! अन्य किसी तन्त्र या मन्त्र आदि से मोक्ष नहीं मिलता।

भावार्थ—विषय-कषाय में लगने वाले अपने मन को जिस पुरुष ने निरंजन परमात्मा में लगा लिया है, स्थिर कर लिया है, सो वही मोक्ष का कारण है; अन्य मन्त्र, तन्त्र आदि कोई भी मोक्ष का कारण नहीं है।

यह दोहा 'परमात्मप्रकाश' में प्रक्षेपकों में से एक है जो मूल में 'पाहुडदोहा' का ही प्रतीत होता है। इसकी टीका में कहा गया है कि जो कोई निकट संसारी जीव शुद्धात्मतत्त्व की भावना से विपरीत विषय-कषायों में जाते हुए मन को वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान के बल से परिवर्तित कर निज शुद्धात्मद्रव्य में स्थापित

---

1. **अ, द, ब, स** मणु धरिउ; **क** धरिउ मणु; 2. **अ** विसयकसाया; **द, ब, स** विसयकसायहिं; 3. **अ** कारणि; **क, द, ब, स** कारणु; 4. **अ, क, ब, स** एहु वढ; **द** एत्तडउ।

करता है, वही मोक्ष को प्राप्त करता है। यह समझना व्यर्थ है कि मन्त्र-तन्त्र आदि से मोक्ष मिलता है। कोई पुरुष मन्त्रादि में कितना ही चतुर क्यों न हो, लेकिन उससे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। मोक्ष तो दूर रहा, बिना आत्मज्ञान-ध्यान के कोई मोक्ष-मार्गी नहीं हो सकता। आगम और परमागम में सर्वत्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकता को मोक्षमार्ग कहा है। निज शुद्धात्मा की प्रतीति (श्रद्धान) हुए बिना किसी को सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन का प्रमुख (ज्ञापक) लक्षण निज शुद्धात्मा का अनुभव ही है। यदि आत्मा का श्रद्धान नहीं हुआ; तो परमात्मा, शुद्धात्मा या परमतत्त्व का श्रद्धान नहीं होगा और परमार्थ से तत्त्व जाने बिना परमार्थभूत देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान नहीं हो सकता। तब फिर सम्यक्दर्शन कैसे हो सकता है? इसलिए आत्मा को जानना, पहचानना, अनुभव करना ही मुख्य लक्षण है।

खंतु[1] पिवंतु[2] वि जीव जइ पावहि सासयमोक्खु।
रिसहु भडारउ[3] किं चवइ सयलु वि इंदियसोक्खु ॥64॥

शब्दार्थ—खंतु—खाते हुए; पिवंतु वि—पीते हुए भी; जीव; जइ—यदि; पावहि—पाते हो; सासय—शाश्वत; मोक्खु—मोक्ष; रिसहु भड़ारउ—ऋषभ भट्टारक, पूज्य वृषभदेव, आदिनाथ; किं—क्यों; चवइ—त्यागा है; सयलु वि—सभी; इंदिय सोक्खु—इन्द्रियसुख।

अर्थ—हे जीव! यदि तुम खाते-पीते हुए शाश्वत मोक्ष पाना चाहते हो (तो यह तुम्हारी भूल है), तो महाराज ऋषभदेव ने सम्पूर्ण इन्द्रियों का सुख क्यों त्यागा? (वास्तव में सुख इन्द्रियों में नहीं, अपने अतीन्द्रिय निर्विकल्प स्वभाव में है।)

भावार्थ—संसार में रहने वाले सामाजिक प्राणी स्त्री-पुरुष ही नहीं, पशु-पक्षी, कीट-पतंगे भी अपनी भूख-प्यास शान्त कर भौतिक सुखों की वांछा रखते हैं। भोजन-पान, नींद-विश्राम, तरह-तरह के भय और उनका संरक्षण एवं इन्द्रियों के विषय-भोगों में रात-दिन लिप्त रहते हैं। बौद्धिक प्राणी भी ऐसा मानते हैं कि यदि भौतिक समृद्धि न हो, तो फिर जीवन क्या है। मनुष्य की सम्पूर्ण जीवन-कथा इन्द्रियों की तथा मानसिक तुष्टि-पुष्टि से भरपूर है। इसलिए परमात्मा और धर्म को मानने वाले भी भौतिकता की धूल को नहीं झड़ा पाते हैं। इस स्थिति का वर्णन करते हुए पं. द्यानतरायजी कहते हैं—

---

1. **अ** खंत; **क, द, ब** खंतु; **स** खंतइ; 2. **अ** पिवंतु; **क, द** पियंतु; **ब** पिवतइ; **स** पिवंतइ; 3. **अ** भंडारिहि; **क, द, ब, स** भडारउ।

मौन रहें वनवास गहें, वर काम दहें जु सहें दुःख भारी।
पाप हरें सुभ रीति करें, जिनवैन धरें हिरदे सुखकारी ॥
देह तपें बहु जाप जपें, न वि आप जपें ममता विसतारी।
ते मुनि मूढ करें जगरूढ, लहें निजगेह न चेतनधारी ॥—द्यानतविलास, पद 56

इसी प्रकार आत्मश्रद्धान से विमुख गृहस्थ विषय-भोगों तथा व्यसनों में लीन होकर सुख प्राप्त करना चाहते हैं, तो वास्तविक परम सुख इन्द्रियों के विषयों के सेवन से प्राप्त नहीं हो सकता। स्वच्छन्दता का जीवन त्यागने योग्य ही है। स्वच्छन्दता का जीवन वे ही बिताना चाहते हैं, जिनके लौकिक सुख की उत्कट अभिलाषा है। वास्तव में इन्द्रियजन्य सुख अन्त में दुःख व सन्तापदायक ही है।

देहमहेली एह वढ तउ संतावइ[1] ताम।
चित्तु णिरंजणु परेण[2] सहु[3] समरसि होइ ण जाम ॥65॥

शब्दार्थ—देहमहेली—देह (रूपी) महिला; एह—यह; वढ—मूर्ख; तउ—तुझे, तुमको; संतावइ—सन्तप्त करती है; ताम—तब तक; चित्तु—चित्त; णिरंजणु—निरंजन; परेण सहु—परम (निरंजन) के साथ; समरसि—समरस; होई—होती है; ण—नहीं; जाम—जब तक।

अर्थ—हे मूढ! यह देह रूपी महिला तुझे तब तक संतापित करती है, जब तक मन निरंजन (भगवान् आत्मा) के साथ समरस नहीं होता।

भावार्थ—इस शरीर के साथ रहते हुए मूढ़ आत्मा ने शरीर को स्थिर मानकर जो पाप कर्म किए हैं, उससे दुःखों की परम्परा इसने उठाई है। यदि यह इस शरीर से ममता हटा ले, तो ऐसी कौन-सी सम्पत्ति है जो इसको प्राप्त न हो सके? क्या इन्द्र की, क्या चक्रवर्ती की, क्या नारायण की? पं. भैया भगवतीदास कहते हैं—

रे मन मूढ़ कहा तुम भूले हो, हंस विचार लगे पर छाया।
यामें सरूप नहीं कछू तेरो जु, व्याधि की खोट बनाई है काया ॥
सम्यक् रूप सदा गुन तेरो है, और बनी सब ही भ्रममाया।
देख तू रूप अनूप विराजत, सिद्ध समान जिनन्द बताया ॥

—ब्रह्मविलास, पद 47

जब यह प्राणी तृष्णा होते हुए भोगों को असमर्थता के कारण भोग नहीं सकता

1. **अ, ब, स** संतावइ; **क, द** सत्तावइ; 2. **अ** परेण; **क, द, ब, स** परिण; 3. **अ** सहु; **क, द, स** सिहुं; **ब** सुहु।

है, तो इसको बड़ा दुःख होता है। यदि वृद्धों से पूछा जाए कि जन्म भर आपने इन्द्रियों के भोग भोगे, इनसे अब तो तृप्ति हो गई होगी? तब यही उत्तर मिलेगा कि कुछ दिन और भोगकर देख लिया जाए। वास्तव में उनकी तृष्णा बढ़ जाती है। मनुष्य का शरीर तो पुराना होता जाता है, इन्द्रियों की शक्ति घटती जाती है, लेकिन भोगों की तृष्णा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती जाती है। इसलिए विषय-भोगों की अभिलाषा भी दुःखदायक है। जिनकी चाह सन्तापकारक है, वे यदि हमारे जीवन में होंगे, तो क्या-क्या अनर्थ उत्पन्न नहीं करेंगे। अतएव विवेकवान विषय-भोगों को दूर से ही छोड़ देता है, उनके पास भी नहीं जाना चाहता है।

जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ सव्व वियप्प हणंतु।
सो किम पावइ णिच्चसुहु सयलइं[1] धम्म कहंतु ॥66॥

शब्दार्थ—जसु—जिसके; मणि—मन में; णाणु—ज्ञान; ण—नहीं; विप्फुरइ—स्फुरायमान होता है; सव्व—सब; वियप्प—विकल्प; हणंतु—मिटाता हुआ; सो—वह; किस—किस प्रकार; पावइ—पाता है; णिच्चसुहु—नित्यसुख; सयलइं—सभी; धम्म—धर्म (को); कहंतु—कहता हुआ।

अर्थ—जिसके मन में सभी विकल्पों को दूर करने वाला ज्ञान स्फुरायमान नहीं होता, वह सभी धर्म की बातें कहता हुआ भी नित्य सुख को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है?

भावार्थ—यथार्थ में ज्ञान अतीन्द्रिय तथा आनन्दमय है। अल्पज्ञानी को जब तक पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ, तब तक उसके वीतराग निर्विकल्प ध्यान के समय में स्वसंवेदन ज्ञान होने के कारण इन्द्रियजनित ज्ञान नहीं है। सामान्यतः प्रत्येक प्राणी को मन और इन्द्रियों की सहायता से बोध या ज्ञान होता है। केवलज्ञानियों के तो किसी भी समय में इन्द्रियज्ञान नहीं है, नित्य अतीन्द्रिय ज्ञान रहता है। इसे आत्मज्ञान या सम्यग्ज्ञान भी कहते हैं। इसका जन्म आत्मा के ज्ञान-स्वभाव से होता है। यह सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न होता है। वास्तव में स्वसंवेदन ज्ञान के बल पर ज्ञान की ज्ञान रूप अनुभूति होती है। पश्चात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान दीपक के प्रज्वलन तथा प्रकाश की भाँति एक साथ प्रकट होते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर ही धर्म होता है और धर्म के बिना किसी भी जीव को कभी भी परम, नित्य, अखण्ड, अविनाशी आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला ज्ञान सब तरह से हेय है और अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है।

1. अ सयलह; क, द, ब, स सयलइं।

शरीर को आप जानना, इन्द्रिय सुख को सुख समझना और शुद्धात्मा तथा अतीन्द्रिय सुख पर श्रद्धा न होना ही मिथ्यादर्शन या मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व सहित जो जानना होता है, वह मिथ्याज्ञान है। परन्तु सम्यक् आत्म-श्रद्धापूर्वक जो जानना है, वह सम्यग्ज्ञान है। मिथ्यादृष्टि सभी जगह दुःखी रहता है, क्योंकि वह तृष्णा की दाह में सदा जलता रहता है। उसे स्व-पर का श्रद्धान नहीं होता; लेकिन जिसे अतीन्द्रिय सुख का भान हो जाता है, वह सभी प्रकार की विपत्तियों तथा कष्टों में भी सुखी रहता है, आनन्दित होता है।

जसु मणि णिवसइ परमपउ सयलइं चिंत चवेवि[1]।
सो पर पावइ परमगइ अट्ठइं कम्म हणेवि ॥67॥

शब्दार्थ—जसु—जिसका; मणि—मन; णिवसइ—रहता है; परमपउ—परम पद (में); सयलइं—सभी; चिंत—चिंताएँ; चवेवि—छोड़कर; सो—वह; पर—परा, श्रेष्ठ; पावइ—पाता है; परमगइ—परम गति; अट्ठइं—आठों; कम्म—कर्मों (को); हणेवि नष्टकर।

अर्थ—सभी चिन्ताओं को छोड़कर जिसका मन परमपद (सिद्ध परमात्मा) में निवास करता है, वह फिर आठों कर्मों का नाश (हनन) कर परमगति (निर्वाण) को प्राप्त करता है।

भावार्थ—जो पुरुष उत्तम सुख को पाना चाहता है, उसे सभी विकल्पों तथा चिन्ताओं को छोड़कर निज शुद्धात्म स्वभाव का सेवना करना चाहिए। निज शुद्धात्मा अखण्ड आनन्द स्वभावी है, परम आहलाद रूप है, अविनश्वर है, मन और इन्द्रियों से रहित है, इसलिए सदा काल सिद्ध परमात्मा उसका सेवन करते हैं। सिद्धों के जो उत्तम अविनाशी (मोक्ष) परम सुख हुआ है, वह निज आत्मिक उपादान शक्ति से उत्पन्न हुआ है। उस परम सुख के होने में रंच मात्र भी पर की सहायता नहीं है। आचार्य पूज्यपाद के शब्दों में—

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं।
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्दभावम्।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममितं शाश्वतं सर्वकाल—
मुत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥—सिद्धभक्ति, श्लोक 7

अर्थात्—आत्मा की उपादान शक्ति से होने वाला वह परम सुख सभी प्रकार

---

1. अ चित्ति ववेइ; क, द, स चित्त चवेवि; ब चित्त चवेइ।

की बाधाओं से, घट-बढ़ से और विषयों से रहित, अतिशय, निर्द्वन्द्व, अनुपम, विशाल होता है। उसके उत्पन्न होने में किसी अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं होती, वह शाश्वत, सभी कालों में बना रहने वाला अनन्त, अपार, अप्रमाण, उत्कृष्ट सुख होता है जो सिद्धों को ही उपलब्ध होता है।

सिद्ध सदा काल ज्ञान, आनन्द में अचल रहते हैं। उनका संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि वे सभी प्रकार के कर्मों से रहित संसारातीत हैं। संसार से सम्बन्ध तो इसीलिए था कि विभाव भावों से सम्बन्ध था। सिद्ध अवस्था एक बार प्राप्त हो जाने पर किसी से कोई सम्बन्ध रिश्ता नहीं रहता है।

अप्पा मेल्लिवि[1] गुणणिलउ अण्णु जि झायहि झाणु।
वढ अण्णाणविमीसियहं कहं तहं केवलणाणु ॥68॥

शब्दार्थ—अप्पा—आत्मा (को); मेल्लिवि—छोड़कर; गुणणिलउ—गुणों के निवास; अण्णु—अन्य (को); जि—ही; झायहि-ध्याता है; झाणु—ध्यान; वढ—मूढ; अण्णाणविमीसियहं—अज्ञान से विमिश्रित (लिप्त) के; कहं—कैसे; तहं—उसके; केवलणाणु—केवलज्ञान (हो);

अर्थ—अनन्त गुणों के भण्डार आत्मा को छोड़कर जो अन्य का ध्यान करता है; हे मूर्ख! वह अज्ञान से लिप्त (मिला हुआ) है, उस को केवलज्ञान कैसे हो सकता है?

भावार्थ—ध्यान किसका करना योग्य है? यह समझाते हुए कहते हैं कि *चलायमान चित्त को रोककर अनन्त गुणवाले आत्मदेव का ध्यान करना चाहिए।* मुनिश्री योगीन्दुदेव का कथन है कि आत्मा का जिस रूप में ध्यान करते हैं, उसी रूप परिणमन होता है। एक दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार स्फटिक मणि के नीचे जैसा डंक दिया जाता है, वह वैसा ही रंग-रूप भासित होता है। इसी प्रकार जीव जिस उपयोग रूप परिणमन करता है, वैसा ही स्वरूप भासने लगता है। (परमात्मप्रकाश, 2, 173)

जैसे शरीर में रोग उत्पन्न होने पर कुशल वैद्य रोगी पुरुष की चिकित्सा कर उसको नीरोग कर देता है, उसी प्रकार कषाय रूपी रोग को दूर करने के लिए आत्मध्यान प्रवीण वैद्य के समान है। ध्यान करने वाला सम्पूर्ण विश्व को इन्द्रजाल के तमाशे की भाँति देखता है तथा आत्मानुभव के लिए पुरुषार्थ करता है। यदि

---

1. **अ, क, स** मेल्लेवि; **ब** मेल्लिवि; **द** मिल्लिवि।

आत्म-स्थिरता से विचलित होकर उपयोग अन्य विषय पर जाता है, तो चित्त में पश्चात्ताप करता है। जो तत्त्वज्ञान के अभ्यास से आत्मध्यान की स्थिरता प्राप्त कर लेता है, वह अपने स्वभाव में ऐसा मगन हो जाता है कि कुछ कहा हुआ भी मानों नहीं कहता है, चलता हुआ भी नहीं चलता है, देखता हुआ भी नहीं देखता है अर्थात् वह आत्मानन्द का रस लेने में मग्न हो जाता है। (इष्टोपदेश, श्लोक 41)

अप्पा-दंसणु[1] केवलउ[2] अण्णु सयलु[3] ववहारु[4]।
एक्कु सो जोयइ झाइयइ[5] जो तइलोयहं[6] सारु ॥69॥

शब्दार्थ—अप्पादंसणु—आत्मदर्शन; केवलउ—केवल; अण्णु—अन्य; सयलु—सभी; ववहारु—व्यवहार (है); एक्कु—एक (को); सो—वह; जोयइ—योगी; झाइयइ—ध्याता है; जो; तइलोयहं—तीनों लोक का; सारु—सार (है)।

अर्थ—केवल आत्मदर्शन ही वास्तविक परमार्थ (आत्मा पदार्थ) है, अन्य (आत्मध्यान आदि) सभी व्यवहार (सद्व्यवहार) है। तीन लोक के सारभूत इस एक पदार्थ को ही योगी जन ध्याते हैं।

भावार्थ—आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं—आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य सब घोर संसार का मूल है। ध्यान-ध्येय आदि (सविकल्प) तप कल्पना मात्र सुन्दर है—ऐसा जानकर बुद्धिमान पुरुष सहज परमानन्द रूपी अमृत के पुर में मग्न होकर एक सहज परमात्मा का आश्रय करते हैं। (नियमसारकलश, 123)

मुनिश्री योगीन्दुदेव का कथन है कि आत्मा का वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान के सिवाय अन्य स्वभाव नहीं है। इसलिए हे योगी! आत्मा को केवलज्ञान स्वभाव (मात्र ज्ञान) जानकर पर वस्तु से प्रीति नहीं जोड़नी चाहिए।(परमात्मप्रकाश 2, 155)

साधक सहजानन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करता है। परमात्मा नित्य, निरंजन, परमानन्दमय, शान्त, शिव स्वरूप है। मुनि रामसिंह यहाँ पर आत्मानुभव का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं कि उसके बिना वास्तव में धर्म प्रकाशित नहीं होता। आत्मानुभव ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का नियम से कारण है। आत्मा की अनुभूति करने वाले को दर्शनमोह सम्बन्धी कर्म का बन्ध नहीं होता। क्योंकि इन्द्रियों को अपने विषयों से रोककर आत्मध्यान का अभ्यास करने वाले निर्विकल्प ध्याता को आत्मा स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है, अनुभव में आता है।

---

1. **अ, द** दंसण; **क, ब, स** दंसणु; **ब** अप्पाकेवलदंसणु वि 2. अ, **क, स** केवलउ; **क** केवलउं; 3. **अ, क, ब, स** सयलु; **द** सव्वु; 4. **अ** विवहारु; **क, द, ब, स** ववहारु; 5. **अ** झाइयउ; **क, द, स** झाइयइ; 6. **अ** तइलोयह; **क, द, ब, स** तइलोयहं।

इन्द्रियों के विषयों का जो अनुभव है, वह बाहरी सुख है और निज शुद्धात्मा का जो अनुभव है, वह अन्तरंग सुख है। आत्मानुभूति होने पर आत्मा अनुभव-प्रत्यक्ष है; लेकिन उस समय आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान होने पर ही आत्मा प्रत्यक्ष होता है।

अप्पा दंसणणाणमउ[1] सयलु वि अण्णु पयालु।
इम[2] जाणेविणु जोइयउ[3] छंडहु[4] माया-जालु ॥70॥

शब्दार्थ—अप्पा—आत्मा; दंसणणाणमउ—दर्शन, ज्ञानमय; सयलु वि—सभी; अण्णु—अन्य; पयालु—भुस (पयार); इस—इस प्रकार; जाणेविणु—जानकर; जोइयउ—आत्मावलोकन (करो); छंडहु—छोड़ो; माया-जालु—मायाजाल।

अर्थ—आत्मा दर्शन, ज्ञानमय है। अन्य भाव सभी पयार की तरह सूखी घास या भुस हैं। इस प्रकार जान कर आत्मावलोकन करो और माया-जाल को छोड़ो।

भावार्थ—शुद्ध आत्मा ज्ञान-दर्शन का आश्रय स्थान है। उसमें विकल्प नहीं है। किसी प्रकार का राग-द्वेष भी नहीं है। जो अपने शुद्ध आत्मा को जानता है, वह ज्ञान को मानता है। जो ज्ञान ज्ञान के स्वरूप को जाने, वह ज्ञान सजग या जाग्रत है। जो ज्ञान स्वयं की अनुभूति करता है, परमार्थ में वही ज्ञान है। जो ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप को छोड़कर पर पदार्थों में लगा हुआ है, वह ज्ञान सजग नहीं है।

'ज्ञान आत्मा है'—यह कहते ही राग-द्वेष-मोह भावों का निषेध हो गया। रागादि भाव नैमित्तिक हैं; स्वभाव भाव नहीं हैं। अतः इनका अभाव करने के लिए स्वभाव भाव (ज्ञान, दर्शन) का आश्रय करना योग्य है। आत्मा का उपयोग अपने ज्ञायक स्वभाव में रहे, जानन, जानन हो, तो रागादि भाव दूर हो सकते हैं। ऐसा अभ्यास करने से सदा काल के लिए उनका अभाव हो सकता है। यहाँ पर 'ज्ञान' शब्द का अर्थ ज्ञानगुण या ज्ञान की पर्याय (अवस्था) नहीं लेना। क्योंकि जिस ज्ञान को आत्मा कहा है, वह त्रिकाली, ध्रुव, अखण्ड, निष्क्रिय चिन्मात्र द्रव्य है। बाह्य वस्तु सुख-दुःख का कारण नहीं है। राग-द्वेष-मोह के उत्पन्न होने में कर्म का उदय निमित्त है; बाहरी वस्तुएँ नहीं। ज्ञान की सँभाल यही है कि ज्ञान स्वभाव का आश्रय ले कर जानो, तो राग-द्वेष की अनूभूति नहीं होगी। जैसा अपना स्वरूप है, वैसा ही ज्ञान में अनुभव हो, तो आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। ज्ञान के समान इस विश्व में

---

1. **अ** अप्पादंसणुणाणमउं; **क, द** दंसणु णाणमउ; **ब, स** अप्पादंसणणाणमउ; 2. **अ, द, ब, स** इम; **क** इय; 3. **अ** जोईयउ; **ब, स** जोइयह; **क,** जोइयहो; **द** जोइयहु; 4. **अ** छंडउ; **क, द, ब, स** छंडहु।

सुख का कारण अन्य नहीं है। क्योंकि आनन्द का सम्बन्ध ज्ञान के साथ है; धन के साथ नहीं है। धन आकुलता का कारण है और ज्ञान निराकुलता का। आत्मा का हित निराकुल सुख से है; धन, वैभव आदि से तो सरंक्षण की चिन्ता, हानि का भय, क्लेश आदि का अनुभव होता रहता है। अतः ज्ञान-धन ही सार है, शेष सभी असार हैं।

अप्पा मेल्लिवि[1] जगतिलउ जे परदव्वि[2] रमंति।
अण्णु कि मिच्छादिट्ठियह मत्थइं सिंगइं होंति ॥71॥

शब्दार्थ—अप्पा—आत्मा (को); मेल्लिवि—छोड़कर; जगतिलउ—जगतिलक; जे—जो; परदव्वि—पर द्रव्य में; रंमति—रमण करते हैं; अण्णु—अन्य; कि—क्या; मिच्छादिट्ठियहं—मिथ्यादृष्टि के; मत्थइं—मस्तक (पर); सिंगइं—सींग; होंति—होते हैं।

अर्थ—जो जग में श्रेष्ठ (निज) आत्म द्रव्य को छोड़कर परद्रव्य में रमण करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। अन्य क्या मिथ्यादृष्टियों (की पहचान के लिए) के माथे पर सींग होते हैं?

भावार्थ—वास्तव में इन्द्रियों के विषयों के अनुभव में आकुलता होने के कारण प्रत्येक प्राणी को दुःख होता है, किन्तु शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से निराकुल सुख होता है। अतः इन्द्रियों से मिलने वाला सुख वास्तविक नहीं है, किन्तु तृष्णा रूपी अग्नि को शान्त करने के लिए क्षणिक उपाय है। सुख तो आत्मा के स्वभाव में रहने से प्राप्त होता है। जो मूढ मनुष्य पर पदार्थों में अनुरक्त हैं, वे चाहे नगर में हों, गाँव में हों, वन में हों, पर्वत के शिखर पर हों, समुद्र के तट पर हों, मठ, गुफा, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किले में हों, स्वर्ग में हों, भूमि, मार्ग, आकाश में हों, लता-मण्डप, तम्बू, दरबार आदि किसी भी स्थान पर हों, उनको रंचमात्र निराकुल सुख प्राप्त नहीं हो सकता है।

विषयों में आसक्त रहना—यह मिथ्यादृष्टि की पहचान है। क्योंकि विषय-भोगों की अभिलाषा मिथ्यादृष्टि के विशेष रूप से होती है। क्योंकि वह ऐसा समझता है कि पर द्रव्यों से सुख-शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं—

हे आत्मन्! ऐसा जान कि विषयों के सुख सेवन करते समय सुन्दर लगते हैं, लेकिन जब उनका फल मिलता है, तब वह विष के समान कड़वा होता है। इस जगत् में समुद्र कभी भी नदियों से तृप्त नहीं होता, अग्नि ईंधन से कभी तृप्त नहीं

---

1. अ, द, ब मिल्लिवि; क, स मेल्लेवि; 2. अ जे परदव्व रमंति; क, ब, स जो परदव्व रमंति; द जो परदव्वि रमंति।

होती, फिर भी ये कदाचित् दैवयोग से तृप्त हो लें, किन्तु यह जीव चिरकाल पर्यन्त नाना प्रकार के काम-भोगादिक भोगने पर भी कभी तृप्ति को प्राप्त नहीं होता। (ज्ञानार्णव, श्लोक 25, 28)

अप्पा मेल्लिवि[1] जगतिलउ मूढ म झायहि अण्णु।
जइ[2] मरगउ परियाणियउ तहु[3] किं कच्चहु[4] गण्णु ॥72॥

शब्दार्थ—अप्पा—आत्मा (को); मेल्लिवि—छोड़कर; जगतिलउ—जगतिलक; मूढ-हे मूढ! म झायहि—मत ध्याओ; अण्णु—अन्य (किसी को) जइ—यदि; मरगउ—मरकत मणि; परियाणियउ—पहचान ली गई; तहु—तो; किं—क्या; कच्चहु—काँच की; गण्णु—गिनती (की जाती है)।

अर्थ—हे मूढ! जग में उत्तम आत्मा (निज शुद्धात्मा) को छोड़कर अन्य किसी का ध्यान मत कर। यदि मरकत मणि पहचान ली गई है, तो काँच को गिनने से क्या?

भावार्थ—उक्त दोहा किंचित् परिवर्तन के साथ 'परमात्मप्रकाश' 2, 78 में मिलता है। उसमें कहा गया है—

केवलज्ञानादि अनन्तगुणवाली आत्मा को छोड़कर अन्य वस्तु ज्ञानियों को नहीं रुचती। जिसने मरकतमणि पहचान ली है, उसे काँच से क्या प्रयोजन है? इसी प्रकार जिस का चित्त आत्मा में लग गया है, उसके अन्य पदार्थों की वांछा नहीं रहती।

जैसे नमक के प्रत्येक कण में खारापन है, मिश्री के प्रत्येक भाग में मिठास है, जल के सभी अवयवों में द्रवता है, अग्नि में सर्वांग उष्णपना है, चन्द्रमा सर्वांग में शीतल है, सूर्य में सभी अंगों में ताप है, स्फटिक में सर्वांग निर्मलता है, गोरस में सर्वांग चिक्कणता है, बालू में सर्वांग कठोरता है, लोहे में सर्वांग भारीपन है, रुई में सर्वांग हल्कापन है, इत्र में सर्वांग सुगन्ध है, गुलाब के पुष्प में सर्वांग सुवास है, आकाश में सर्वांग निर्मलता है, वैसे ही आत्मा सर्वांग में सुख से भरपूर है। सुख आत्मा का अविनाशी गुण है। सच्चा सुख स्वाधीन है, सहज है, निराकुल है, सम भाव मय आत्म-स्वभाव है। आत्मा के स्वभाव का एक समय मात्र भी अनुभव सहज सुख का ज्ञान कराता है। आत्मा का यह सहज सुख आत्म-ध्यान से प्राप्त होता है, इसलिए निज शुद्धात्मा के सिवाय अन्य किसी का ध्यान नहीं करना चाहिए। वास्तव में ध्यान तो परमात्म स्वरूप निज शुद्धात्मा का होना धर्मध्यान कहा जाता है। क्योंकि ध्येय सभी कालों में एक होता है। ध्येय को लक्ष्य कर जो ध्यान किया जाता है,

---

1. **अ, द** मिल्लिवि; **क, ब, स** मेल्लिवि; 2. **अ, ब, स** जे; **क** जें; **द** जिं; 3. **अ** तहो वि; **क, ब** तहो किं; **द, स** तहु किं; 4. **अ** कच्चहो; **ब** कच्चउ; **क, द, स** कच्चहु।

वह प्रयोजन के बिना नहीं होता। हमारा प्रयोजन कर्मों से भिन्न समझकर अपने स्वभाव में जम जाना है। यह तभी सम्भव है, जब निज स्वभाव का आश्रय कर अपने स्वरूप में तन्मयता होगी। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है।

सुहपरिणामहिं[1] धम्मु वढ असुहइं होइ अहम्मु।
दोहिवि[2] एहिं[3] विवज्जियउ[4] पावइ जीउ ण जम्मु ॥73॥

शब्दार्थ—*सुहपरिणामहिं—शुभ परिणाम से; धम्मु—धर्म (होता है);* वढ—मूर्ख; असुहइं—अशुभ (भाव से); होइ—होता है; अहम्मु—अधर्म; दोहिवि—दोनों को ही; एहिं—यहीं; विवज्जियउ—छोड़कर; पावइ—पाता है; जीउ—जीव; ण जम्मु—जन्म नहीं होता।

अर्थ—हे मूर्ख! शुभ परिणामों से धर्म होता है तथा अशुभ से अधर्म होता है; किन्तु इन दोनों को छोड़ने पर जीव पुनर्जन्म नहीं पाता है।

भावार्थ—यह दोहा कुछ परिवर्तन के साथ 'परमात्मप्रकाश' (अ. 2, दो. 71) में मिलता है, जिसमें कहा गया है—"दान-पूजादि शुभ परिणामों से पुण्य रूप व्यवहार धर्म कहा जाता है और विषय-कषायादि अशुभ परिणामों से पाप होता है। किन्तु इन दोनों से रहित मिथ्यात्व, रागादि रहित शुद्ध परिणाम से पुरुष कर्म को नहीं बाँधता है।" टीकाकार के अनुसार—"जैसे स्फटिकमणि शुद्ध उज्ज्वल है, उसके जो काला डंक लगावें, तो काला मालूम होता है, और पीला डंक लगावें तो पीला भासता है, और यदि कुछ भी न लगावें तो शुद्ध स्फटिक ही है, उसी तरह यह आत्मा क्रम से अशुभ, शुभ, शुद्ध इन परिणामों से परिणत होता है। उनमें से मिथ्यात्व और विषय-कषायादि अशुभ के अवलम्बन (सहायता) से तो पाप को ही बाँधता है। उसके फल से नरक-निगोदादि के दुःखों को भोगता है और अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँच परमेष्ठियों के गुणस्मरण और दानपूजादि शुभ क्रियाओं से संसार की स्थिति का छेदने वाला जो तीर्थंकर नामकर्म उसको आदि ले विशिष्ट गुणरूप पुण्यप्रकृतियों को अवांछीक वृत्ति से बाँधता है। तथा केवल शुद्धात्मा के अवलम्बनरूप शुद्धोपयोग से उसी भव में केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप मोक्ष को पाता है। इन तीन प्रकार के उपयोगों में से सर्वथा उपादेय तो शुद्धोपयोग ही है; अन्य नहीं है। और शुभ अशुभ इन दोनों में से अशुभ तो सब प्रकार से निषिद्ध है, नरक निगोद का कारण है, किसी तरह उपादेय नहीं है—हेय है, तथा शुभोपयोग प्रथम

---

1. **अ** सुहपरिणामइ; **क, द, स** सुहपरिणामहिं; **ब** सुहपरिणामइं; 2. **अ, ब** दोहि मि; **क** दोहं मि; **द, स** दोहिं मि; 3. **अ, ब** एह; **क, द, स** एहं; 4. **अ** विविज्जियइ; **क** विवज्जियए; **ब** विवज्जियइ; **द, स** विवज्जियउ।

अवस्था में उपादेय है, और परम अवस्था में उपादेय नहीं है, हेय है।" मोक्षमार्गी या आत्महितार्थी की श्रद्धा तो शुद्ध, वीतराग एवं सर्वथा उपादेय शुद्धात्म स्वरूप की ही होती है।

सइं[1] मिलिया सइं[2] विहडिया जोइय[3] कम्म णिभंति।
तरलसहावहिं[4] पंथियहिं[5] अण्णु कि गाम वसंति ॥74॥

शब्दार्थ—सइं—स्वयं; मिलिया—मिले; सइं—स्वयं; विहडिया—बिछुड़े; जोइय—हे जोगी; कम्म—कर्म; णिभंति—निर्भ्रान्त; तरलसहावहिं-चंचल स्वभाव (वाला); पंथियहिं—पथिकों से; अण्णु—दूसरा; कि—क्या; गाम—गाँव; वसंति—वसते हैं?

अर्थ—हे योगी! कर्म स्वयं मिलते हैं और स्वयं बिछुड़ते हैं, इसमें कोई भ्रान्ति नहीं है (अर्थात् कर्म अपनी योग्यता से मिलते-बिछुड़ते हैं। उनमें ऐसी शक्ति है)। चंचल स्वभाव के राहगीरों से क्या अन्य (नया) गाँव बसता है?

भावार्थ—यदि कोई व्यक्ति मैदान से लगे हुए जंगल में शरीर में तेल की मालिश कर हथियार लेकर केला और बाँस के पेड़ों को छेद रहा हो, तो वह कुछ ही समय बाद धूल से लथपथ हो जाएगा। उसे देखने वाला कोई भी यह कह सकता है कि वहाँ धूल बहुत है, इसलिए शरीर से चिपक गई है। दूसरा दर्शक यह कहता है—नहीं। धूल तो इसलिए लिपटी है कि इसने परिश्रम बहुत किया है। तीसरा कहता है—यदि वह हथियार न चलाता, तो धूल नहीं उड़ती और न शरीर में चिपकती। चौथा यह कहता है कि ये तीनों बातें ठीक नहीं हैं। धूल चिपटने का कारण राग की चिकनाई है। पेड़ों का घात करना, भूमि पर आघात करना, फल-फूलों को गिराना आदि धूल के लिपटने के कारण नहीं हैं। वास्तव में न्यायपूर्वक विचार किया जाए तो शरीर पर तेल लगा होने से वह धूल चिपकने में कारण है, इसी प्रकार मिथ्या भाव वाले जीव के अपनी उपयोग-भूमि में कर्म-धूल से भरे हुए राग-द्वेष-मोह भाव के निमित्त से निरन्तर आठ कर्म बँधते रहते हैं। इस लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ पर अनन्त कार्मण-वर्गणाएँ न हों। कार्मण-वर्गणाएँ ही कर्म रूप परिणमन करती हैं। लोक में चारों ओर कार्मण-वर्गणाएँ भरी हुई हैं। इनके तीन रूप हैं—(1) जीव के साथ कर्म रूप से बँधी हुई, (2) कर्म का स्वभाव लिए हुए जीव के क्षेत्र में, प्रदेश में संचित तद् रूप, और (3) अनुभय रूप अर्थात् जो न तो कर्म बनी हैं और न स्वाभाविक रूप से संचित हैं, किन्तु कर्म बनने की प्रकृति रखती हैं।

कार्मण-वर्गणा पुद्गल-परमाणुओं की रचना है। जिसमें पूरन और गलन पाया

1-2. **अ** सइ **क, द, ब, स** सइं; 3. **अ** जाइय; **क, द, ब, स** जोइय; 4. **अ, क, स** तरलसहाव वि; **द** तरलि सहाव वि; **ब** तरल सहाव बि; 5. **अ** पंथियह; **क, द, स** पंथियहिं; **ब** पंथयहिं।

जाता है, उसे पुद्गल कहते हैं। समान गुण वाले सम संख्या तक के वर्गों के समूह को या समान गुण वाले परमाणु पिण्ड को वर्गणा कहते हैं। वे स्वयं अपनी योग्यता से परस्पर मिलकर बँधते हैं, बँधकर बिछुड़ते हैं। लेकिन उनका मिलना और बिछुड़ना एक समय का होता है। अतः कर्म-बन्ध या पुद्गलबन्ध के लिए दो समय तक ठहरने की स्थिति आवश्यक है। एक समय का बन्ध बन्ध नहीं कहा जाता है।

अण्णु जि[1] जीउ म चिंति तुहुं[2] जइ वीहउ[3] दुक्खस्स।
तिलतुसमित्तु[4] वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥75॥

शब्दार्थ—अण्णु—अन्य; जि—ही; जीउ—जीव; म—मत; चिंति—चिन्ता (करो); तुहुं—तुम; जइ—यदि; वीहउ—भयभीत (हो); दुक्खस्स—दुःखों से; तिलतुस मित्तु वि—तिल, तुष मात्र भी; सल्लडा—शल्य; वेयण—वेदना; करइ—करती है; अवस्स—अवश्य।

अर्थ—यदि तुम दुःख से भयभीत हो, तो अन्य (जड़ कर्म, नोकर्म) को जीव मत मानो। तिल व तुष मात्र भी शल्य (चुभन, खटक) वेदना अवश्य देती है।

भावार्थ—जो शाश्वत नित्य सदा काल जीता है, उसे जीव कहते हैं। जीव चैतन्य है। कर्म पुद्गल या अचेतन है। शरीर साक्षात् जड़ पदार्थ है। यह समझ तो प्रत्येक मनुष्य को हो सकती है कि मैं चेतन हूँ, इसलिए राग-द्वेष-मोह रूप जड़ कर्म तथा शरीरादि से भिन्न हूँ। जिनको अपनी भिन्नता भासित नहीं होती, वे कभी कर्म के साथ और कभी पर पदार्थों के साथ अपनेपन की बुद्धि कर वेदन करते हैं तथा दुःखी होते हैं। कविवर बनारसीदास के शब्दों में—

सतगुरु कहे भव्य जीवन सो, तोरहु तुरत मोह की जेल।
समकित रूप गहो अपनो गुन, करहु शुद्ध अनुभव को खेल ॥
पुद्गल पिण्ड भाव रागादि, इन सो नहीं तिहारो मेल।
ये जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन, जैसे भिन्न तोय अरु तेल ॥

—समयसारनाटक, जीवद्वार 12

अर्थात्—भव्य जीवों को सद्गुरु उपदेश करते हैं कि शीघ्र ही मोह का बन्धन तोड़ दो, अपना सम्यक्त्व गुण ग्रहण करो और शुद्ध अनुभव में मस्त हो जाओ। पुद्गल द्रव्य और रागादिक भावों से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। ये स्पष्ट ही अचेतन हैं और तुम अरूपी चैतन्य हो। तुम्हारी स्थिति पानी में तेल की भाँति उनसे भिन्न है।

---

1. **अ** वि; **क, द, स** जि; **ब** म; 2. **अ** तुहु; **क, द, ब, स** तुहुं; 3. **अ, स** बीयउ; **क, ब** भीयउ; **द** वीहउ; 4. **अ** तिल्लतुस...; **ब** तिलतुस्स मित्त वि; **क, द, स** तिलतुस मित्तु वि।

जीव चैतन्य है, कर्म जड़ है—इस तरह लक्षण के भेद से दोनों अलग-अलग हैं। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में उनको भिन्न-भिन्न कर देखते-जानते हैं। लेकिन अनादि काल से मोह-मदिरा का पान किए हुए अज्ञानी जीव राग-द्वेष-मोह भावों को और जीव को एक ही कहते हैं। उनकी यह कुटेव टालने से भी नहीं टलती है। क्योंकि वह वर्तमान की नहीं, अनादि कालकी है।

अप्पाए वि विभावियइं[1] णासइ पाउ खणेण।
सूरु[2] विणासइ[3] तिमिरहरु एकल्लउ णिमिसेण ॥76॥

शब्दार्थ—अप्पाए—आत्मा (की); विभावियइं—भावना भाने (से) णासइ—नष्ट होता है; पाउ—पाप; खणेण—क्षण (भर में); सूरु—सूर्य; विणासइ—नष्ट कर देता है; तिमिरहरु—अन्धकार हरने (वाला है); एकल्लउ—अकेला; णिमिसेण—एक निमेष (में)।

अर्थ—आत्मा की भावना भाने से क्षण मात्र में पाप नष्ट हो जाते हैं। अकेला सूर्य एक निमेष में अन्धकार के समूह का विनाश कर देता है।

भावार्थ—यहाँ पर 'भावना' का अर्थ बारम्बार चिंतवन कर उपयोग का अभ्यास करना है। जब जीव को यह ज्ञान-श्रद्धान हो जाता है कि मैं शुद्ध नय से समस्त कर्म और कर्म के फल से रहित हूँ, तब उदय में आने वाले कर्मों के फल भोगने की भावना का त्याग हो जाता है। उस समय वह केवल ज्ञानचेतना रूप परिणमन करता है। 'आत्मा की भावना' से यहाँ अभिप्राय 'ज्ञानचेतना' की भावना से है। ज्ञानचेतना की भावना करने वाला ज्ञानी कहता है कि मैं चैतन्य लक्षण स्वरूप आत्मतत्त्व को अतिशयता से भोगता हूँ। ऐसी भावना करने वाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हो जाता है मानों भावना भाता हुआ साक्षात् कैवल्य-बोध हो गया हो। चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीव यदि एकाग्र चित्त से ध्यान करें, केवल चैतन्य मात्र आत्मा में उपयोग लगायें और शुद्धोपयोग रूप हों, तब निश्चयचारित्र रूप शुद्धोपयोग से श्रेणी पर आरोहण करके केवलज्ञान की उपलब्धि करते हैं। पं. जयचन्दजी छावड़ा के शब्दों में "उस समय इस भावना का फल जो कर्मचेतना और कर्मफल चेतना से रहित साक्षात् ज्ञानचेतना रूप परिणमन है, वह होता है। पश्चात् आत्मा अनन्त काल तक ज्ञानचेतना रूप ही रहता हुआ परमानन्द में मग्न रहता है।"

आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

---

1. अ, स विभावियइ; क, द विभावियइं; ब बिभाविएइ; 2. अ, ब सूर; स सूरु; 3. अ, क, द, स विणासइ; ब विणासय।

निःशेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीवमचलस्य वहत्वनंता ॥ —समयसारकलश, 231

भावार्थ यह है कि सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञानचेतना की भावना करने वाला ज्ञानी कहता है कि सभी कर्मों के फल का संन्यास करने से मैं चैतन्यलक्षण आत्मतत्त्व को अतिशयता से भोगता हूँ। विभावरूप क्रिया में अब मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार आत्मतत्त्व के उपभोग में अचल, मेरी उपयोग की प्रवृत्ति जो कि प्रवाह रूप से अनन्त है, वह अन्य किसी में कभी न जाए।

ज्ञानचेतना की भावना का फल यह है कि उस भावना से जीव अत्यन्त तृप्त रहता है। उसे अन्य तृष्णा नहीं रहती। भविष्य में वह केवलज्ञान उत्पन्न कर सभी कर्मों से रहित मोक्ष-अवस्था को प्राप्त करता है।

जोइय हियडइ जासु पर इक्कु वि[1] णिवसइ देउ।
जम्मणमरणविवज्जियउ सो[2] पावइ परलोउ ॥77॥

शब्दार्थ—जोइय—योगी (सम्बोधन); हियडइ—हृदय (में); जासु—जिसके; पर—परम; इक्कु वि—एक; णिवसइ—निवास करता है; देउ—देव; जम्मणमरणविवज्जियउ—जन्म-मरण से रहित; सो—वह; पावइ—पाता है; परलोउ—परलोक।

अर्थ—हे जोगी! जिसके हृदय में एक परमदेव निवास करता है, वह जन्म-मरण से रहित परलोक (परम गति) प्राप्त करता है।

भावार्थ—वास्तव में जिनदेव निजदेव है। जिनदेव का दर्शन निज दर्शन है और जिनवर की उपलब्धि निज भगवान आत्मा की उपलब्धि है। इस उपलब्धि को प्राप्त समाधि में लीन रहने वाले साधु जन्म-मरण के दुःख से दूर हो जाते हैं। भैया भगवतीदास कहते हैं कि जो जिनेन्द्र भगवान का सेवक है, वह पुण्य-पाप से रहित निज शुद्धात्मा की अनुभूति से विलसित होता है। उनके ही शब्दों में—

जो जिनदेव की सेव करै जग, ता जिनदेव सो आप निहारै।
जो शिवलोक वसै परमातम, ता सम आसम शुद्ध विचारै।
आप में आप लखै अपनो पद, पाप रु पुण्य दुहूँ निरवारै।
सो जिनदेव को सेवक है जिय, जो इहि भांति क्रिया करतारै।
—ब्रह्मविलास, 12

1. अ इक्कु वि; क, द एकु जि; ब, स एक्कु वि; 2. अ, ब, स सो; क, द तो।

भाव यह है कि जिनदेव की सच्ची सेवा करने वाला अपने आप में आप रूप अनुभव करता है। ऐसे जिनदेव के सेवक के हृदय में परमात्मा का निवास होता है, और वही जन्म-मरण का अभाव कर मुक्ति को प्राप्त करता है। जिन-दर्शन की बड़ी महिमा है। पं. बनारसीदास कहते हैं—"जिसके मुख का दर्शन करने से भक्त जनों के नेत्रों की चंचलता नष्ट होती है और स्थिर होने की आदत हो जाती है। जिन-मुद्रा को टकटकी लगाकर देखने से केवलीभगवान् का स्मरण हो जाता है। जिसके सामने सुरेन्द्र की सम्पदा भी तिनके के समान तुच्छ भासने लगती है, उनके गुणों का गान करने से हृदय में ज्ञान का प्रकाश होता है और जो बुद्धि मलिन थी, वह पवित्र हो जाती है। जिनराज की मूर्ति की प्रत्यक्ष महिमा है, क्योंकि जिनबिम्ब साक्षात् जिनेन्द्र के समान सुशोभित है। (समयसारनाटक, चतुर्दशगुणस्थानाधिकार, पद सं.2)"

कम्मु पुराइउ[1] जो खवइ[2] अहिणव पेसु ण देइ।
परमणिरंजणु जो[3] णवइ सो परमप्पउ होइ ॥78॥

शब्दार्थ—कम्मु—कर्म; पुराइउ—पूर्व के; जो खवइ—जो खपाता (नष्ट करता) है, अहिणव—नये; पेसु—प्रवेश; ण देइ—नहीं देता है; परमणिरंजणु परमनिरंजन (को); जो; णवइ—नमस्कार करता है; सो—वह; परमप्पउ—परमात्मा; होइ—होता है।

अर्थ—जो पूर्व के (पुराने) कर्मों का क्षय करता है तथा नवीन (कर्मों) का प्रवेश नहीं होने देता है, वही (श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र से) परम निरंजन देव को नमस्कार करता है और स्वयं परमात्मा हो जाता है।

भावार्थ—"परमात्मप्रकाश" में यह दोहा किंचित् परिवर्तन के साथ मिलता है। मुनिश्री योगीन्द्रदेव कहते हैं कि वीतराग स्वसंवेदन से ज्ञानी पूर्व उपार्जित कर्म का क्षय करता है और नये कर्मों को रोक देता है। जो बाहरी और भीतरी परिग्रह को छोड़ कर परम शान्त भाव को प्राप्त करता है, वह वीतरागी सन्त नियम से समता भाव धारण करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो मुनि सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़ कर सभी शास्त्रों का रहस्य जान कर वीतराग परमानन्द सुखरस का आस्वादी हुआ समभाव में रहता है, वही पूर्व के कर्मों का क्षय करता है और नवीन कर्मों को रोकता है। आचार्य पद्मनन्दि का कथन है कि व्यवहार मार्ग में स्थित हम भक्ति में तत्पर हो कर जिनदेव, जिनप्रतिमा, गुरु, मुनिजन और शास्त्रादि सब को मानते

---

1. **अ, द, ब** पुराइउ; **क** पुरायउ; **स** पुराईउ; 2. **अ, क, द, स** खवइ; **ब** खवेइ; 3. **अ, ब** सो; **क, द, स** जो।

निश्चय से अभेद का आश्रय लेने पर प्रकट हुए चैतन्य गुण से प्रकाश में आई हुई बुद्धि के विस्तार रूप तेज से सहित हमारे लिए केवल आत्मा ही उत्कृष्ट तत्त्व है। (पद्मनन्दिपंचविंशति, परमार्थ. श्लोक 12)

पं. बनारसीदास के शब्दों में—

पूरब करम दहै, सरवज्ञ पद लहै;
गहै पुण्यपंथ फिर, पाप मैं न आवना।
करुना की कला जागै, कठिन कषाय भागै;
लागै दानशील तप, सु फल सुहावना ॥

पावै भवसिन्धु-तट, खोलै मोक्षद्वार-पट;
शर्म साध धर्म की, धरा में करै धावना।
एते सब काज करै, अलख को अंग धरै;
चेरी चिदानन्द की, अकेली एक भावना ॥—बनारसीविलास, 86

पाउ[1] वि अप्पहिं[2] परिणवइ कम्मइं[3] ताम करेइ।
परमणिरंजणु जाम णवि णिम्मलु[4] होइ मुणेइ ॥79॥

शब्दार्थ—पाउ—पाप; वि—भी; अप्पहिं—आत्मा (स्वयं से); परिणवइ—परिणमन करता है; कम्मइं—कर्मों को; ताम—तब तक; करेइ—करता है; परमणिरंजणु—परमनिरंजन; जाम—जब तक; णवि—नहीं; णिम्मलु—निर्मल; होइ—होता है; मुणेइ—जानता है।

अर्थ—आत्मा में पाप के परिणाम तथा कर्मबन्ध तभी तक होता है, जब तक यह जीव अपने उपयोग में शुद्धता प्रकट कर परम निरंजन (स्वरूप) को जान नहीं लेता।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव के जो कर्म का बन्ध होता है, वह मिथ्यात्व, रागादिक विभाव भावों के कारण होता है; बाह्य क्रियाओं से नहीं होता है। न तो मन, वचन, शरीर की चेष्टाएँ कर्म-बन्ध की कारण हैं और न चेतन-अचेतन का दलन-मलन बन्ध का कारण है। वास्तव में रागादिक के साथ यदि उपयोग एकता को प्राप्त होता है, तो बन्ध होता है; अन्यथा नहीं। पर भावों में ममत्व परिणाम, राग में राग का होना, राग में उपयोग का फँसना, राग की आसक्ति होना—ये ही बन्ध के कारण हैं। क्योंकि राग के साथ उपयोग भूमि में अशुद्धता प्रकट होती है।

---

1. **अ, क, द, स** पाउ; **ब** पावु; 2. **अ, ब** अप्पहि; **क, द** अप्पहिं; 3. **अ** किम इत; **क, द, ब, स** कम्मइं; 4. **क** णिम्मणु; **अ, द, स** णिम्मलु, णिम्मल।

अध्यात्मशास्त्र में यह कहा गया है कि जिसका आत्मश्रद्धान निर्मल है अर्थात् उपयोग में जो रागादिक नहीं करता है, जिसका भाव यह है कि वह अपने आपके सहज ज्ञायक स्वरूप में प्रतीति रखता है, उसे मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी बन्ध नहीं होता है। सहजानन्द श्रीमनोहरलालजी वर्णी के शब्दों में "जब इस जीव को अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूप का भान होता है, ओह! यह तो मैं सहज ही ज्ञानस्वरूप और आनन्द स्वरूप हूँ, तब पर का बन्धन नहीं रहता।" (समयसार प्रवचन, भाग 10,11, पृ.9) आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि यद्यपि ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण लोक को देख रहा है, बाहर में सभी प्रकार की क्रियाएँ कर रहा है, तथापि उनका ज्ञाता है, जाननहार है। जो जानता है सो करता नहीं है और जो करता है सो जानता नहीं है। करना कर्म का राग है और जो राग है सो अज्ञान है तथा अज्ञान बन्ध का कारण है। (समयसार कलश, 167)

आचार्य कुन्दकुन्ददेव का कथन है कि ज्ञान का जघन्य भाव या अध्यवसान (अज्ञान, राग) भाव ही बन्ध का कारण है।

अण्णु[1] णिरंजणु[2] देउ[3] णवि[4] अप्पा दंसणणाणु।
अप्पा सच्चउ मोक्खपहु एहउ मूढ वियाणु ॥80॥

शब्दार्थ—अण्णु—अन्य; णिरंजणु—निरंजन; देउ णवि—देव नहीं; अप्पा-आत्मा; दंसणणाणु—दर्शन, ज्ञान (है); अप्पा—आत्मा (के स्वभाव में); सच्चउ—सच्चा; मोक्खपहु—मोक्ष-पथ (है); एहउ—ऐसा; मूढ—मूढ़; वियाणु—जानो।

अर्थ—दर्शन, ज्ञानमय निरंजन परमदेव आत्मा से अनन्य, अभिन्न है। वह अन्य नहीं है। हे मूढ! ऐसा जान कि आत्मा (के स्वभाव) में सच्चा मोक्षमार्ग है। (अर्थात् मोक्षमार्ग बाहर में नही है)।

भावार्थ—जहाँ शुद्ध आत्मा है, वहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। शुद्ध आत्मा ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञान का आश्रय है। इसी प्रकार वह ज्ञान-चारित्र है, क्योंकि ज्ञान-चारित्र का भी आश्रय वही है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥ समयसार, गा. 277

अर्थात्—निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है। मेरा आत्मा दर्शन और चारित्र है। मेरा आत्मा प्रत्याख्यान है, और वही समाधि, ध्यान है। शास्त्र के होने पर भी

1. **अ, ब** अणु; **क, स** अण्णु; 2. **अ** णिरंजणि; **क, द, स, ब** णिरंजणु; 3-4. **अ** देव णवि; **क, द** देउ पर; **ब** देउ णवि।

ज्ञान हो या न हो—यह नियम नहीं है कि ज्ञान होगा ही। लेकिन जहाँ आत्मा है, वहाँ नियम से ज्ञान है। इसलिए शुद्ध आत्मा को ज्ञान कहा गया है। आत्मा स्वयं ज्ञान है। ज्ञान जीव का स्वभाव है। आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव से अभिन्न है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥समयसारकलश, 62

अर्थात्—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है। वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे? आत्मा राग-द्वेष-मोह भावों का करने वाला है; ऐसा मानना व्यवहारी जीवों का अज्ञान है।

एक द्रव्यस्वभावी होने से ज्ञान ज्ञान के स्वभाव से सदा ज्ञान रूप होता है, इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। (समयसार कलश, श्लोक 106) इससे यह सिद्ध है कि कर्तव्य (कर्म) मोक्ष का कारण नहीं है। कुछ लोग परमार्थ मोक्ष के हेतु से भिन्न व्रत, तप इत्यादि शुभ कर्म रूप को मोक्ष का कारण मानते हैं; उस सबका यहाँ निषेध किया गया है। (समयसार, गा. 156, आत्मख्याति टीका) क्योंकि मोक्षमार्ग बाहर में नहीं, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, तप की आराधना में है जो निज आत्मस्वभाव की लीनता से प्रारम्भ होता है। परमार्थ से एक द्रव्यस्वभाव ही मोक्ष का कारण है।

ताम कुतित्थइं[1] परिभमइं[2] धुत्तिम ताम करंति[3]।
गुरुहु[4] पसाएं जाम[4] णवि देहहं[5] देउ मुणंति[6] ॥81॥

शब्दार्थ—ताम—तब तक; कुतित्थइं—कुतीर्थों (में); परिभमइं—परिभ्रमण करते हैं; धुत्तिम—धूर्तता; ताम—तब तक; करंतिं—करते हैं; गुरुहु—गुरुके; पसाएं—प्रसाद से; जाम—जब तक; णवि—नहीं; देहहं—देह के; देउ—देव (को नहीं); मुणंति—जानते हैं।

अर्थ—लोग तभी तक कुतीर्थों में भ्रमण करते हैं तथा धूर्तता करते हैं, जब तक वे गुरु के प्रसाद से देहस्थित देव को नहीं पहचानते।

भावार्थ—कई लोग तो कुल-परम्परा से, राजा की पद्धति से या लोक में देखा-देखी गुरु, तीर्थ, धर्म आदि मानते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव का कथन है कि

---

1. **अ, ब** कुतित्थह; **क** कुतित्थहं; **द, स** कुतित्थइं; 2. **अ, ब** परिभमइ; **क, द, स** परिभमइं; 3. **अ,** क करंति; **द, ब, स** करेइ; 4. **अ, ब,** गुरह; **क** गुरुहुं; **द** गुरहं; **स** गुरुहु; 5. **अ, क, द, स** जाम; **ब** ताम; 6. **अ, ब, स** देहह; **क, द** देहहं; 7. **अ,** क मुणंति; **द** मुणंतु; **ब** मुणेवि।

रागादि भाव तो पाप हैं। उनको धर्म मानना सो झूठा श्रद्धान होने से कुधर्म है, लेकिन जिससे मिथ्यात्व भाव की पुष्टि होती है, वह सब मिथ्या है। गुरु बड़े को कहते हैं, 'तीर्थ' पार होने को कहते हैं, लेकिन जिससे संसार से पार होना दूर रहा, घोर संसार में डूबना पड़े, वह 'कुतीर्थ' है। जो लज्जा से, भय से, बड़ाई से खोटे देव, खोटे धर्म, खोटे लिंग-गुरु आदि को वन्दता है, तो वह मिथ्यादृष्टि है। कहा है–

> कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंग च वंदए जो दु।
> लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो दु ॥–मोक्षपाहुड, गा. 82

खोटे तीर्थों में जाने की यह अज्ञानता तब तक बनी रहती है, जब तक यह जीव देह रूपी देवालय में स्थित सिद्ध भगवान स्वरूप निज शुद्धात्मा या परमात्मा को नहीं पहचान लेता है। जो सत्य के अन्वेषक हैं, आत्मस्वरूप के खोजक हैं, वे सद्गुरु के द्वारा बतलाई गई भेद-ज्ञान की विधि से अपने आत्मदेव को पहचान लेते हैं।

वास्तव में इष्ट के बिना सब भ्रष्ट हैं। अपना आत्मदेव अपने मन-मन्दिर में विराजमान है। वस्तुतः वही तीर्थ-क्षेत्र है। लेकिन सच्चे तीर्थ को पहचानने वाले विरले पुरुष ही होते हैं। वास्तव में बाहर में भटकने से कोई लाभ नहीं है। 'तीर्थ' 'घाट' को भी कहते हैं। जिससे संसार समुद्र से पार होते हैं, वह 'तीर्थ' है। अतः आत्मदेव के सिवाय कोई अन्य इस जीवका तारक नहीं है।

लोहिं[1] मोहिउ ताम तुहु[2] विसयहं[3] सुक्ख मुणेहि।
गुरुहुं पसाएं जाम णवि अविचल बोहि[4] लहेहि[5] ॥82॥

शब्दार्थ–लोहिं–लोभ से; मोहिउ–मोहित; ताम–तब तक; तुहु–तुम; विसयहं–विषयों में; सुक्ख–सुख; मुणेहि–मानते हो; गुरुहुं–गुरु के; पसाएं–प्रसाद से; जाम–जब तक; णवि–नहीं; अविचल–स्थिर; बोहि–बोधि (तत्त्वज्ञान); लहेहि–प्राप्त करते हो।

अर्थ–तुम तभी तक लोभ से मोहित हुए विषयों में सुख मानते हो, जब तक गुरु के प्रसाद से अविचल बोध नहीं पा लेते।

भावार्थ–सुख तो आत्मस्वभाव-सिद्ध है; लेकिन जिसको अपने स्वभाव का ज्ञान नहीं है, पहचान नहीं है, वह दुखी रहता है। दुःख को दूर करने के लिए अज्ञानी विषय-सुखों का सेवन करता है। सामान्य देवों को भी आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न

---

1. **अ, क, द, स** लोहिं; **ब** लोहे; 2. **अ** बहु; **क, द, ब, स** तुहु; 3. **अ** विसयह; **क, द, ब, स** विसयहं; 4. **अ, द, स** अविचल बोहि; **ब** अविचलु बोह; **क** अविचल बोहु; 5.अ लहेहिं; **क, द, ब, स** लहेवि।

सहज आत्मिक सुख का लाभ नहीं होता, इसलिए सच्चे सुख को प्राप्त न कर शरीर की पीड़ा से घबराये हुए बाधा मिट जाने की आशा में रम्य विषयों में रमण करते हैं, किन्तु तृष्णा का शमन नहीं कर पाते। (प्रवचनसार, गा. 75) संसारी जीव जैसे-जैसे भोगों को भोगता है, वैसे ही वैसे भोगों में तृष्णा बढ़ती जाती है; जैसे अग्नि में ईंधन डालने से आग बढ़ती है, वैसे भोग तृष्णा को बढ़ाते हैं। (भगवती आराधना, गा. 1263) जो सद्गुरु के प्रसाद से शुद्ध चिद्रूप के अतीन्द्रिय, अविनाशी, अखण्ड आनन्द को जान लेता है, अनुभव कर लेता है, वह देवेन्द्र, नागेन्द्र और इन्द्रों के सुख जीर्ण तिनके के समान समझने लगता है। अतः विषयों में सुख है—यह भ्रम है। सद्गुरु का सच्चा उपदेश मिलने पर भ्रम दूर होता है और निर्णय होने पर निश्चल श्रद्धान हो जाता है कि सुख और शान्ति अपने स्वभाव में है; बाहर में कहीं नहीं है। इसलिए तत्त्व-निर्णय करने में उपयोग लगाना चाहिए। यदि तेरा चित्त तत्त्व-निर्णय करने में न लगे, तो समझना चाहिए कि इसमें कर्म का कोई दोष नहीं है, जीव के प्रमाद का दोष है। संसार के सभी तरह के कामों में, यहाँ तक कि समाचार-पत्र, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि पढ़ने में तथा मनोरंजन के क्रियाकलापों में मन अच्छी तरह से लगता है, तो फिर शास्त्र-स्वाध्याय, तत्त्व का स्वरूप समझने में क्यों आलस्य करता है? यथार्थ में आत्म-कल्याण स्थिर आत्मज्ञान से ही हो सकता है। उसका पुरुषार्थ निरन्तर करना चाहिए।

उप्पज्जइ जेण[1] विबोहु णवि[2] बहिरण्णउ तेण णाणेण।
तइलोय पायडेण वि असुंदरो[3] जत्थ परिणामो ॥83॥

शब्दार्थ—उप्पज्जइ—उत्पन्न होता है; जेण—जिससे; विबोहु—आत्मज्ञान; णवि—नहीं; बहिरण्णउ—बहिर्मुख (होने से); तेण णाणेण—उस ज्ञान से; तइलोय—तीन लोक; पायडेण—प्रकट करने से; वि—भी; असुंदरो—अशुभ; जत्थ—जहाँ; परिणामो—परिणाम (है)।

अर्थ—जिस से विशेष बोध (आत्मज्ञान) उत्पन्न न हो; जिसमें तीन लोकों को प्रकट करने की शक्ति (न) हो, उस बहिर्मुखी ज्ञान से जीव बहिर्ज्ञानी (बहिरात्मा) रहता है, जिसका परिणाम अशुभ है।

भावार्थ—सच्चे सुख का मूल भेदविज्ञान कहा गया है। जैसे रजशोधक धूल को शोध कर सोना निकाल देता है, कीचड़ में निर्मली डालने से वह पानी को स्वच्छ कर मैल हटा देता है, दही मथने वाला दही मथ कर मक्खन को निकाल लेता है,

---

1. **अ** जेणु; **क, द, ब, स** जेण; 2. **अ, ब, स** णउ; **क, द** ण वि; 3. **अ** असुंदरं; **क, द, ब, स** असुंदरो।

हंस दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष भेद-विज्ञान के बल से आत्म-सम्पदा ग्रहण कर लेते हैं और राग-द्वेष आदि पर पदार्थों का त्याग कर देते हैं। (समयसार नाटक, संवर द्वार, 10) ज्ञानी जीव भेदविज्ञान की करौंत से आत्म-परिणति और कर्म-परिणति को अलग-अलग कर उनको भिन्न-भिन्न जानता है और आत्मा के अनुभव का अभ्यास करता है। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ग्रहण कर मोक्ष के सम्मुख प्रवृत्ति करता है तथा केवलज्ञान प्राप्त कर संसार की भटकन मिटा देता है। (समयसार नाटक मोक्षद्वार, 2)

कविवर बनारसीदास के शब्दों में—

जैसे छैनी लोह की, करै एक सौं दोइ।
जड़-चेतन की भिन्नता, त्यौं सुबुद्धि सौं होइ ॥—वही, 4

अर्थात्—जिस प्रकार लोहे की छैनी काष्ठ आदि वस्तु के दो खण्ड कर उसे अलग-अलग कर देती है, वैसे ही सुबुद्धि भेद-विज्ञान के द्वारा चेतन-अचेतन को भिन्न-भिन्न कर देती है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि प्रज्ञा के द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो जानने वाला है वह निश्चय से मैं हूँ और शेष जो भाव हैं, वे मुझसे परे, भिन्न हैं। (समयसार, गा. सं. 299)

तासु लीह दिढ दिज्जइ जिम पढियइ तिम किंज्जइ।
अहव ण गम्मागम्मइ तासु भंजेसहि[1] अप्पणु[2] कम्मइं[3] ॥84॥

शब्दार्थ—तासु—उसकी; लीह—रेखा; दिढ—दृढ़; दिज्जइ—दी, की जाती है; जिम—जैसा; पढियइ—पढ़ा जाता है; तिम—वैसा; किज्जइ—किया जाता है; अहव—अथवा; ण गम्मागम्मइ—आवागमन नहीं (होता); तासु—उस (से); भंजेसहि—नष्ट हो जाते हैं; अप्पणु—अपने; कम्मइं—कर्मों को।

अर्थ—उसकी दृढ़ रेखा अंकित करनी चाहिए अर्थात् निर्णय कर धारण करना चाहिए। (आगम में) जैसा स्वाध्याय करते (पढ़ते) हैं, वैसा करना चाहिए। अथवा जाने-आने (भटकने) से क्या? श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र सम्यक् होने से कर्म सहज ही नष्ट हो जायेंगे।

भावार्थ—आत्मा को समझने के लिए तथा आत्मज्ञान करने के लिए तत्त्व का निर्णय करना होता है और तत्त्व का निर्णय करने के लिए जैसा आगम में लिखा

---

1. **अ, ब** भजेसहि; **क, द, स** भजेसहिं; 2. **अ, क** अप्पुणु; **ब** अप्पुण; **द** अप्पु; 3. **अ** कम्मइ; **क, द, ब, स** कम्मइं।

है, उसका स्वाध्याय करना होता है। कोई शास्त्रों का स्वाध्याय भी बहुत करे, लेकिन तत्त्वाभ्यास नहीं करें तो भी लाभ नहीं होता है। श्री वट्टकेर स्वामी कहते हैं कि कोई अल्प शास्त्रज्ञ हो या बहु शास्त्रज्ञ हो; जो चारित्र से पूर्ण है वही संसार को जीतता है। जो चारित्र से रहित है, उसके बहुत शास्त्रों के जानने से क्या लाभ है? मुख्य सच्चे सुख का साधन आत्मानुभव है। जो साधु अनेक शास्त्रों का ज्ञाता हो, बहुत शास्त्रों का वाचन करने वाला तथा मननशील भी हो, लेकिन वह चारित्र से भ्रष्ट है तो सुगति को प्राप्त नहीं कर सकता है। यदि कोई दीपक को हाथ में ले कर कुमार्ग में जाकर कुए में गिर पड़े, तो उसका दीपक रखना निष्फल है, वैसे ही जो शास्त्रों को सीख कर भी चारित्र को भंग करता है, उस को शिक्षा देने का कोई फल नहीं है। (मूलाचार, गा. 4-15)

पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में "देखो, तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचाररहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं, और तत्त्वविचार वाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। तथा किसी जीव को तत्त्व विचार होने के पहले कोई कारण पाकर देवादिक की प्रतीति हो, व व्रत-तप का अंगीकार हो, पश्चात् तत्त्वविचार करे; परन्तु सम्यक्त्व का अधिकारी तत्त्वविचार होने पर ही होता है।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृ. 260)

वक्खाणडा करंतु[1] बुहु[2] अप्पि[3] ण दिण्णा[4] चितु।
कणहिं[5] जि रहिउ[6] पयालु जिम पर संगहिउ बहुत्तु ॥85॥

शब्दार्थ—वक्खाणडा—व्याख्यान; करंतु—करता हुआ; बुहु—विद्वान् ने (यदि); अप्पि—आत्मा में; ण दिण्णा—नहीं दिया; चित्तु—चित्त; कणहिं—कणों (अन्न के दानों) से रहित; पयालु—पयाल (डंठल सहित, दाने रहित सूखी घास); जिम—जिस प्रकार; पर संगहिउ—अन्य (द्रव्यों का) संग्रह (किया); बहुत्तु—बहुत।

अर्थ—व्याख्यान करने वाले विद्वान् ने यदि आत्मा में चित्त नहीं लगाया, तो यह उसी प्रकार से हुआ, जैसे उसने अन्न के कणों से रहित बहुत पयाल, अनाज की घास का संग्रह किया हो।

भावार्थ—यथार्थ में सम्पूर्ण जिनागम में एक आत्मा की मुख्यता से वर्णन किया

1. अ करंति; क, द, ब, स करंतु; 2. अ, ब, बुह; क, द, स बुहु; 3. अ अप्पु; क, द, ब, स अप्पि; 4. अ दिण्णउ; क, ब, स दिण्णा; द दिण्णु; 5. अ कणहि; क, द, स कणहिं; ब कण; 6. अ रहउ; क रहियउ; द, स रहिउ; ब रहिय।

गया है। विभिन्न शास्त्रपाठी विद्वान् अनेक शास्त्रों को पढ़ लेते हैं, लेकिन आत्मा को नहीं पढ़ पाते हैं। इसलिए यह उपदेश दिया जाता है कि सभी शास्त्रों में एक आत्मा को पढ़ना ही प्रयोजन था, लेकिन बहुश्रुतविद्वान् होकर भी जिसने आत्मा को नहीं पढ़ा अर्थात् आत्मानुभव में आत्मा को नहीं जाना, नहीं पहचाना, उसकी विद्वता शब्द-संग्रह मात्र तक सीमित समझना चाहिए। अध्यात्मशास्त्र में परमार्थ को प्रधान कर कथन किया जाता है। इसलिए उसकी दृष्टि में ऐसे शास्त्रपाठी विद्वान् भी पण्डित नहीं होते। क्योंकि उनको आत्मा-अनात्मा, बन्ध-मोक्ष का ज्ञान नहीं है। पं. कविवर बनारसीदास के शब्दों में–

जैसे मुगध धान पहिचानै; तुष-तन्दुलको भेद न जानै।
तैसें मूढमती विवहारी; लखैं न बन्ध-मोख गति न्यारी ॥

–समयसार. सर्वविशुद्धि, पद 121

अर्थात्–जिस प्रकार भोला मनुष्य धान को तो पहचानता है, किन्तु छिल्के और चावल का अन्तर नहीं जानता है; ठीक उसी प्रकार बाहरी क्रियाओं में लीन रहनेवाला अज्ञानी बन्ध और मोक्ष की भिन्नता को नहीं समझता है।

वास्तव में विद्वान् शास्त्र पढ़कर प्रमाण दृष्टि से यह तो समझते हैं कि धान क्या है, लेकिन उन्होंने छिलके से रहित कर चावल की यथार्थ प्रतीति नहीं की है, इसलिए वह अज्ञानी कहलाता है।

पंडियपंडिय पंडिया कणु छंडिवि तुस कंडिया[1]।
अत्थे[2] गंथे तुट्ठो[3] सि परमत्थु ण जाणहि[4] मूढो सि ॥86॥

शब्दार्थ–पंडियपंडिय–पण्डितों (में) पण्डित; पंडिया–(ज्ञानी) पण्डित; कणु–(अनाज के) दाने (को); छंडिवि–छोड़कर; तुस–भूसा; कंडिया–कूटा है; अत्थे–अर्थ में, धन में; तुट्ठो सि–सन्तुष्ट हो; परमत्थु–परमार्थ; ण जाणहि–नहीं जानते हो; मूढो सि–मूढ़ हो।

अर्थ–हे पण्डितों में श्रेष्ठ पण्डित! तुमने कण को छोड़ भूसे को कूटा है। तुम ग्रन्थ और उसके अर्थ में सन्तुष्ट हो, किन्तु परमार्थ को नहीं जानते। इसलिए मूढ़ हो।

भावार्थ–वास्तव में व्यवहार में रचे-पचे जीवों को परमार्थ की खबर नहीं है। परमार्थ क्या होता है–यह व्यवहारी नहीं जानता; भले ही वह पण्डित क्यों न हो?

---

1. **अ, क, ब** खंडिया; **द, स** कंडिया; 2. **अ, क** अत्थे; **द** अत्थो; **ब** अथे; 3. **अ, द, ब, स** तुट्ठो; **क** तुट्ठे; 4. **अ** जाणइ; **ब** परमत्थं ण जाणण; **क, द, स** जाणहि।

ऐसे ही पण्डित नामधारी को सम्बोधित कर यहाँ कहा जा रहा है कि तुम ऊँचे पण्डित भी भूसे को कूटने में लगे हुए हो; जबकि तुम्हें अनाज प्राप्त करने के लिए अनाज को कूटना चाहिए था। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में–

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम् ॥

–समयसार कलश, 242

अर्थात्–जो धान के छिलकों पर मोहित हो रहे हैं, वे छिलकों को ही जानते है, चावल को नहीं जानते; उसी प्रकार जो व्यवहार में मोहित हैं; परमार्थ को नहीं जानते हैं, वे सदा शुद्धात्मानुभव से रहित रहते हैं।

वास्तव में जो व्यवहार क्रिया-काण्ड मूढ़ता में मग्न हैं, वे मनुष्य परमार्थ स्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव नहीं कर सकते। जिनको चावल के छिलकों में चावल का ज्ञान है, वे भूसी ही प्राप्त करते हैं। पण्डितप्रवर टोडरमलजी उदाहरण से समझाते हुए कहते हैं–"जैसे चावल दो प्रकार के हैं–एक तुष सहित है और एक तुष रहित है। वहाँ ऐसा जानना कि तुष है वह चावल का स्वरूप नहीं है; चावल में दोष है। कोई समझदार तुषसहित चावल का संग्रह करता था, उसे देखकर कोई भोला तुषों को ही चावल मानकर संग्रह करे, तो वृथा ही खेदखिन्न होगा। वैसे चारित्र दो प्रकार का है–एक सराग है, एक वीतराग है। वहाँ ऐसा जानना कि जो राग है वह चारित्र का स्वरूप नहीं है, चारित्र में दोष है। तथा कितने ही ज्ञानी प्रशस्त राग सहित चारित्र धारण करते हैं, उन्हें देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्त राग को ही चारित्र मान कर संग्रह करे, तो वृथा खेदखिन्न ही होगा।"(मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृ. 244-245)

अक्खरडेहिं[1] जि गव्विया कारणु[2] ते ण मुणंति।
वंसविहीणउ[3] डोमु जिम सिरहत्थडा[4] धुणंति ॥87॥

शब्दार्थ–अक्खरडेहिं–अक्षरों, शब्दों (पर) जि–जो; गव्विया–गर्वित हैं, गर्व किया है; कारणु–कारण; ते ण मुणंति–वे नहीं समझते हैं; वंसविहीणउ–वंशविहीन, नीच कुल (के); डोमु जिम–डोम (के) जैसा; सिरहत्थडा–सिर हाथों (से); धुणंति–धुनते हैं।

अर्थ–जो शब्दों (को पढ़कर) गर्व करते हैं, वे मूल भाव (भावार्थ) नहीं समझते

1. **अ, क, द** अक्खरडेहिं; **ब, स** अक्खरडेहि; 2. **अ, क, द, स** कारणु; **ब** कारण; 3. **अ, क, द, ब** वंसविहत्था; **स** वंसविहीणउ; 4. **अ, क, द** परहत्थडा; **ब** परमत्थाणु; **स** सिरहत्थडा।

हैं वे वंशविहीन डोम के समान अपना सिर पीटते हैं, धुनते हैं।

भावार्थ—केवल अक्षरों, शब्दों की रचना या संकलना से कोई शास्त्र नहीं हो जाता, किन्तु उसमें जो भावार्थ है वह महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार कोई शास्त्र-पाठी तरह-तरह के शास्त्रों को रटकर सभा में व्याख्या करने लगे और ऐसा गर्व करे कि मैं "बहुत बड़ा पण्डित हूँ"—तो यह अंहकार मात्र है। क्योंकि जब तक किसी शास्त्र का रहस्य समझ में नहीं आता, तब तक ऊपर-ऊपर से समझा हुआ समझना चाहिए। मुनिश्री योगीन्दुदेव कहते हैं—

सत्थ पढंतह तेवि जड अप्पा जे ण मुणंति।
तिह कारण ते जीव फुडु णहु णिव्वाण लहंति ॥—योगसार, दो. 52

अर्थात्—शास्त्रों को पढ़ने पर भी जिनको निज शुद्धात्मा का भान, ज्ञान या अनुभव नहीं होता, वे उस अज्ञानता के कारण मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते।

आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि यही उचित है कि आत्मज्ञान के सिवाय अन्य कार्य बुद्धि में चिरकाल तक धारण न करे। प्रयोजनवश कोई दूसरा काम करना पड़े, तो वचन से व काय से करले, किन्तु मन को उसमें आसक्त न करे। (समाधिशतक, श्लोक 50)

इससे स्पष्ट है कि जब तक शास्त्र का रहस्य समझ में नहीं आता, तब तक मन में पछतावा बना रहता है। जिस तरह डोम ढोल पीटता रहता है और माथा धुनता है, वैसे ही अल्पज्ञानी के पूर्ण भाव स्पष्ट न होने तक चित्त में मनस्ताप बना ही रहता है।

णाणतिडिक्की[1] सिक्खि[2] वढ किं पढियइं बहुएण। जा संधुक्की[3] णिड्डहइ पुण्णु वि पाउ[4] खणेण ॥88॥

शब्दार्थ—णाणतिडिक्की—ज्ञान-चिनगारी; सिक्खि—सीखकर; वढ—मूर्ख; किं पढियइं—पढ़ने से क्या?; बहुएण—बहुतायत से; जा—जिस; संधुक्की—प्रज्वलित (होने से); णिड्डहइ—जल जाते हैं, निर्दहन हो जाते हैं; पुण्णु वि पाउ—पुण्य-पाप भी; खणेण—क्षण भर में।

अर्थ—हे मूर्ख! बहुत पढ़ने से क्या? आत्मज्ञान (ज्ञान-स्फुलिंग) की शिक्षा प्राप्त कर, जिसके प्रज्वलित (जागृत) होने पर क्षण भर में पुण्य-पाप भस्म हो जाते हैं।

भावार्थ—आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि मिथ्याज्ञानी घोर तप करके जिन

---

1. **अ, द, स** णाणतिडिक्की; **क, ब** तिडक्की; 2. **अ, क, द, स** सिक्खि; **ब** सिक्ख; 3. **अ, क** सिंधुक्की; **द** सुंधुक्की; **ब, स** संधुक्की; 4. **अ, क, द, स** पाउ; **ब** पाव।

कर्मों को बहुत जन्मों में क्षय करता है, उन कर्मों को आत्मज्ञानी मन, वचन, काय की सहज रोक होने से गुप्ति रूप आत्म-ध्यान के द्वारा अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर डालता है। उनके ही शब्दों में–

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहिं बहुएहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेदि अंतोमुहूत्तेण ॥ –मोक्षपाहुड, गा.सं. 53

आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि जैसे रत्न अग्नि में रहकर शुद्ध हो जाता है तथा दीप्ति को धारण करता हुआ शोभायमान होता है, वैसे जीव रुचिवान शास्त्र में रमण करता हुआ एक दिन मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। लेकिन जैसे अंगारा अग्नि में पड़ा हुआ कोयला या राख हो जाता है, वैसे ही मनुष्य शास्त्रों को पढ़ते हुए भी रागी-द्वेषी होकर कर्मों से मैले होते रहते हैं। अतः शास्त्र पढ़ने से क्या लाभ मिला? (आत्मानुशासन, श्लोक 176)

यथार्थ में आत्मज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उस विषय के शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है। पं. द्यानतरायजी के शब्दों में–

सिद्ध हुए अब होई जु होंइगे, ते सब ही अनुभौ गुन सेती।
ता बिन एक न जीव लहै सिव, घोर करो किरिया बहु केती।
ज्यों तुष माहिं नहीं कन-लाभ, किए नित उद्यम की विधि जेती
यौं लखि आदरिये निज भाव, विभाव विनास कला सुभ एती ॥
–द्यानत विलास, 66

सयलु वि कोवि[1] तडप्फडइ[2] सिद्धत्तणहु[3] तणेण।
सिद्धत्तणु परि[4] पावियइ[5] चित्तहं[6] णिम्मलएण ॥89॥

शब्दार्थ–सयलु वि–सभी; कोवि–कोई; तडप्फडइ–तड़पते (हैं); सिद्धत्तणहु–सिद्धत्व (पाने); तणेण–के लिए; सिद्धत्तणु–सिद्धत्व; परि–किन्तु; पावियइ–प्राप्त होता है; चित्तहं–चित्त (की); णिम्मलएण–निर्मलता से।

अर्थ–सब कोई सिद्ध होने के लिए तड़पते हैं; किन्तु सिद्धत्व चित्त के निर्मल होने के उपरान्त ही प्राप्त होता है।

भावार्थ–संसार के सभी जीव दुःखों से घबराकर दुःखों से छुटकारा पाने के

---

1. **अ, स** कोइ; **क, द, ब** को वि; 2. **अ** चडप्फडइ; **क, द, ब, स** तडप्फडइ; 3. **अ** सिद्धतणहो; **क, द, ब, स** सिद्धत्तणहु; 4. **अ, क** पर; **द, ब, स** परि; 5. **अ** पाईयइ; **क, द, ब, स** पावियइ; 6. **अ** चित्तह; **क, द, ब, स** चित्तहं।

लिए कर्मरहित सिद्ध अवस्था के लिए तड़पते रहते हैं। जो नित्य, निर्विकार, उत्कृष्ट सुख के स्थान, सहज शक्ति से भरपूर, निर्दोष, पूर्ण ज्ञानी, अनादि-अनन्त हैं, सभी विरोधों से रहित, सर्वांग से सुन्दर वे लोक के शिरोमणि सिद्ध भगवान हैं जो सदा जयवन्त हैं। (समयसार नाटक, मंगलाचरण, पद सं.4)

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि आज तक जो सिद्ध हुए हैं, वे भेद-विज्ञान के बल से सिद्ध हुए हैं। यहाँ पर विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध और वेदान्ती जो वस्तु को अद्वैत कहते हैं और अद्वैत के अनुभव से सिद्धि मानते हैं, उनका निषेध किया गया है। क्योंकि जो वस्तु को सर्वथा अद्वैत न होने पर भी उस रूप मानते हैं, उनके भेद-विज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती। भेद-विज्ञान के प्रकट करने के अभ्यास से शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि होती है, चित्त निर्मल होता है और राग-समूह विलीन होने लगता है, तभी कर्मों का आना रुकता है और ज्ञान का उदय होता है, निर्मल प्रकाश होता है और एक दिन परम अविनाशी अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति अर्थात् ज्ञान ज्ञान में अचल हो जाता है। इस प्रकार सिद्धत्व की प्राप्ति होती है। (समयसारकलश, 131, 132)

केवलु[1] मलपरिवज्जियउ[2] जहिं[3] सो ठाइ अणाइ।
तस[4] उरि सवु जगु संचरइ परइ ण कोइ वि[5] जाइ ॥90॥

शब्दार्थ—केवलु—केवल (ज्ञान); मलपरिवज्जियउ—मल से रहित; जहिं—जहाँ; सो—वह; ठाइ—स्थित (है); अणाइ—अनादि (से); तस—उसके; उरि—हृदय में; सवु—सब; जगु—जग; संचरइ—संचरण करता है अर्थात् ज्ञान का ज्ञेय होता है; परइ—परे; ण कोइ वि जाइ—नहीं कोई भी जाता, जा सकता है।

अर्थ—जहाँ पर मल से रहित, अनादि केवलज्ञानी भगवान् स्थित है, वहीं उनके हृदय में तीन लोक परिणमनशील प्रतिबिम्बित होता है। उनके ज्ञान के परे कोई भी नहीं जा सकता है।

भावार्थ—उक्त दोहा आचार्य समन्तभद्र के "रत्नकरण्डश्रावकाचार" का अनुवाद है, जिसमें कहा गया है कि जिनकी आत्मा सभी कर्म-मलों से रहित उस केवलज्ञान में स्थित है; जिनके ज्ञान-दर्पण में तीन लोक, तीन कालके चराचर पदार्थ एक साथ एक समय में प्रतिबिम्बित होते हैं; उनके ज्ञानकी स्वच्छता का ऐसा

---

1. **अ, द, स** केवलु; **क** सीलहं कलपरि; **ब** केवल; 2. **अ** मलपरिवज्जिय; **द** मलपरिवज्जियइं; **क** मलपरिवज्जियउ; **ब** मलपरपज्जियइ; 3. **अ, क, ब, स** जहिं; **द** यइं; 4. **अ, ब, स** तसु; **क, द** तस; 5. **अ** ण; **क, द, ब, स** वि।

परिणमन है कि तीन लोक के सम्पूर्ण ज्ञेयाकार पदार्थ न तो उनके ज्ञान के भीतर आ जाते हैं और न केवलज्ञानी का ज्ञान लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशों को छोड़कर कहीं बाहर उन ज्ञेय पदार्थों को विषय करने जाता है। वास्तव में अर्हन्त परमात्मा उस समय परम अतीन्द्रिय सुख में लीन रहते हैं और ज्ञाता-द्रष्टा ही रहते हैं। आचार्य शिवकोटि कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान भूत, भावी और वर्तमान के सभी चर-अचर पदार्थों को चित्रपट की भाँति प्रत्यक्ष जानते हैं। त्रिकालवर्ती सभी द्रव्यों को उनकी समस्त गुण-पर्यायों सहित सम्पूर्ण लोक-अलोक को चित्रपट की भाँति एक साथ एक समय में देखते हैं।(भगवती आराधना, श्लोक 2109)

आचार्य शुभचन्द्र तो यह कहते हैं कि केवलज्ञान ज्योतिका स्वरूप योगियों ने ऐसा कहा है कि जिस ज्ञान के अनन्तानन्त भाग में ही सभी चर-अचर, लोक-अलोक प्रतिभासित हो जाता है। ऐसे अनन्त लोक हों, तो भी उस ज्ञान में झलकते हैं। इतना व्यापक तथा विशाल केवलज्ञान है। (ज्ञानार्णव, 10-7)

अप्पा अप्पि परिट्ठियउ[1] कहिं[2] वि ण लग्गइ लेउ[3]।
सव्वु जि[4] दोसु महंतु तसु[5] जं पुणु होइ वि[6] छेउ ॥91॥

शब्दार्थ—अप्पा—आत्मा; अप्पि—आप में; परिट्ठियउ—स्थिर हो गया; कहिं—कहीं; वि—भी; ण लग्गइ—नहीं लगता है; लेउ—लेप, मल, दोष; सव्वु जि—सब ही; दोसु—दोष; महंतु—महान; तसु—उसका, उनका; जं पुणु—जो फिर; होई—होता है; विछेउ—विच्छेदन।

अर्थ—जब आत्मा अपने आप में स्थिर हो जाती है, तब कहीं भी उसमें कोई मल नहीं लगता और वे सभी महादोष भी नष्ट हो जाते हैं जो पुरातन काल से संयोग में हैं।

भावार्थ—आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि निश्चयनय से जो आत्मा अपनी आत्मा में लीन हो जाता है, वही योगी सम्यक् चारित्रवान होता हुआ निर्वाण को प्राप्त करता है।(मोक्षपाहुड, गा सं. 83)

वास्तव में आत्मा निर्मल अनुभूति मात्र से शुद्ध है। क्योंकि ज्ञानानुभूति में निर्मल आत्मा का ही अवलोकन होता है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है—जैसे समुद्र के भँवर ने बहुत समय से किसी जहाज को पकड़ रखा हो; जब वह भँवर शान्त होता है, तब जहाज छूट जाता है। इसी प्रकार अनादि काल से इस जीव ने

---

1. **अ** परिट्ठियहिं; **क, द, स** परिट्ठियउ; **ब** परट्ठियउ; 2. **अ** कहि; **क, द, स** कहिं; **ब** कह; 3. **अ, द, ब** लेउ; **स** लेव; **क** लोउ; 4. **अ** ज; **क** जु; **द, ब, स** जि; 5. **अ, क** तहो; **द, ब, स** तसु; 6. **अ** होइ वि; **क, द** होइ; **अ, ब, स** होसइ।

संकल्प-विकल्पों की भँवरों में अपनी जीवन-नौका फँसा रखी है। जैसे ही यह आत्म-स्वभाव में निश्चल होता है, संकल्प-विकल्पों के निरोध से मुक्तस्वरूप अनुभव करता है, वैसे ही आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। (समयसार, गा. 73 टीका) जहाँ-जहाँ आस्रव है, वहीं कर्म का बन्ध है। प्रथम समय में जो आस्रव है, दूसरे समय में वह बन्ध है। दो समय तक ठहरना बन्ध है। जहाँ बन्ध है, वहाँ संसार है। आत्मा में रमण करने वाले योगी को कर्म का बन्ध नहीं होता। इसलिए उक्त दोहे में यह कहा गया है कि निज शुद्धात्मा के स्वरूप में स्थिर रहना चाहिए। अध्यात्म में शुद्धात्मा में लौ लग जाने पर उसमें जो तल्लीनता होती है, उसे ही स्थिरता कहा जाता है। स्थिरता को चारित्र कहा गया है। इस स्थिरता के होने पर राग-द्वेष का अभाव होता है। जैसे-जैसे स्थिरता बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे राग-द्वेष घटते जाते हैं। 'राग-द्वेष' को ही 'मल' कहा गया है अथवा कर्म को भी 'मल' कहते हैं।

जोइय जोएं[1] लइयेण[2] जइ धंधइ ण पडीसि।
देहकुडिल्ली[3] परिखिवइ तुहुं[4] तेमइ अच्छेसि ॥92॥

शब्दार्थ—जोइय—योगी; जोएं—योग को; लइयेण—लेकर, धारण कर; जइ—यदि; धंधइ—धन्धे में; ण पडीसि—नहीं पड़ोगे; देहकुडिल्ली—देह (रूपी) कुटिया; परिखिवइ—नष्ट होगी; तुहुं—तुम; तेमइ—उस तरह; अच्छेसि—अक्षय हो जाओगे।

अर्थ—हे जोगी! योग धारण कर (अर्थात् आत्मस्वभाव में लीन रहा करो) यदि धन्धे (संकल्प-विकल्प) में नहीं पड़ोगे, तो तुम अक्षय हो जाओगे और इस देह रूपी कुटिया का क्षय हो जाएगा।

भावार्थ—इस जगत में कितने ही साम्य भाव के धारक धन्य योगीश्वर हैं, जिनके भीतर भेदज्ञान के बल से मन की वृत्ति रुक जाने से उत्तम ध्यान का प्रकाश परम निश्चल हो रहा है; जिसको देखकर आश्चर्य होता है। वे ऐसे निश्चल ध्यानी हैं कि किसी प्रकार का उपसर्ग आने पर भी ध्यान से चलायमान नहीं होते। यदि मस्तक पर वज्रपात पड़े या तीनों लोक अग्नि में जल जाएँ तथा प्राणों का नाश भी हो जाए, तो भी उनके परिणामों में विकार नही होता। (पद्मनन्दिपंचविंशतिका, यति भावना, 7)

ऐसे साधु-सन्त नियम से निर्वाण को प्राप्त होते हैं। प्रायः साधु निर्विकल्प आत्म-ध्यान, समाधि तथा आत्म-चिन्तन में लीन रहते हैं। जहाँ निज शुद्धात्मा का

---

1. **अ** जोइय; **क, द** जोएं; **ब** जोइं, **स** जोए; 2. **अ, द** लइयइण; **क** लइण; **ब** लइयाएण; **स** लइयेण; 3. **अ, क, ब** देहकुडिल्ली; **द, स** कुडुल्ली; 4. **अ, ब** तुहु; **क, द** तुहुं; **स** तुह।

ही निरन्तर ध्यान है, वहाँ संकल्प-विकल्पों को कहाँ अवकाश है? अपने आत्मस्वभाव में जिनकी स्थिरता है, वे अपने में ही लीन होने के कारण निरन्तर-ध्यान-काल में अपने स्वभाव को जानने, देखने और रमने में लगे रहते हैं। इस प्रकार के योगी ही विकल्पों के जाल से निकलकर निर्विकल्प साधना में लीन रहते हैं। घोर उपसर्ग, परीषहों के बीच भी वे सुमेरु के समान निश्चल निज शुद्धात्म स्वभाव में लवलीन रहते हैं। अतः अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा वीर्य रूप अपने स्वभाव को प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

शास्त्रों में ठीक ही कहा गया है कि महामोह रूपी अग्नि से जलते हुए इस जगत् में देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी सभी दुःखी हैं, किन्तु जो तपोधन (तपस्वी) हैं तथा सभी प्रकार के विषयों का सम्बन्ध जिन्होंने त्याग दिया है, ऐसे साधु, मुनि ही इस लोक में सुखी हैं।

अरि मणकरह म रइ करहि इंदियविसयसुहेण।
सोक्खु[1] णिरंतरु जेहिं[2] णवि मुच्चहि[3] ते वि खणेण ॥93॥

शब्दार्थ—अरि—अरे!; मणकरह—मन (रूपी); करभ (ऊँट); म—मत; रइ-रति (प्रेम); करहि—करो; इंदियविसयसुहेण—इन्द्रियों (के) विषय-सुख से; सोक्खु—सुख; णिरंतरु—निरन्तर; जेहिं—जिन से; णवि—नहीं; मुच्चहि—छोड़ो; ते वि—उन (सभी को); खणेण—क्षण भर में।

अर्थ—अरे मन रूपी ऊँट! इन्द्रियों के विषयों के सुख से राग भाव मत कर। जिनसे निरन्तर (अक्षय) सुख नहीं मिल सकता, उन सब को क्षण मात्र में छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ—यहाँ पर मन को ऊँट के समान बताया है, लेकिन प्रायः मन को बन्दर की उपमा दी जाती है। वास्तव में मन की चंचलता को बताने के लिए ही ये उपमान हैं।

कुलभद्राचार्य कहते हैं कि यह जीव पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर विनय और आचार सहित ज्ञानकी भावना करने से आत्मा के कल्याण को प्राप्त करता है।(सारसमुच्चय, श्लोक 4)

मुनिश्री योगीन्द्रदेव ने भी पाँचों इन्द्रियों को ऊँट की संज्ञा दी है। उनके ही शब्दों में—

---

1. अ, ब सोक्खु; द, स सुक्खु; क मुक्खु; 2. अ जेहि; क, द, ब, स जेहिं; 3. अ मुच्चहिं; क, द, स मुच्चहि; ब मुच्चइ।

ए पंचिंदिय-करहडा जिय मोक्कला म चारि।
चरिवि असेसु वि विसय-वणु पुणु पाडहिं संसारि ॥ परमात्म. 2,136

अर्थात् ये प्रत्यक्ष पाँच इन्द्रिय रूपी ऊँट हैं। इनको अपनी इच्छा से मत चरने दे। क्योंकि सम्पूर्ण विषय-वन का भक्षण करके भी ये संसार में ही पटक देंगे।

वास्तव में जो संसार से बँधता है, वह कर्मों से बँधता है। कर्म-बन्धन में बँधने पर चित्त मैला हो जाता है और चित्त के मैला होने पर संसार के कार्यों में जीव आसक्त हो जाता है। इसलिए जो संसार से छूटना चाहता है, जन्म-मरण का अभाव करना चाहता है, उसे सर्वप्रथम अपने मन को वश में करना चाहिए। मन को वश में करने के लिए इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा का त्याग करना होगा। क्योंकि यदि मन विषयों में ही आसक्त रहा, तो ज्ञान-वैराग्य की सम्हाल नहीं हो सकती है। किन्तु आत्मिक उन्नति के लिए ज्ञान-वैराग्यपूर्ण जीवन ही उपयोगी है।

तूसि म रूसि म कोहु[1] करि कोहें णासइ धम्मु।
धम्मिं[2] णट्ठे[3] णरयगइ[4] अह गउ माणुसजम्मु ॥94॥

शब्दार्थ—तूसि—तुष्ट हो; म—मत; रूसि—रुष्ट हो; म कोहु करि—मत क्रोध करो; कोहें—क्रोध से; णासइ—नष्ट होता है; धम्मु—धर्म; धम्मिं णट्ठे—धर्म (के) नष्ट होने पर; णरयगइ—नरक गति; अह—अथवा; गउ—गया (चला गया, व्यर्थ गया); माणुसजम्मु—मनुष्य जन्म।

अर्थ—तुम अपने में तुष्ट रहो। रोष, क्रोध मत करो। क्योंकि क्रोध से धर्म नष्ट होता है। धर्म का नाश होने पर नरक गति मिलती है। तो समझना चाहिए कि मनुष्य जन्म व्यर्थ गया।

भावार्थ—जो अपने स्वभाव में नहीं रहता, वह आत्मस्वभाव से बाहर आते ही क्रोध, मान आदि भावों को करने में लग जाता है। इसलिए उत्तम तो यही है कि निज आत्मा के स्वभाव में रहे। क्रोध का आवेश होने पर पहले यह स्वयं जलता है और फिर दूसरे को जलाने की चेष्टा करता है। जैसे उग्र विषधारी सर्प डाभ, तृणांकुर से दुखी होकर क्रोधित होता है और क्रोध से तृणों के ऊपर फन पटकने से धर्मरहित निःसार हो जाता है। फिर, क्रोध से नरक-निगोद को प्राप्त होता है। (भगवती आराधना, गा. 1364-1368)

---

1. **अ** कोह; **क, द, ब, स** कोहु; 2. **अ, ब** धम्मे; **क** धम्में; **द, स** धम्मिं; 3. **अ, ब, स** णट्ठे; **क, द** णट्ठिं; 4. **अ, स** णरयगय; **क, द, ब** णरयगइ।

क्रोध से सबसे बड़ी हानि यह है कि क्रोध के आते ही विवेक गायब हो जाता है। क्रोध में जलते हुए प्राणी को यह भान नहीं रहता है कि कर्त्तव्य क्या और क्या नहीं है। क्रोध से स्वास्थ्य, शरीर, मन और भावों सभी को हानि पहुँचती है। जब क्रोध का आवेश आने पर महान् पुरुष भी दुर्दर्शनीय अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तो फिर साधारण जनों का क्या कहना है? जब तक मनुष्य काम-क्रोधादिक के वश में है, तब तक उसे परमात्मा का दर्शन नहीं होता। परमात्मा का दर्शन हुए बिना अपना स्वरूप भासित नहीं होता और अपना स्वरूप भासे बिना सुख तथा शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। क्रोध का अर्थ है—अपने से द्रोह, अरुचि, अवमानना करना। जिसे आत्मा नहीं रुचती है, वह क्रोध करता है। क्योंकि उसकी दृष्टि पर-निमित्त पर होती है और वह उसे प्रतिकूल मानता है। तभी तो कहा गया है—

अनुकूल कहें प्रतिकूल कहें, यह झूठी मन की वृत्ति है।
प्रतिकूल संयोगों में क्रोधित, होकर संसार बढ़ाया है।

हत्थ अहुट्ठ जु[1] देवलि वालहं[2] णाहि पवेसु।
संतु[3] णिरंजणु तहिं[4] वसइ णिम्मलु होइ गवेसु ॥95॥

शब्दार्थ—हत्थ अहुट्ठ—साढ़ तीन हाथ (के); जु-जो; देवलि—देवालय में; वालहं—बाल (मात्र का); णाहि—नहीं; पवेसु—प्रवेश; संतु णिरंजणु—सन्त निरंजन; तहिं-वहीं; वसइ-रहता है; णिम्मलु-निर्मल, होइ-हो कर, गवेसु-खोज करो।

अर्थ—साढ़े तीन हाथ का जो देवालय है, उसके भीतर एक बाल का भी प्रवेश नहीं है, उसी में सन्त निरंजन बसता है। तुम निर्मल होकर उसकी खोज करो।

भावार्थ—एक भी परिग्रह का त्याग न होने पर चित्त निर्मल नहीं होता। आचार्य अमितगति का कथन है—

एकत्राप्यपरित्यक्ते चित्तशुद्धिर्न विद्यते।
चित्तशुद्धिं बिना साधोः कुतस्त्या कर्म-विच्युतिः ॥ योगसार, 8,35

अर्थात्—चौबीस प्रकार के परिग्रह में से यदि एक भी परिग्रह नहीं छूटता है, तो चित्त शुद्ध नहीं होता। चित्तशुद्धि के बिना किसी भी साधु की कर्मों से मुक्ति नहीं होती।

भूमि, भवन, धन-धान्यादि के भेद से बाहरी परिग्रह दश प्रकार का और

---

1. **अ, द, ब** अहुट्ठ जु; **क** अहुट्ठहं; **स** अहुट्ठह; 2. **अ, ब** वालह; **क, स** वालहं; **द** वालहि; 3. **अ, क, ब, स** संतु; **द** सत्तु; 4. **अ, द** तहिं; **क** तह; **स** तहं; **ब** तहि।

मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादि के भेद से अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का कहा गया है। जिस प्रकार चावल में जब तक ललाई रूप मल है, तब तक तुष से सम्बन्ध बना रहता है; उसी प्रकार जब तक शुद्धोपयोग नहीं होता, तब तक शुभ-अशुभ भाव रूप कर्म-सम्बन्ध बना रहता है। अतः निज शुद्धात्मा की खोज करने के लिए सब प्रकार के सम्बन्धों से हटकर अपना चित्त अपने में स्थिर करना होता है।

यद्यपि आत्मा सन्त, निरंजन स्वभाव है, किन्तु ममता मात्र से चित्त में विक्षेप उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। जो योगी वस्त्र-पात्रादि का रखना, धरना, धोना, सुखाना, भंग-रक्षा करना आदि कार्य करते हैं, उनके चित्त का विक्षेप नहीं मिटता है। उनको करते हुए आरम्भ, असंयम तथा ममता का अभाव कैसे होता है? वास्तव में ममता के बिना ये कार्य नहीं हो सकते। अतः कोई साधु होकर भी किसी भी प्रकार का परिग्रह धारण किए हुए रहता है, तो उसके स्वात्म-सिद्धि नहीं हो सकती।

लक्ष्मीचन्द्र के 'दोहाणुवेक्खा' में उक्त दोहे से मिलता हुआ दोहा इस प्रकार है—

हत्थ अहुट्ठ जु देवलि, तहिं सिव संतु मुणेइ।
मूढा देवलि देव णवि, भुल्लउ काइं भमेइ ॥38॥

अर्थात्—साढ़े तीन हाथ के (शरीर रूपी) देवालय में शिव परमात्मा विराजमान हैं—ऐसा समझ। हे मूढ़! देवालय में (चेतन) देव नहीं है। भूला हुआ कहाँ भटक रहा है?

अप्पापरहं[1] ण मेलयउ[2] मणु मोडिवि[3] सहसत्ति।
सो वढ जोइय[4] किं करइ जासु ण एही[5] सत्ति ॥96॥

शब्दार्थ—अप्पापरहं—आत्मा—पर का; ण मेलयउ—मेल नहीं (हो सकता); मणु—मन; मोडिवि—मोड़कर; सहसत्ति—सहसा; सो—वह; वढ—मूर्ख; जोइय—योगी; किं करइ—क्या करता है; जासु ण—जिसकी नहीं; एही—ऐसी; सत्ति—शक्ति।

अर्थ—सहसा अपने मन को मोड़ लेने पर आप का मेल पर से नहीं हो सकता। किन्तु वह मूर्ख योगी क्या करे, जिसमें इतनी शक्ति नहीं है (कि वह अपने मन को मोड़ ले)।

भावार्थ—मुनि योगीन्दुदेव कहते हैं कि जिसका मन रूपी जल विषय-कषाय रूप प्रचण्ड पवन से चलायमान नहीं होता है, उस भव्य जीवकी आत्मा निर्मल होती

1. **अ** अप्पापरह; **क, द, ब, स** अप्पापरहं; 2. **अ** मेलियउ; **क, द, स** मेलयउ; **ब** मेलविउ; 3. **अ** तोडवि; **क** तोडिवि; **द, स** मोडिवि; **ब** मोडवि; 4. **अ, स** जोई; **क, द, ब** जोइय; 5. **अ, द, ब, स** एही; **क** एहा।

है। अतः उसको आत्मा शीघ्र ही प्रत्यक्ष हो जाती है। यही नहीं, जिसने मन को वश में करके भी आत्मा का परमात्मा से मिलन नहीं कराया, उसमें ऐसी शक्ति नहीं है जो योग से भी कुछ कर सके। अभिप्राय यह है कि वह कुछ नहीं कर सकता है। इसका भावार्थ लिखते हुए ब्रह्मदेवसूरि स्पष्ट करते हैं कि जिसमें मन मारने की शक्ति नहीं है, वह योगी कैसा? योगी तो उसे कहते हैं जो बढ़ाई, पूजा, लाभ आदि सभी तरह के विकल्प-जालों से रहित निर्मल ज्ञान-दर्शनमयी परमात्मा को देखे, जाने, अनुभव करे। सो ऐसा मन के मारे बिना नहीं हो सकता, यह निश्चय जानना। अतः मिथ्यात्व, विषय-कषायादि विकल्पों के समूह कर परिणत हुए मन को वीतराग निर्विकल्प समाधि रूप शस्त्र से शीघ्र ही मारकर आत्मा का परमात्मा से मिलन कराना चाहिए। (परमात्मप्रकाश, 2, 156)

'परमात्मप्रकाश' में 'मणु मारिवि' ऐसा पाठ है और यहाँ पर 'दोहा पाहुड' में 'मणु मोडिवि' पाठ है। यह भिन्नता होने पर भी वास्तव में भाव दोनों का एक है। क्योंकि जिसका मन अब भी संसार की ओर है, ख्याति, लाभ, पूजादि चाह में लगा हुआ है, उसका मन स्वात्मोन्मुख नहीं हुआ है। अतः उसका मन वश में होकर कैसे मर सकता है? आत्मा का परमात्मा से मिलन नहीं हो सकता।

यह रहस्यवादपरक दोहा है।

सो जोयउ जो जोगवइ णिम्मलु[1] जोयइ[2] जोइ[3]।
जो पुणु इंदियवसि गयउ सो इह सावयलोइ[4] ॥97॥

शब्दार्थ—सो—वह; जोयउ—योग; जो जोगवइ—जो योगी (को); णिम्मलु—निर्मल; जोयइ—देखता है, दर्शन करता है; जोइ—ज्योति (का); जो पुणु—जो फिर; इंदियवसि—इन्द्रियों (के) वश में (हो); गयउ—गया; सो इह—वह यह; सावयलोइ—श्रावक लोग (हैं)।

अर्थ—योग तो वही है जिससे योगी निर्मल ज्योति का दर्शन कर ले। जो इन्द्रियों के अधीन हो गये हैं, वे तो ये श्रावक लोग हैं।

भावार्थ—वास्तव में योग वही है जिसमें निर्मल ज्योति विकासमान होती है। आत्मा रूपी सूर्य पर छाने वाले कर्म रूपी मेघों को योग धुन डालता है। अतः कर्मनाशक शक्ति को योग कहा गया है। आचार्य अमितगति के शब्दों में—

विविक्तात्म—परिज्ञानं योगात्संजायते यतः।
स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूत-पातकैः ॥योगसार, 9,10

1. **अ, स** णिम्मलु; **द** णिम्मलि; **क** णिम्मणु; **ब** णिम्मणि; 2. **अ** भावइ; **क, द, स** जोइय; **ब** जोयइ; 3. **अ** लोउ; **क, द, ब, स** जोइ; 4. **अ** सावउलोउ; **क, ब** सावइलोइ; **द, स** सावयलोइ।

अर्थात् शुद्धात्मानुभव से जो आत्मज्ञान तथा शक्तिविशेष का स्फुरण होता है, वह योग है। योगी योग के बल से घातिया कर्मों का नाश कर देता है।

'योग' का अर्थ समाधि और ध्यान भी होता है। 'योगबल' का अर्थ ध्यान का बल समझना चाहिए। यहाँ पर यही अर्थ अभिप्रेत है। वास्तव में निर्मल ज्ञान जब स्थिर हो जाता है, तब वह ध्यान कहलाता है। ऐसे योगी इन्द्रियों और मन के वश में नहीं होते। इन्द्रियों और मनका गुलाम होना यह लौकिक जन की पहचान है। क्योंकि पराधीनता सबसे बड़ा दुःख है। योगी का लक्षण ही यह बताया गया है कि जिसने श्वास को जीत लिया है, जिसके नेत्र टिमकार रहित हैं, जो शरीर के सम्पूर्ण व्यापारों से रहित है, ऐसी अवस्था को जो प्राप्त हो गया है, वह निश्चय ही योगी है। (बृहत्नयचक्र गा. 388)

आचार्य पद्मनन्दि के शब्दों में—

> वचनविर।चेतैवोत्यते भेदबुद्धिर्दृगवगमचरित्राण्यात्मनः स्वं स्वरूपम्।
> अनुपमचरितमेतच्चेतनैक स्वभावं व्रजति विषयभावं योगिना योगदृष्टेः ॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहने में रत्नत्रय भेद रूप मोक्षमार्ग है। यथार्थ में यह रत्नत्रय आत्मा का अपना स्वभाव है। योगी ध्यान-दृष्टि के द्वारा अनुपम इस चेतनामय स्वभाव का ही अनुभव करते हैं। कहा भी है—

> सुद्धातम अनुभौ क्रिया, सुद्ध ग्यान द्रिग दौर।
> मुकति-पंथ साधन यहै, वागजाल सब और ॥

—समयसार नाटक, सर्वविशुद्धिद्वार, 126

अर्थात्—शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, बाकी सब वाग्जाल है।

बहुयइं[1] पढियइं[2] मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु[3] जि अक्खरु[4] तं पढहु[5] सिवपुरि[6] गम्मइ जेण ॥98॥

शब्दार्थ—बहुयइं—बहुत; पढियइं—पढ़ने (से); मूढ—मूढ; पर—किन्तु; तालू—तालु; सुक्कइ—सूखता (जाता) है; जेण—जिससे; एक्कु—एक; जि—जो;

---

1. अ बहूयइ; क, द बहुयइं; ब, स बहुयइ; 2. अ, ब पढियइ; क, द, स पढियइं; 3. अ इक्कु; क, द, स एक्कु; ब, स एक्क; 4. अ, ब अक्खर; क, द स अक्खरु; 5. अ पढइ; क, द, ब, स पढहु; 6. अ सिउपुरि; क, द, ब सिवपुरि।

अक्खरु–अक्षर; तं–उसे; पढहु–पढ़ो; सिवपुरि–शिवपुरी में; गम्मइ–गमन होता है; जेण–जिससे।

अर्थ–हे मूर्ख! बहुत पढ़ा, जिससे रटते-रटते तालू सूख गया। लेकिन उस एक अक्षर को पढ़ ले, जिससे शिवपुरी में गमन हो सके।

भावार्थ–जैनधर्म में चार अनुयोग रूप आयम हैं। जो जीवन भर आगम ग्रन्थों को पढ़ता रहा, लेकिन उनमें विवेचित 'आत्मा' को जिसने नहीं पढ़ा, उसके विशेष श्रम से भी क्या लाभ हुआ? आचार्य अमितगति का कथन है–

आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयः विद्वत्तायाः परं फलम्।
अशेषशास्त्र-शास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः ॥योगसार, 7,43

अर्थात्–आत्मध्यान में लीनता होना, यह विद्वत्ता का उत्कृष्ट फल है। यदि आत्मरुचि तथा आत्मलीनता नहीं है, तो सम्पूर्ण शास्त्रों का शास्त्रीयपन भी संसार-परिभ्रमण का कारण समझना चाहिए। यही नहीं, जो मनुष्य भलीभाँति मूढ़ चित्त हैं, उनका संसार तो सभी-पुत्रादिक हैं और जो अध्यात्म से रहित विद्वान् हैं, उनका संसार 'शास्त्र' है। (वही, 7, 44)

वास्तव में जो आजीवन शास्त्र-वाचन, उपदेश करते रहे, लेकिन जिन्होंने अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पहचाना, कभी निज शुद्धात्माका अनुभव नहीं किया, उनके अनेक शास्त्रों के अध्ययन करने से भी परमार्थ रूप से क्या लाभ हुआ? लोक में उद्योग, व्यापार से अर्थ का लाभ होता है, किन्तु वह लौकिक लाभ है। परमार्थतः वह संसार का लाभ होने से मोक्षमार्ग में गिनने योग्य नहीं है। क्योंकि उनका समस्त प्रयत्न विषय-सुख तक सीमित है, और उससे वे खेद-खिन्न ही रहते हैं। यदि उन्होंने एक 'आत्मा' को पढ़ लिया होता, तो निश्चय ही उनको अतीन्द्रिय ज्ञान, आनन्द की उपलब्धि हुए बिना नहीं रहती। अतीन्द्रिय ज्ञान, आनन्द उपलब्ध होने पर जीवन में सन्तोष और सुख लाक्षित होने लगता है।

अंतो[1] णत्थि सुईणं कालो थोओ[2] वि अम्ह दुम्मेहा।
तं णवर सिक्खियव्वं जं[3] जरमरणक्खयं[4] कुणहि ॥99॥

शब्दार्थ–अंतो–अन्त; णत्थि–नहीं है; सुईणं–श्रुतियों (का); कालो–समय; थोओ (स्तोक)–अल्प (है); वि–तथा; अम्ह–हम; दुम्मेहा–दुर्बुद्धि (हैं); तं णवर–उस केवल; सिक्खियव्वं–शिक्षा योग्य, सीख को सीखना चाहिए; जं–जो; जरमरणक्खयं–जरा-मरण (का) क्षय; कुणहि–करे।

1. अ, ब, स अंतो; क, द अन्तो; 2. अ, ब, स थोवो; क, द थोओ; 3. अ, स जे; क, द, ब जिं; 4. अ, क जरमरणं खयं; द, ब, स जरमरणक्खयं।

अर्थ—श्रुतियों का अन्त (पार) नहीं है, समय अल्प है तथा हम दुर्बुद्धि हैं। इसलिए हमें केवल इतना ही सीखना चाहिए, जिससे जरा-मरण का क्षय अर्थात् जन्म-मरण का अभाव हो सके।

भावार्थ—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शास्त्रों का पार नहीं है। उन सभी शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए हमारे पास समय नहीं है। कुछ शास्त्र तो इतने क्लिष्ट हैं कि उनमें हमारी दुर्बुद्धि का प्रवेश नहीं है। अतः हम उनका रहस्य समझना चाहें, तो बहुत कठिन है। लेकिन जन्म-मरण के अभाव करने की कला तो हम सीख सकते हैं। क्योंकि प्रयोजन तो एक ही है। इसलिए चाहे अनेक शास्त्रों का अभ्यास करें या अल्प शास्त्रों का; लेकिन हमारा प्रयोजन परम अविनाशी अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का सिद्ध होना चाहिए। आचार्य अमितगति कहते हैं कि जो परम शुद्ध, बुद्ध भाव के धारक हैं तथा कर्म-कलंक से रहित हैं, उनको ध्यान का विषय बनाकर निज शुद्धात्म स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। जिनको उसकी महिमा प्रकट हो गई है, जो संसार का त्याग कर जन्म-जरा-मरण से रहित अतीन्द्रिय, अनुपम एवं अनन्त सुख स्वरूप मुक्ति को प्राप्त कर अनन्त काल तक वहीं तिष्ठते हैं—वास्तव में उनका श्रुत एवं तत्त्व का अभ्यास करना सफल है। वास्तव में जन्म-मरण का अभाव करने के लिए निज शुद्धात्मा का अनुभव करना ही योग्य है। कहा भी है—

जगत चक्षु आनन्दमय, ग्यान चेतनाभास।
निरविकलप सासुत सुथिर, कीजै अनुभौ तास ॥
अचल अखंडित ग्यानमय, पूरन वीतममत्व।
ग्यानगम्य बाधारहित, सो है आतमतत्त्व ॥

—समयसार. सर्वविशुद्धिद्वार, 127-128

अर्थात्—आत्मपदार्थ जगत के सब पदार्थों को देखने के लिए नेत्र के समान है, आनन्दमय है, ज्ञानचेतना से प्रकाशित है, संकल्प-विकल्प रहित है, स्वयं सिद्ध है, अविनाशी है, अचल है, अखण्डित है, ज्ञान का पिण्ड है, सुख आदि अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, वीतराग है, इन्द्रियों के अगोचर है, ज्ञानगोचर है, जन्म-मरण तथा भूख-प्यास आदि की बाधा से रहित निराबाध है। ऐसे आत्मतत्त्व का अनुभव करो।

णिल्लक्खणु इत्थीबाहिरउ अकुलीणउ[1] महु मणि ठियउ।
तासु कारण[2] झाणी[3] माहुर जेण[4] गवंगउ संठियउ ॥100॥

शब्दार्थ—णिल्लक्खणु—निर्लक्षण, लक्षणों (से) रहित; इत्थीबाहिरउ—स्त्री

1. अ अकुलाण; क, द, स अकुलीणउ; ब अकुलीण; 2. अ करणि; क, द, स कारणि; ब कारण; 3. अ झीमाइ; द थीमाइ (?); ब झाणी; स आणी; 4. अ, क, ब, स तेण; द जेण।

(की पहुँच से) बाहर; अकुलीणउ–अकुलीन; महु–मेरे, मुझके; मणि–मन में; ठियउ–स्थित (है); तासु–उसके; कारण; झाणी-माहुर–ध्यान (का) लाक्षारस, माहुर; जेण–जिससे; गवंगउ–इन्द्रियों (के) अंगों (पर) संठियउ–स्थित किया गया, लगाया गया है।

अर्थ–मेरे मन में सभी सांसारिक लक्षणों से रहित, स्त्री की पहुँच के बाहर तथा जो संसार में लीन नहीं है, ऐसा प्रियतम (शुद्धात्मा, परमात्मा) स्थित है। उसके लिए ही यह ध्यान रूपी माहुर लाया गया है तथा इन्द्रियों के अंगों को शृंगार से सजाया गया है।

भावार्थ–इस दोहे में श्लेष का चमत्कार है। अतः निर्लक्षण, स्त्रीबाह्य तथा अकुलीन ये तीनों विशेषण शुद्ध आत्मा एवं खोटे नायक दोनों में लगते हैं। जिस प्रकार शुष्क तथा नीरस हृदय से प्रेम स्थापित कर नायिका तरह-तरह के शृंगार करने पर भी उसे रिझाने में समर्थ नहीं हो सकती, उसी प्रकार वीतराग, निर्विकल्प शुद्धात्मा को राग-रंगों में तथा इन्द्रियों के अनेक विषयों में आकृष्ट नहीं किया जा सकता है। संसार के राग-रंग तथा विषय-भोग क्षणिक हैं। इसलिए क्षण भर से अधिक नहीं ठहरते, किन्तु वीतराग, निर्विकल्प स्वभाव शाश्वत है, स्थायी है। जो शाश्वत है, नित्य है, वही सुन्दर है। जो आज है और कल नहीं है, उसमें क्या सुन्दरता है? ऐसा तीनों लोकों में सर्वांग सुन्दर प्रियतम मेरे मन में स्थित है। यही रहस्यवाद है।

रहस्यवाद और अध्यात्म दोनों ही मार्मिक संकेतों तथा रस विशेष से ओतप्रोत रहते हैं। कवि बनारसीदास का यह संकेत भी अर्थपूर्ण है। उनके ही शब्दों में–

समयसारनाटक अकथ, अनुभव-रस-भण्डार।
याको रस जो जानहीं, सो पावें भव-पार ॥अन्त्य प्रशस्ति

हउं[1] सगुणी पिउ[2] णिग्गुणउ[3] णिल्लक्खणु णीसंगु[4]।
एक्कहिं[5] अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु[6] ॥101॥

शब्दार्थ–हउं–मैं; सगुणी–गुण सहित; पिउ–प्रिय (परमात्मा); णिग्गुणउ–निर्गुण; णिल्लक्खणु–निर्लक्षण; णीसंगु–निःसंग–(है); एक्कहिं अंगि–एक अंग में; वसंतयहं–बसते (वाले) हुए के; मिलिउ–मिला; ण अंगहिं–नहीं अंग से; अंगु–अंग।

---

1. **अ** हव; **क, द, ब, स** हउं; 2. **अ, क, द** पिउ; **ब, स** पिय; 3. णिगुणउ; **क, द, स** णिग्गुणउ; **ब** णीगुणउं; 4. **अ, क, द** णीसंगु; **ब** णिसंगु; **स** णिस्संगु; 5. **अ** एकहि; **क, द** एकहिं; **ब** एक्कहं; **स** एक्कहिं; 6. **अ** अणंगहिं अंगु; **क, द, स** ण अंगहिं अंगु; **ब** न अंगहिं अंगु।

अर्थ—मैं सगुण (गुणों से सहित, रागादि, विकारी भाव युक्त) हूँ और प्रिय (परमात्मा) निर्गुण, निराकार (लक्षण रहित), निःसंग हैं। एक ही अंग (प्रदेश) में रहने पर भी अंग (अंश) से अंग नहीं मिल पाया अर्थात् अंश मात्र भी एक-दूसरे के स्वभाव में नहीं मिल पाया है।

भावार्थ—यहाँ पर 'प्रिय' शब्द का प्रयोग प्रतीक के रूप में परमात्मा के लिए ग्रहण किया गया है। 'सगुण' शब्द श्लिष्ट है। कवि का कथन है कि मैं (आत्मा) सगुण हूँ और प्रिय (परमात्मा) निर्गुण है। दोनों का निवास एक ही शरीर में है, किन्तु मिलन नहीं हो पाता। यथार्थ में आत्मा और परमात्मा दोनों का निवास एक ही शरीर में होने पर भी आत्मज्ञान की उपलब्धि तथा शुद्ध परिणति के बिना दोनों का मिलन नहीं हो पाता।

इस दोहे में रहस्यवादी भावना स्पष्ट है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि कबीर ने भी इसी प्रकार की भावना को अभिव्यक्त किया है। उनके ही शब्दों में—

धनि पिय एकै संग वसेरा, सेज एक पै मिलन दुहेरा।

—कबीरग्रन्थावली, पद 85

"परमात्मप्रकाश" के निम्न-लिखित कथन से यह पुष्टि होती है कि शुद्धात्मा से विलक्षण (भिन्न) इस देह में रहता हुआ भी वह नियम से देह का स्पर्श नहीं करता है। उनके शब्दों में—

देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमे देहु वि जो जि।
देहें छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥ 1,34

अर्थात्—जो देह में रहता हुआ भी नियम से शरीर का स्पर्श नहीं करता, वही परमात्मा है। इस प्रकार देहात्मा भिन्न है, शुद्धात्मा भिन्न है अर्थात् केवलज्ञान प्रकाश रूप परमात्मा भिन्न है।

सव्वहिं[1] रायहिं छहरसहिं पंचहिं रूवहिं[2] चित्तु।
जासु ण[3] रंजिउ भुवणयलि[4] सो जोइय करि[5] मित्तु ॥102॥

शब्दार्थ—सव्वहिं—सभी; रायहिं—रागों में; छहरसहिं—छह रसों में; पंचहिं रूवहिं—पाँच रूपों में; चित्तु—चित्त; जासु—जिसका; ण—नहीं;

1. अ सत्तहिं; **क, द, स** सव्वहिं; **ब** सव्वइ; 2. **अ, क, द, ब, स** रूवहिं; **क** रूयहिं; 3. **अ, क, ब, स** ण रंजिउ; **द** णिरंजिउ; 4. **अ, द, स** भुवणयलि; **क** भुवणयलु; **ब** भुवणअलि; 5. **अ** कर; **क, द, ब, स** करि।

रंजिउ–रक्त, अनुरक्त; भुवणयलि–भुवनतल में; सो–वह (उसे); जोइय–(हे) जोगी!; करि–बना ले; मित्तु–मित्र।

अर्थ–हे जोगी! जिसका चित्त इस लोक में सब रागों में, छह रसों में तथा पाँच रूपों में अनुरक्त नहीं है, उसे अपना मित्र बना।

भावार्थ–आचार्य अमितगति तो यह कहते हैं कि साधु को इन्द्रियों के विषयों का स्मरण भी नहीं करना चाहिए। जो बार-बार इन्द्रिय-विषयों का स्मरण करता है, वह इन्द्रियों को उनके विषयों से अलग रखता हुआ भी सदा दुखी, दीन और दोनों लोकों का बिगाड़ने वाला होता है। (योगसार, 9, 65)

वस्तुतः भेद-विज्ञान के बल पर जो देह और चेतन के भेद का अनुभव कर लेता है, वह कभी भी पाँचों इन्द्रियों और उसके विषयों में अनुराग नहीं करता है। इसलिए योगियों को साधु-सन्तों की सत्संगति में रहना चाहिए। जितने भी रंग-रूप, रस आदि हैं, वे सब अचेतन हैं। उनके साथ सम्बन्ध रखने से संसार बढ़ता है। अतः प्रत्येक गृहस्थ को यह भावना भानी चाहिए कि–

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ॥ ज्ञानार्णव 10, 96

अर्थात्–मैंने बहुत बार विकल्पमय सांसारिक सुख भोगा है जो सबके जीवन में थोड़ा-बहुत है। उसमें कोई अपूर्वता नहीं है। इसलिए उस सुख की तृष्णा को छोड़कर मैं निर्विकल्प सहज सुख पाना चाहता हूँ।

पं. द्यानतरायजी सरल शब्दों में कहते हैं–

जो जानै सो जीव है, जो मानै सो जीव।
जो देखै सो जीव है, जीवै जीव सदीव ॥
जीवै जीव सदीव, पीव अनुभौरस प्रानी।
आनन्द कन्द सुछन्द, चन्द पूरन सुखदानी ॥
जो जो दीसै दर्व, सर्व छिनभंगुर सो सो।
सुख कहि सकै न कोई, होई जाकौं जानै जो ॥ –द्यानतविलास

वास्तव में वह सहज आनन्द 'अकथ' है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। जो अनुभव करता है, वही जानता है कि अतीन्द्रिय अखण्ड आनन्द कैसा होता है। इसलिए अब वही प्राप्त करने योग्य है।

तव तणुअंगु[1] सरीरयहं संगु परिट्ठिउ[2] जाहं।
ताहं[3] वि मरणदवक्कडिय दुसहा[4] होइ णराहं ॥103॥

शब्दार्थ—तव—तप; तणुअंगु—शरीर (के) अंग; सरीरयहं—शरीर के; संगु—साथ; परिट्ठिउ—परिस्थित, विद्यमान; जाहं—जिसके, ताहं वि—उसके भी; मरणदवक्कडिय—मरण रूपी दावाग्नि; दुसहा—दुस्सह; होइ—होती है; णराहं—मनुष्यों के।

अर्थ—जिनकी तपस्या तनिक भी शरीर के संग होती है (अर्थात् शरीर के प्रति तनिक भी ममत्व बुद्धि होती है), उनके मरण रूपी दावाग्नि दुस्सह हो जाती है। अभिप्राय यह है कि सहनशील होने के लिए पर का संग त्यागना आवश्यक है।

भावार्थ—आचार्य अमितगति का कथन अत्यन्त स्पष्ट है कि जो शुद्धात्मतत्त्व को नहीं जानता, उसके तप नहीं होता। उनके ही शब्दों में—

बाह्याभ्यन्तरं द्वेधा प्रत्येकं कुर्वता तपः।
नैनो निर्जीर्यते शुद्धमात्मतत्त्वमजानता ॥—योगसार, 6, 10

अर्थात्—जो शुद्ध आत्मतत्त्व को नहीं जानता, उसके द्वारा बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के तप करने पर भी कोई कर्म निर्जरा को प्राप्त नहीं होता।

आचार्य उमास्वामी ने जो तप से संवर और निर्जरा दोनों होते हैं, ऐसा लिखा है, उसका अभिप्राय यह है कि निज शुद्धात्मा को जाने-पहचाने तथा उसमें रमे बिना तप नहीं होता। तप के लिए तो आत्म-स्वभाव में स्थिर रूप से ठहरना चाहिए—यह तभी सम्भव है, जब आत्म-स्वभाव की पहचान हो। आचार्य शुभचन्द्र का कथन है—

युगपज्जायते कर्ममोचनं तात्त्विकं सुखं।
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः ॥—ज्ञानार्णव, 5, 18

अर्थात्—जो योगी संकल्प-विकल्प त्याग कर शुद्धचिद्रूप में लीन हो जाता है, उसे ही सच्चा सहज सुख उपलब्ध होता है और जिससे एक साथ कर्म की निर्जरा भी होती है।

आचार्य कहते हैं कि कर्म की निर्जरा ज्ञान और वैराग्य से होती है। बिना ज्ञान का वैराग्य और बिना वैराग्य का ज्ञान मोक्षमार्ग को नहीं साध सकता है। पं. बनारसीदासजी कहते हैं कि जिस प्रकार दोनों लोचन अलग-अलग होने पर भी देखने की क्रिया एक साथ करते हैं, उसी प्रकार ज्ञान-वैराग्य एक ही साथ कर्म की निर्जरा करते हैं। तथा—

---

1. **अ, स** तणु अंगु; **क, द** तणुअं मि; **ब** तणु अंगि; 2. **अ, स** परिट्ठिउ; **क, द, ब** करि ट्ठिउ; 3. **अ, ब** ताह; **क, द, स** ताहं; 4. **अ** दुसहो; **क, ब** दुसही; **द, स** दुसहा।

मूढ़ करमकौ करता होवै, फल अभिलाष धरै फल जोवै।
ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी, लगै न लेप निर्जरा दूनी ॥

—समयसार निर्जराद्वार, 42

देहं गलंतहं सव्वु[1] गलइ मइ[2]-सुइ-धारण-धेउ।
तहिं[3] तेहइं वढ[4] अवसरहिं विरला सुमरहिं[4] देउ ॥104॥

शब्दार्थ—देह—शरीर (के); गलंतहं—गलते (के); सव्वु—सब; गलइ—गलता है; मइ-सुई-धारण-धेउ—मति, श्रुत, धारण, ध्येय; तहिं—वहाँ; तेहइं—उसी तरह; वढ—मूर्ख; अवसरहिं—अवसर पर; विरला—विरले (प्राणी); सुमरहिं—स्मरण करते हैं; देउ—देव (का)।

अर्थ—हे मूर्ख! देह के गलते ही मति, श्रुति, धारण तथा ध्येय सब गल जाता है। इसलिए इस अवसर पर विरले ही देव का स्मरण करते हैं।

भावार्थ—'देह' का अर्थ शरीर है। यही नहीं, उसमें जो ममत्व, अपनापन है और जिससे शरीर को मैं 'आप' रूप मानता हूँ, वह भी शरीर ही है। परन्तु शरीर नाम कर्म की रचना है। अज्ञानी शरीर से अपने को भिन्न नहीं समझता है। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।—समाधि शतक, 15
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥

अर्थात्—संसार के सभी दुःखों का मूल इस देह से राग करना है। इसलिए आत्मज्ञानी इससे राग छोड़कर तथा इन्द्रियों को संकुचित कर अपने आत्मस्वभाव में प्रवेश करते हैं। 'विकल्प' कहने से मिथ्यात्व, रागादि का ग्रहण हो जाता है।

जब तक हमें हर समय शरीर का खयाल रहता है और उसके लिए ही सारा उद्यम करते रहते हैं, तब तक हमारी बुद्धि संसार को साधने में लगी रहती है; लेकिन 'ममत्व' भाव विगलित होते ही हमारा उपयोग संसार से हट जाता है। परमात्मा का ध्यान होने पर उपयोग शुद्ध स्वभाव की ओर जब शुद्धात्मा के सन्मुख होता है, तभी परमात्मा की सच्ची भावपूजा होती है। ऐसे लोग विरले होते हैं, जिनको सहज ही परमात्मा का स्मरण होता हो और जो वास्तविक पूजा करते हों। इस शरीर के साथ रहते हुए मूढ़ आत्मा ने शरीर को स्थिर मानकर जो पाप कर्म किए हैं, उनसे दुःखों

1. अ सदु; क, द, सवु; ब, स सव्वु; 2. अ, क, द मइ; ब, स मई; 3. अ, ब, स तहि; क, द तहिं; 4. अ वर; द, ब, स वद; क हल्लोहलइं; 5. अ सुमरी; क, द, स सुमरहिं; ब सुमिरइं।

की लम्बी परम्परा प्राप्त की है। यदि यह शरीर से ममता हटा ले, तो ऐसी कौन-सी सम्पत्ति है जो इसे प्राप्त नहीं हो सकती?

इस जगत में संसार से उत्पन्न जो-जो दुःख जीवों को सहने पड़ते हैं, वे सब इस शरीर में ममत्व बुद्धि होने से ही सहने पड़ते हैं। अतः जब यह शरीर गल जाता है, तब उसके साधन भी नहीं रहते हैं।

उम्मणि थक्का जासु मण भज्जा भूवहिं[1] चारु।
जिम भावइ तिम संचरउ णवि भउ[2] णवि संसारु ॥105॥

शब्दार्थ—उम्मणि—उन्मना, उदासीनता में; थक्का—स्थित; जासु—जिसका; मण—मन;—भज्जा—भाग (कर); भूवहिं—भौतिक; चारु—सुन्दर (पदार्थों से); जिम—जिस तरह; भावइ—भाव करता है; तिम—उसी तरह; संचरउ—संचरण, प्रवृत्ति (करता) है; णवि भउ—नहीं भय (है); णवि संसारु—नहीं (है) संसार।

अर्थ—भौतिक पदार्थों से ऊबकर जिसका मन अपने में स्थित हो गया है, वह जैसा भाव करता है, वैसी ही प्रवृत्ति करता है। उसके न तो भय है और न संसार है।

भावार्थ—इस विश्व में रहने वाले सभी प्राणी भौतिक पदार्थों के आकर्षण में मोहित होकर भौतिक समृद्धि को प्राप्त करने के लिए सदा उत्कंठित रहते हैं। वे भौतिक पदार्थों के उत्पादन, प्रसारण तथा प्रचार को ही उन्नति का उपाय मानते हैं। इसे प्रायः जड़ पदार्थों की महिमा तो भासित होती है, लेकिन चेतन परम पदार्थ की ओर दृष्टि नहीं जाती। जिसकी संगति से यह बावला हो रहा है, उसका स्वभाव क्या है? इसका यदि विचार किया जाए, विवेक-बुद्धि से मनन किया जाए, तो समझ में आएगा कि शरीर का स्वभाव है—गलना, सड़ना, पड़ना, बिछुड़ना और मिलना। किन्तु स्वयं चेतन अखण्ड, अविनाशी, अजात, अजर-अमर, अमूर्तिक, शुद्ध, ज्ञाता-द्रष्टा, ईश्वरस्वरूप, परमानन्दमय, अनुपम, एक सत् पदार्थ है। आत्मा एक ऐसी वस्तु है जिसका स्वभाव ज्ञानानन्द है। जो अपनी सत्ता को नहीं पहचानता है, वास्तव में वह अपराधी है। पं. बनारसीदास के शब्दों में—

जाकै घट समता नहीं, ममता मगन सदीव।
रमता राम न जानई, सो अपराधी जीव ॥

समयसारनाटक, मोक्षद्वार, 25

---

1. अ, क, द, स भग्गा भूवहिं; ब भग्गा भवहिं; 2. अ, ब चउ; क, द, स भउ।

अर्थात्–जिसके हृदय में समता नहीं है, जो सदा शरीर आदि पर पदार्थों में मग्न रहता है और अपने आतमराम को नहीं जानता है, वह जीव अपराधी है।

इसकी अज्ञानता का क्या वर्णन किया जाए? जो सोना, चाँदी, मकान, जेवर, पहाड़ों की मिट्टी, खेत आदि हैं, उनको निज सम्पत्ति कहता है। इन्द्रियों से ज्ञान होना मानता है, सभी तरह के भौतिक पदार्थों के मिलने से अपने को वैभवशाली कहता है। यथार्थ में भौतिकता का ऐसा साम्राज्य फैल गया है कि उसे ही यह सब कुछ समझता है।

जीव वहंतइ[1] णरयगइ[2] अभयपदाणें[3] सग्गु।
बे पह भव लगि[4] दरिसियइं[5] जहिं भावइ तहिं लग्गु ॥106॥

शब्दार्थ–जीव–जीव (के); वहंतइ–वध करते हुए; णरयगइ–नरक गति; अभयपदाणें–अभय प्रदान करने (दान देने) से; सग्गु–स्वर्ग (होता है); बे पह–दोनों (पाप-पुण्य, अशुभ-शुभ) मार्ग; भवलगि–संसार के लिए (हैं); दरिसियइं–दर्शाये गए हैं; जहिं–जहाँ; भावइ–भाता है; तहिं–वहाँ; लग्गु–लगो।

अर्थ–जीव का वध करने से नरक गति मिलती है और अभयदान करने से स्वर्ग मिलता है। ये दोनों ही संसार के लिए हैं। इसलिए जो रुचिकर हो, उस मार्ग में लगो।

भावार्थ–मारने-पीटने और लड़ाई करने आदि में प्राणी को पहले से ही आकुलता व दुःख का अनुभव होता है और अन्त में भी आकुलता तथा दुःख होता है। यह व्यावहारिक उपदेश प्रसिद्ध है–"जो जैसा करता है, वैसा फल पाता है।"

अतः मारने, पीटने वाले को सुख कहाँ है? यदि इस जन्म में कोई अपने सोचे अनुसार किसी प्राणी की हत्या कर देता है, तो अपने खोटे परिणामों से वह अगले जन्म में नरक का आवास प्राप्त करता है जहाँ निरन्तर एक-दूसरे पर क्रोध करना, शस्त्र प्रहार करना आदि कष्ट देता व सहता रहता है। दूसरे प्राणियों को कष्ट देकर कष्ट दिलाकर तथा कष्ट देते हुए जानकर–जिसके मन में प्रसन्नता होती है, वह हिंसानन्दी रौद्रध्यानी कहा जाता है। हिंसा में आनन्द मनाने वाला यदि कोई वैद्य है, तो वह रात-दिन यही सोचता रहता है कि जनता में बीमारियाँ फैलें, तो मेरे धन्धे में तरक्की हो। जो भी दूसरे के सम्बन्ध में बुरा, अनिष्ट या हानि पहुँचाने के भाव

---

1. अ वहंते; क, द वहंतिं; ब, स वहंतह; 2. अ, क, स णरयगइ; द णरयगउ; ब णरायगइ; 3. अ अभयपदाणिं; क, द अभयपदाणें; ब, स अभयपदाणे; 4. अ, द जब ला; क जबले; ब, स जमला; 5. अ दरसियइं; क, ब, स दरिसियइं; द दरिसियउ।

हैं, सबमें हिंसा है। सामान्य देवों के मरते समय ऐसा विचार होता है कि मैं अब इस शरीर को छोड़कर पशु या स्त्री के गर्भ में जाऊँगा। इससे उसे बड़ी मानसिक पीड़ा होती है।

हिंसा में आनन्द मनाने वाला यदि किसी देश, प्रान्त या नगर के कारीगरों को कुशलतापूर्वक उद्योग करते देखता है, तो वैसी कारीगरी की वस्तु स्वयं बनाकर या बनवाकर वहाँ पर सस्ते मूल्य में बेच देता है। सस्ते दाम में बिक्री बढ़ने से वहाँ के शिल्पगत उद्योग को बड़ी हानि पहुँचाता है, किन्तु स्वयं धनिक होकर अपने को बड़ा चतुर मानता है। लेकिन इस तरह के सभी कार्य हिंसामूलक हैं। जहाँ हिंसा है, वहाँ वास्तविक उन्नति नहीं हो पाती। वास्तविक उन्नति के लिए व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र में चतुर्दिक नैतिकता होना अति आवश्यक है। नैतिकता आए बिना समृद्धि का वास्तविक सूत्रपात नहीं होता।

सुक्खअडा[1] दुइ दिवहडइं[2] पुणु दुक्खहं[3] परिवाडि[4]।
हियडा हउं पइं सिक्खवमि चित्त करिज्जहि[5] वाडि ॥107॥

शब्दार्थ—सुक्खअडा—सुख; दुइ—दो; दिवहडइं—दिनों (का); पुणु—फिर; दुक्खहं—दुखों की; परिवाडि—परिपाटी, परम्परा (है); हियडा—हृदय (सम्बोधन); हउं—मैं; पइं—तुझे; सिक्खवमि—सिखाता (हूँ); चित्त—चित्त (को) करिज्जहि—करें; वाडि—मार्ग पर।

अर्थ—सुख तो दो दिन का है, फिर दुःखों की परिपाटी है। अतः हे हृदय! मैं तुझे सिखाता हूँ कि सम्यक् मार्ग पर चित्त दे।

भावार्थ—इसी भाव का एक दूसरा दोहा "परमात्मप्रकाश" (2,138) में मिलता है, जिसमें कहा गया है कि पंच इन्द्रियों का सुख विनाशीक, दो दिनका है। फिर, बाद में इन इन्द्रियों के विषयों की दुःख की परिपाटी (परम्परा) है।

यहाँ पर भी यही कहा गया है कि विषय-सुख तो दो दिन के हैं, फिर दुःखों की लम्बी परम्परा है। वास्तव में इन्द्रियों के विषयों से मिलने वाले सुख क्षणभंगुर हैं। इनसे क्षण भरके लिए सुख मिलता है, फिर तो दुःख ही दुःख हैं। विषय का सेवन अन्त में दुःख ही देता है।

मनोरंजन करने वाले राग के लुभावने दृश्य प्राणी मात्र के लिए कम आकर्षक नहीं होते हैं। दृश्यमान जगत के भीतर और बाहर सभी स्तरों पर राग-रंग के

---

1. **अ, स** सुक्खडइं; **क, द, ब** सुक्खडा; 2. **अ** दियहडइ; **क, द** दिवहडइं; **ब** दिवहडहिं; **स** दिवहडइ; 3. **अ** दुक्खह; **क, द, स** दुक्खहं; **ब** दुक्खहिं; 4. **अ** करिज्जाह; **क, द** करिज्जहि; **ब** करिजहि; **स** करिज्जइ।

तरह-तरह के चित्र दृष्टिगोचर होते हैं अथवा अनुभव में आते हैं। पाँचों इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय सुख के आस्वादन रूप परमात्मा से पराङ्मुख हैं। ये पाँचों स्वच्छन्द हैं। अतः इनको अपने-अपने विषयों से वापस कर शुद्धात्म का सेवन करना चाहिए। वीतराग परम आनन्द समरसी भाव रूप अतीन्द्रिय सुख से रहित जो यह संसारी जीव है, उसका मन अनादि काल से अविद्या की वासना में रम रहा है। इसलिए पाँचों *इन्द्रियों के विषय सुखों में वह आसक्त है। इन्द्रियों के विषयों में सुख मानने के कारण बार-बार उसका मन विषयों में ही जाता है। जब तक विषय-कषाय का धन्धा करता* है और उनसे ही सुख मानता है, तब तक परमात्मा का ध्यान नहीं होता है। जीव को उपदेश इसलिए दिया जाता है कि विषयों में लीन होकर यह अनन्तकाल तक भटका है और अब भी विषयासक्त है, तो यह कब तक (कितने काल) संसार में भटकेगा?

मूढा देह म[1] रज्जियइ[2] देह ण अप्पा होइ।
देहहं[3] भिण्णउ णाणमउ सो तुहुं[4] अप्पा जोइ ॥108॥

शब्दार्थ—मूढा—हे मूढ़ (लोगों); देह—शरीर (में); म रज्जियइ—मत रंजायमान (हों); देह ण—शरीर नहीं; अप्पा—अपना; होइ—होता (है); देहहं—देह से; भिण्णउ—भिन्न (जो); णाणमउ—ज्ञानमय (है); सो—वह; तुहुं—तुम; अप्पा—आत्मा (को); जोइ—अवलोकन (करो), अवलोको।

अर्थ—हे मूढ़! देह में रंजायमान मत हो। देह आत्मा नहीं है। देह से भिन्न जो ज्ञानस्वरूपी आत्मा है, उसका तुम अवलोकन करो।

भावार्थ—वास्तव में शरीर में अपनापन होना—यह मिथ्यात्व या मूढ़ता का लक्षण है। शरीर तो प्रकट रूप से आत्मा से भिन्न है। 'परमात्मप्रकाश' में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो शरीर को आत्मा समझता है, वह वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुए परमानन्द सुखामृत को नहीं पाता हुआ मूर्ख है, अज्ञानी है। जो पुरुष परमात्म स्वरूप शरीरादि से भिन्न ज्ञानमय आत्मा की अनुभूति करता है, वह विवेकी है। यथार्थ में वीतराग, निर्विकल्प सहजानन्द शुद्धात्माकी अनुभूति, अवलोकन या अनुभव करना ही परमात्मा की सच्ची आराधना है।

जैसे मैले दर्पण में अपना मुख ठीक से नहीं दिखलाई पड़ता है, वैसे ही रागादि से मलिन चित्त में शुद्धात्मा के स्वरूप का दर्शन नहीं होता। अतः जो आत्मानुभूति प्राप्त करना चाहता है, उसे विषयों में आसक्त नहीं होना चाहिए। मुनि योगीन्द्रदेव

1. अ ण; क न; द म; स णा; 2. अ, ब, द रच्चियइ; क, स रज्जियइ; 3. अ देह विभिण्णउ; क देहे भिण्णउ; द देहहं भिण्णउ; ब, स देहह भिण्णउ; 4. अ तुहु; क, द, स तुहुं; ब तुह।

का कथन है—"जिस पुरुष के चित्त में मृगनेत्री बस रही है, उसके शुद्धात्मा का विचार नहीं है। यद्यपि स्वयं शुद्धात्मा है, लेकिन विषयों में लीनता होने के कारण उसे परमात्मा का दर्शन नहीं होता। परमात्मा का दर्शन हुए बिना विषय-भोग नहीं छूटते। लौकिक व्यवहार का नियम है कि मनुष्य अधिक लाभ प्राप्त करने की संभावना से दो पैसे खर्च करता है। यदि उसको यह लगता है कि इसमें खर्च अधिक है, लाभ कम है, तो वह दो पैसे भी खर्च नहीं करता। इसी प्रकार विषय-सुखका त्याग वही कर सकता है, जिसे अतीन्द्रिय सुख का स्वाद मिला हो। अतीन्द्रिय सुख का भाव हुए बिना वास्तव में कोई घर-द्वार नहीं छोड़ता है। यदि किसी लौकिक प्रयोजन से छोड़ता है, तो उससे संक्लेश को ही प्राप्त होता है।

जेहा पाणहं झुंपडा तेहा पुत्थिय काउ[1]।
तित्थु[2] जि णिवसइ पाणिवइ[3] तहिं करि जोइय भाउ ॥109॥

शब्दार्थ—जेहा—जैसे; पाणहं—प्राणों (का); झुंपडा—झोपड़ा (है); तेहा—वैसे, उसी प्रकार; पुत्थियकाउ—पृथ्वीकाय (मिट्टी का पिण्ड) (है); तित्थु—वहाँ, उसमें; जि—पादपूरक; णिवसइ—रहता है; पाणिवइ—प्राणपति; तहिं—उसमें; करि—करो; जोइय—योगी (सम्बोधन); भाउ—भाव।

अर्थ—हे जोगी! जैसे देह प्राणों का झोंपड़ा है, वैसे ही पृथ्वीकाय (पुद्गल, मिट्टी का पिण्ड) है। उसमें प्राणों का अधिपति निवास करता है, उसी में भाव कर।

भावार्थ—काया तो प्राणों की झोंपड़ी है। इसमें स्पर्श, रसना, घ्राण, नेत्र और कर्ण ये 5 इन्द्रियाँ, मनोबल, वचनबल तथा कायबल ये 3 बल और आयु एवं श्वासोच्छ्वास इस प्रकार दश प्राण होते हैं। इन प्राणों के बने रहने पर यह शरीर चलता-फिरता नजर आता है और इनके अलग होते ही यह मुर्दा हो जाता है। इसलिए इसे प्राणों का झोंपड़ा कहा है।

वस्तुतः मिट्टी के पिण्ड में और शरीर में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि दोनों ही अचेतन हैं। जैसे कोई झोंपड़ी ईंट-गारे से बनती है, उसी तरह शरीर की रचना भी हड्डी, माँस, चमड़े से हुई है। इसमें ग्लानि उत्पन्न करने वाली सातों धातुओं तथा मल-मूत्रादि का प्रत्येक समय निर्माण होता रहता है। अतः गृह-निर्माण की भाँति काया की रचना भी पार्थिव तत्त्वों से होती है जो भौतिक किंवा अचेतनता की सृष्टि है। यह प्लान्ट ऑटोमेटिक है। इसकी रचना नामकर्म के निमित्त से होती है।

---

1. **अ** पुतियकाउ; **क, द** पुत्तिए काउ; **ब** पुत्तियकाइ; **स** पुत्थिय काउ; 2. **अ** तेत्थु; **क, द** तित्थु जि; **ब** तेत्थ; **स** तित्थ; 3. **अ** पाणवइ; **क, द, ब, स** पाणिवइ।

तरह-तरह के रंग-रूपों का निर्माण-रचना को देखकर हम भौतिक जगत् की ओर आकृष्ट होते हैं, वैसे ही शरीरादि बाह्य रचना की ओर इन्द्रियों का आकर्षण होता रहता है। उस समय हमारा विवेक जाग्रत होकर यह नहीं जानता, समझता कि पुद्गल की भौतिक सृष्टि सदा काल से अनेक रूपों में होती आई है, उसमें नवीनता कुछ नहीं है। वास्तव में प्रत्येक समय ताजगी से भरे हुए नित नये जानन, जानन ताजे ज्ञान को उपलब्ध होते रहना ही महान् आश्चर्यकारक है।

मूलु छंडि जो[1] डाल चडि कहं[2] तह जोयाभास[3]।
चीरु ण वुण्णइ[4] जाइ वढ विणु उट्टियइं कपास ॥110॥

शब्दार्थ—मूलु—मूल, जड़ (को); छंडि—छोड़ कर; जो डाल चडि—जो डाल (पर) चढ़ता है; चीरु—वस्त्र; ण वुण्णइ जाइ—नहीं बुना जाता है; वढ—मूर्ख; विणु—बिना; उट्टियइं—ओटे; कपास—कपास (को)।

अर्थ—हे मूर्ख! मूल को छोड़कर जो डाली पर चढ़ता है अर्थात् सम्यक् श्रद्धान के बिना ज्ञान-ध्यान करना चाहता है, उसके योग का अभ्यास कहाँ है? क्योंकि कपास को ओंटे बिना वस्त्र कैसे बुना जा सकता है?

भावार्थ—मूल में मिथ्यात्व ही संसार का मूल है। उसकी जड़को उखाड़े बिना उसकी उत्पत्ति का अभाव कैसे सम्भव है? आचार्य अमितगति अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

चारित्रं दर्शनं ज्ञानं मिथ्यात्वेन मलीमसम्।
कर्पटं कर्दमेनेव क्रियते निज-संगतः ॥योगसार, 4, 15

अर्थात्—जिस प्रकार वस्त्र कीचड़ के द्वारा अपने संग से मैला किया जाता है, ठीक उसी प्रकार मिथ्यात्व के द्वारा अपने संग से चारित्र, दर्शन और ज्ञान मलिन किया जाता है।

फिर भी, दुनिया के अधिकतर लोग बाहरी चारित्र या सदाचार को सुधारने में लगे हुए। भीतर में मिथ्या भाव रूपी महान् मल बैठा हुआ है, उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं है। किन्त यह सत्य है कि जब तक मिथ्या भाव अन्तरंग में मौजूद है, तब तक वास्तविक सदाचार नहीं हो सकता है। यद्यपि बाहरी सदाचार तथा नैतिकता भी भूमिका के अनुसार आवश्यक है, तिरस्कार करने योग्य नहीं है; तथापि वास्तविक चारित्र ध्यान, समाधि रूप है। सदाचार से कर्मों का आस्रव होता रहता

---

1. अ, क, ब जे; द, स जो; 2. अ, द कहं; क कालहं जोयाभासि; ब कह; 3. अ, ब जोयाभास; क, द जोयाभासि; 4. अ, स वुण्णह; क, द वुणणह; ब वुणणहं।

है। जिससे आस्रव-बन्ध हो, वह चारित्र कैसे हो सकता है? आचार्य जिनसेन कहते हैं कि जिससे कर्मों का आस्रव न हो, उसे चारित्र अथवा संयम कहते हैं। (आदिपुराण, 47, 306) ऐसा चारित्र ही पालन करने योग्य है। किन्तु इस वृत्तिको प्राप्त करने के लिए व्रत, सदाचार की भूमिका के अनुसार उसका पालन करना अत्यावश्क है। मूल में तो राग-द्वेष छोड़ने का नाम चारित्र है जो 'चरणानुयोग' का मूल विषय है।

सव्ववियप्पहं[1] तुट्टहं[2] चेयणभावगयाहं[3]।
कीलइ अप्पु[4] परेण सिहु[5] णिम्मलझाणठियाहं[6] ॥111॥

शब्दार्थ—सव्ववियप्पहं—सब विकल्पों (के); तुट्टहं—टूट (जाने से); चेयणभावगयाहं—चैतन्य भाव (में) स्थित (हो जाने पर); कीलइ—रमते (हैं) अप्पु—अपने (में); परेण—अन्य (के); सिहु—साथ; णिम्मलझाणठियाहं—निर्मल ध्यान (में) स्थित।

अर्थ—जिनके सभी विकल्प छूट गये हैं और जो चैतन्य भाव में स्थित हैं, वे अपने में रमण करते हैं; पर के साथ नहीं रमते हैं। वास्तव में वे निर्मल ध्यान में स्थित कहे गये हैं।

भावार्थ—संसार-अवस्था में जीव निरन्तर विकल्प करता रहता है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि जो नयों के पक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त होकर सदा निवास करते हैं और जिनका चित्त विकल्प-जाल से रहित शान्त हो गया है, वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं। (समयसारकलश, 69)

वास्तव में उक्त दोहे में जो वर्णन किया गया है, वह समाधिदशा का है। मुनिश्री योगीन्दुदेव का कथन है कि जो सभी संकल्प-विकल्पों से रहित होकर परम समाधि की अवस्था प्राप्त करते हैं, वे जिस सहज सुख को उपलब्ध होते हैं, वही मोक्ष-सुख कहा गया है। (योगसार, दो.96)

आज तक जो भी मुक्ति के साधक हुए हैं, उन सभी ने सभी प्रकार की कल्पनाओं का त्यागकर शुद्ध ध्यान का आलम्बन लिया है। आचार्य शुभचन्द्र के शब्दों में—

> अपास्य कल्पनाजालं मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः।
> प्रशमैकपरं नित्यं ध्यानमेवावलम्बितम् ॥ज्ञानार्णव, 5, 258

---

1. **अ, ब, स** सव्ववियप्पह; **क** सव्ववियप्पइं; **द** सव्ववियप्पहं; 2. **अ, ब, स** तुट्टयहं; **क, द** तुट्टहं; 3. **अ** चेयणभाउ; **द, ब, स** चेयणभाव; 4. **अ, ब, स** अप्प; क द अप्पु; 5. **अ, स** सहु; **क, द** सिहु; **ब** सहूँ; 6. **अ, द, ब, स** णिम्मलझाणठियाहं; **क** णिम्मलुं।

अर्थात्—मुक्ति की इच्छा करने वाले मुनिराजों ने कल्पना-जाल को छोड़कर परम शान्तिप्रद नित्य ध्यान का ही अवलम्बन लिया है।

सभी प्रकार की कल्पनाओं को दूर करने का एक मात्र उपाय निज शुद्धात्म-स्वभाव का आश्रय है। परका आलम्बन छोड़ने के लिए निजात्म-स्वभावका आलम्बन लेना होता है। क्योंकि आलंबन लिए बिना मन को विश्राम नहीं मिलता। इन दोनों के होने पर ही विकल्प शान्त होते हैं। जितने अधिक विकल्प होते हैं, उतनी ही उलझन व परेशानी मालूम पड़ती है। अतः कल्पनाएँ स्वयं जंजाल हैं। एक समय की सूक्ष्म कल्पना भी, भले ही रंगीन क्यों न हो; चित्त में उलझन उत्पन्न करती है। क्योंकि उस समय वह भले ही सुख का आभास कराती हो, किन्तु अन्त में वैसी स्थिति न बनने से दुःखदायक ही है।

अज्जु[1] जिणिज्जइ[2] करहुलउ जइ[3] पइं देविणु[4] लक्खु।
जित्थु चडेविणु परममुणि सव्व गयागय[5] मोक्खु॥112॥

शब्दार्थ—अज्जु—आज; जिणिज्जइ—जीता जा सकता है; करहुलउ—ऊँट (करभ) को; जइ—यदि; पइं—तुम; देविणु—देकर; लक्खु—लक्ष्य; जित्थु—जहाँ, जिस पर; चडेविणु—चढ़कर, सवार होकर; परममुणि—श्रेष्ठ मुनि; सव्व—सब; गयागय, मोक्खु—आवागमन (से) मुक्त (हो गये)।

अर्थ—यदि तुम लक्ष्य देते हो तो आज ही मन रूपी ऊँट को जीता जा सकता है, जिस पर सवार होकर परम मुनि सभी गमनागमन से मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ—यहाँ पर 'ऊँट' मन के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त है। ऊँट इन्द्रियों को फैला कर चलता है, रेगिस्तान में अपने पेट की थैली में जल का संग्रह कर मीलों भागता जाता है। ऊँट के समान मन भी विषयों में दौड़ लगाता है। मन को जीतना कोई कठिन नहीं है, किन्तु हमारा लक्ष्य परमात्मा न होकर भौतिक पर-पदार्थ हो गए हैं। सम्पूर्ण बाहरी पदार्थों को जो आत्मा के लिए सुख-दुःख देने वाले कल्पित किए जाते हैं, उन सब में मोहका कार्य मुख्य है। वास्तव में यह पदार्थ मेरे लिए अनिष्ट है या इष्ट है, ऐसा चिन्तन करने से वह अनिष्ट या इष्ट रूप नहीं होता। क्योंकि जो वस्तु जैसी है, वैसी रहती है। इसलिए परकी चिन्ता छोड़ कर निज शुद्धात्म स्वरूप का लक्षकर चिन्तन करना चाहिए। इसे ही लक्ष्य देना कहते हैं। यदि हमारा लक्ष्य धन-सम्पत्ति, भौतिक समृद्धि से हटकर आत्म-वैभव प्राप्त करना हो जाए, तो दिशा

---

1. **अ, स** अज्ज; **क, द, ब** अज्जु; 2. **अ, द, ब, स** जिणिज्जइ; **क** जिणज्जइ; 3. **अ, क, द, ब** लइं, **स** जइ; 4. **अ, द, स** देविणु; **क** दिव्वउ; **ब** देविण; 5. **अ, स** गयागइ; **क, द, ब** गयागय; 6. **अ, द, स** मोक्खु; **क** मुक्खु; **ब** मोखु।

और दशा दोनों में महान् परिवर्तन हो सकता है। लक्ष्य बदलते ही दृष्टि बदल जाती है। जो दृष्टि पहले विषय-भोगों में लगी हुई थी, वह अब आत्मा के स्वभाव के सन्मुख हो जाती है।

कोई यह कहे कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन से सुख मिलता है तो यह भ्रम मात्र है। आचार्य अमितगति कहते हैं—पाँचों इन्द्रियों के विषय अचेतन हैं। वे आत्माका न तो उपकार करते हैं और न उपकार। आत्मा भ्रमवश विकल्प बुद्धि से उनको अपना सुखदाता व दुःखदाता मानता है। (योगसार 5, 29)

अतः लक्ष्य की ओर ध्यान व उपयोग रहने पर मन को जीतना सरल हो जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में दृष्टि परिवर्तन ही मुख्य है। दृष्टि बदलते ही आत्मज्ञान तथा मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। अतः मन सहज ही वश में हो जाता है।

करहा चरि[1] जिणगुणथलहिं तव-विल्लडिय[2] पगाम[3]।
विसमी भवसंसारगइ उल्लूरियहि[4] ण जाम ॥113॥

शब्दार्थ—करहा—ऊँट (सम्बोधन); चरि—चरो; जिणगुणथलहिं—जिनगुण (रूपी) स्थली (को); तव- विल्लडिय—तप (रूपी) वेल; पगाम—प्रकाम, पर्याप्त; विसमी भवसंसारगइ—विषम (है) भव-संसार (की) गति; उल्लूरियहि—उच्छेदन हो; ण जाम—न जब तक।

अर्थ—हे करभ! जब तक विषम भव-संसार की गति का उच्छेदन न हो जाए, तब तक जिन-गुण रूपी स्थली में चरो, तप रूपी वेलि पर्याप्त रूप से फैली हुई है।

भावार्थ—यहाँ पर कवि ने रूपक के माध्यम से मन रूपीं ऊँट को समझाते हुए कहा है कि जब तक यह विषम जन्म-मरण रूप संसार है, तब तक जिनशासन के चरागाह में गुणों का सेवन करो, तपश्चर्या करो।

निर्वाण प्राप्त करने में सबसे बड़ा अवरोध मन है। जब तक मन इधर-उधर जाता रहेगा, तब तक मुक्ति का मार्ग प्रारम्भ नहीं होगा। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मन ऐसी भूमिका को प्राप्त हो जहाँ स्थिरता, एकाग्रता हो। यह तभी हो सकता है जब उपयोग अपने गुणों में अनुराग कर उनमें रस लेकर भलीभाँति रम जाए। वास्तव में देह की नग्न दशा और व्रतादि का विकल्प देहाश्रित है। मुनिदशा का वह बाह्य लिंग अवश्य है, परन्तु उससे मोक्षमार्ग नियम से हो; ऐसा नहीं है। अतः शब्दश्रुत का ज्ञान, नव तत्त्व की भेद रूप श्रद्धा का विकल्प और पंच महाव्रतादि का परिणाम प्रशस्त होने पर भी वह मोक्षमार्ग नहीं हैं। क्योंकि मोक्ष सर्व कर्मों का

---

1. **अ, क, ब, स** चरि; **द** चडि; 2. **अ, स** विल्लडउ; **क, द** विल्लडिय; **ब** वेल्लडिय; 3. **अ, स** पगामु; **क, द, ब** पगाम; 4. **अ, क, द** उल्लूरियहि; **ब** उल्लुडियहि; **स** उल्लूरयह।

अभाव रूप आत्म-परिणाम है। आत्मा की पूर्ण पवित्र, पूर्ण वीतराग और आनन्दमय दशाका नाम मोक्ष है।

यथार्थ में शास्त्रज्ञान का अर्थ आगमज्ञान है। आत्मा की पर्याय का ज्ञान आत्मज्ञान नहीं है, और न रागका ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जा सकता है। आत्मज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है जो त्रिकाली शुद्ध परमात्म द्रव्य के स्वसंवेदन में स्वानुभव से प्रकट हुआ ज्ञान है। ऐसे ज्ञान के परिणमन से, शुद्धोपयोग रूप परिणाम से मोक्ष की प्राप्ति होती है; राग रूप परिणमन तथा क्रिया-काण्ड से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। व्यवहार में आत्मा और बन्धको भिन्न-भिन्न कर लेने का नाम मोक्ष है। बन्ध से छूट जाना-यह मोक्ष है। निश्चय में अपने स्वरूप में सदा मग्न रहना, इसका नाम मोक्ष है। अपने स्वरूप में मन के विलीन होने पर ही यह दशा सम्भव है।

तव दावणु वय णियमडइ[1] समदम कियउ पलाणु।
संजमघरहं[2] उमाहियउ[3] गउ करहा णिव्वाणु ॥114॥

शब्दार्थ–तव–तप; दावणु–दामन; वय–व्रत; णियमडइ–नियम (से); समदम–शम-दम; कियउ–किया; पलाणु–पलेंचा (घोड़े पर कसी जाने वाली जीन); संजमघरहं–संयम -घर से; उमाहियउ–उदासीन हुआ; गउ–गया, प्राप्त हुआ; करहा–करभ (ऊँट); णिव्वाणु–निर्वाण (को)।

अर्थ–जिसका तप का दामन (बन्धन) है, व्रत का साज नियम से है तथा शम-दम का पलेंचा बनाया गया है, वह मन रूपी ऊँट संयम रूपी घर में उमाही (उदासीन) हुआ निर्वाण को प्राप्त हो गया है।

भावार्थ–यह निश्चित है कि जब यह मन निज शुद्धात्म स्वभाव के सन्मुख होकर अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है, तब तप रूपी बन्धन के कारण इधर-उधर नहीं भागता है। तप के साथ व्रत नियम से होते हैं। जब-तब यह संयम से उदासीन होता है, लेकिन स्थायी रूप से स्थिर होकर मुक्ति को प्राप्त करता है।

आगम के अनुसार उपवास तप है। आचार्य गृध्रपिच्छ कहते हैं कि "तपसा निर्जरा" अर्थात् तप से निर्जरा होती है। किन्तु लोक-रीति में जिसे उपवास कहते हैं, उससे तो निर्जरा नहीं होती। क्योंकि 'उपवास' का सच्चा अर्थ है–आत्मा के पास रहना अर्थात् अपने शुद्ध स्वभाव में मग्न होना। वास्तव में आत्मा के शुद्ध स्वभाव में स्थिर रहने से तप होता है जो निर्जरा का कारण है। निज शुद्धात्म स्वभाव वीतराग,

---

1. अ णियमडइं; क, ब, स णिल्लडइ; द भियमडा; 2. अ संजमघरु; क, स संजमघर; द संजमघरहं; ब संयम धरि; 3. अ, क, स उमाहियउ; द उम्माहियउ; ब उम्माहिं चउगइ।

निर्विकल्प है। अतः वीतराग की सत्संगति में रहने से राग की रुचि नहीं होती। अतः अज्ञानी को उपभोग बन्ध का कारण है और ज्ञानी को निर्जरा का निमित्त है; क्योंकि ज्ञानी को रोग की रुचि का अभाव है। वास्तव में भोग-उपभोग निर्जरा के नहीं, बन्धके कारण हैं। लेकिन जिनकी अन्तर्द्रष्टि में से राग निकल गया है, दृष्टि निर्मल हो गई है, राग से ममत्व बुद्धि छूट गई है, राग में रुचि नहीं है, वह ज्ञान (आत्मज्ञान) की अन्तर्दृष्टि के बल पर राग में एकत्व न होने से, स्वामित्व बुद्धि का अभाव होने से सत्ता में राग भाव के विद्यमान होने पर भी तज्जन्य कर्म-बन्ध को प्राप्त नहीं होता। आगम में स्पष्ट उल्लेख है कि सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं होती। अतः उनके उपशम के काल में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का कार्य नहीं देखा जाता है। इसलिए उसके रागादि भावों का अभाव कहा जाता है।

एक्क ण जाणहि[1] वट्टडिय अवरु ण पुच्छहि कोइ[2]।
अड्डवियड्डहं[3] डुंगरहं णर भज्जंता[4] जोइ ॥115॥

शब्दार्थ—एक्क—एक (तो); ण जाणहि—नहीं जानते हो; वट्टडिय—मार्ग; अवरु—और; ण पुच्छहि—नहीं पूछते हो; कोई—किसी (से); अड्डवियड्डहं—अटवी से अटवी; डुंगरहं—डूंगर, पर्वत (पर); णर—मनुष्य; भज्जंता—भागते हुए; जोइ—देख।

अर्थ—एक तो तुम मार्ग नहीं जानते हो, दूसरे किसी से पूछते नहीं हो। अतः ऐसे लोगों को अटवी से अटवी तथा पर्वतों पर भागते, भटकते हुए देख।

भावार्थ—जिसे वनके मार्ग का पता न हो और वह किसी से जानकारी प्राप्त न करे, तो उसका भटकना अवश्यम्भावी है। कारण यह है कि जंगली रास्ते बड़े भूल-भुलैयावाले होते हैं। एक बार मार्ग भूल जाने पर भटकते रहो। फिर, मार्ग खोजना असम्भव हो जाता है। इसी प्रकार एक मार्ग संसार का है और एक मुक्ति का। संसार का मार्ग सभी प्राणी पहचानते हैं, इसलिए वह सरल है। किन्तु मुक्ति का मार्ग संसार-मार्ग से बिलकुल विपरीत तथा पूरी तरह से भिन्न है। उसे सद्गुरु या सत्संग से जाने बिना पहचान लेना बहुत कठिन है।

'सत्संग' का अर्थ परसंग या अन्य व्यक्ति का साथ नहीं है, किन्तु निज शुद्धात्म स्वभाव के साथ रहना है। अतः प्रथम तो आप आपका गुरु है। स्वयं ही स्व स्वभाव के साधन व आश्रय से संसार-सागर से तर सकता है। गुरु तारण-तरण जहाज हैं,

---

1. अ जाणिहिं; क, द, ब, स जाणहि; 2. अ, क, ब कोइ; द को वि; स कोई, 3. अ, ब, स अड्डवियड्डहं; क, द अद्दुवियद्दहं; 4. अ, ब, स भज्जंता; क, द भजंता।

गुरु तार देते हैं, भव-पार करा देते हैं—यह सब निमित्त की अपेक्षा व्यवहार का कथन मात्र है। क्योंकि कार्य तो अपने से अपने में होता है। निज आत्म-स्वभाव के आश्रय के बिना सुख और शान्ति की उपलब्धि नहीं होती। किन्तु आत्मज्ञान के इस मार्ग से हम अनादि काल से अनजान हैं, इसलिए चौरासी लाख योनियों में भटक रहे हैं। इन 84 लाख योनियों में प्रत्येक वनस्पति की 10 लाख, मनुष्यों की 14 लाख, देव, नारकी और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की 4-4 लाख, दो इन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक सब छह (2 × 3 = 6) लाख एवं नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथिवीकाय से ले कर वायुकाय तक 7-7 लाख (42 लाख) योनियाँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार 84 लाख योनियाँ कही गई हैं। 'योनि' का अर्थ है—जिसमें जीव जाकर उत्पन्न हो। योनि मिश्ररूप है, जिसमें जीव औदारिक आदि नोकर्म वर्गणारूप पुद्गलों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है, ऐसे जीव के उपजने के स्थान का नाम योनि है।

वट्ट जु छोडिवि मउलियउ[1] सो तरुवरु अकयत्थु[2]।
रीणा पहिय ण वीसमिय फलहिं[3] ण लायउ हत्थु ॥116॥

शब्दार्थ—वट्ट—पत्र (पत्ते को); जु—जो; छोडिवि—छोड़कर; मउलियउ—मुकलित हुआ; सो—वह; तरुवरु—उत्तम वृक्ष; अकयत्थु—अकृतार्थ (है); रीणा—(मार्ग चलने से) थके हुए; पहिय—पथिकों (के लिए); ण वीसमिय—न (यहाँ) विश्राम (मिलता है); फलहिं—फलों में; ण—नहीं; लायउ हत्थु—लगा पाते (हैं) हाथ (कोई)।

अर्थ—पत्तों को छोड़कर जो मुकलित हुआ है, वह तरुवर अकृतार्थ है। क्योंकि न तो थके हुए पथिकों को वहाँ विश्राम मिलता है और न फलों में कोई हाथ लगा पाता है।

इस दोहे का व्यंग्य अर्थ यह है कि उस वैभव के प्रदर्शन से क्या लाभ है जो धन दीन-दुखियों की भलाई में नहीं लगता है। परोपकार की बुद्धि होने पर दान देने से ही धन की सार्थकता है अर्थात् पत्तों के बिना वृक्ष का फलना व्यर्थ है।

भावार्थ—मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता और अनन्तानुबन्धी के परिणाम बन्ध होने में मुख्य कारण हैं। मिथ्या श्रद्धान रूप स्व-पर की एकत्व बुद्धि के अध्यवसाय (मिथ्या अभिप्राय) को आचार्य कुन्दकुन्द ने बन्ध का प्रमुख कारण कहा है। पर में सुख है, पुण्य में धर्म है, पाप में मजा है, इत्यादि स्व-पर सम्बन्धी मिथ्या बुद्धि सहित विभाव भाव रूप अध्यवसाय बन्ध का कारण है। अतः जो अध्यवसाय को छोड़कर सभी का त्याग कर देता है, यहाँ तक कि घर-द्वार, स्त्री-पुत्रादि को

---

1. अ मउडिउ; क, द ब, स मउलियउ; 2. अ अविहत्थु; क अकियत्थु; द, ब, स अकयत्थु; 3. अ, ब, स फलह; क फलिहिं; द फलहिं।

छोड़कर नग्न हो जाता है, किन्तु अध्यवसाय नहीं छोड़ता है तो अनन्त संसार बना ही रहता है। अतः मोक्ष-मार्ग की दृष्टि से ऐसे त्याग की क्या उपयोगिता है? क्योंकि अज्ञान भाव सदा बना ही रहता है। ऊपरी या बाह्य त्याग करने के कारण अन्तरंग राग या मूर्च्छा भाव बना रहता है। वास्तव में त्याग राग-द्वेष का करना है। क्योंकि राग-द्वेष ओढ़े हुए परभाव हैं, आत्मा के स्वभाव भाव नहीं हैं। परन्तु ठीक समझ न होने के कारण यह देखा-देखी त्याग करता है।

वास्तव में राग का त्याग ही सच्चा त्याग है। राग-बुद्धि जिस वस्तु से छूटती है, नियम से उसका त्याग हो जाता है। अतः जैनधर्म में भीतर से पहले त्याग होता है, तब बाहर का त्याग सच्चा कहा जाता है। परन्तु हम बाहर से तो वस्तुओं, धन-सम्पत्ति आदि को दान में दे देते हैं, किन्तु उससे राग भाव न छूटने के कारण अथवा मान या नामवरी के कारण पत्र-पत्रिकाओं में अपना नाम जाहिर करवाते हैं, फर्श, पंखा, अलमारी आदि पर अपना नाम लिखाना नहीं भूलते हैं। यह सब राग की ही बलिहारी है।

छहदंसण-धंधइ[1] पडिय मणहं ण[2] फिट्टिय[3] भंति।
एक्कु[4] देउ छह भेउ किउ तेण ण मोक्खहं[5] जंति ॥117॥

शब्दार्थ—छहदंसण—छह दर्शन (हिन्दू धर्म के षट् दर्शन हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त); धंधइ—धन्धा, रोजगार; पडिय—पड़े (हैं); मणहं—मन की; ण फिट्टिय—नहीं मिटी; भंति—भ्रान्ति; एक्कु देउ—एक देव (के); छह भेउ—छह भेद; किउ—किए; तेण—इस कारण; ण मोक्खहं—मोक्ष को नहीं; जंति—जाता, प्राप्त करता है।

अर्थ—षट्दर्शन के धन्धे में पड़कर मन की भ्रान्ति नहीं मिटी। क्योंकि छहों दर्शन अविद्या, अज्ञान या क्लेश से मुक्ति का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु इसने एक देव के छह भेद कर लिए। इसलिए यह मुक्ति को प्राप्त नहीं करता। यथार्थ में वास्तविक दर्शन, देव, मार्ग, मुक्ति एक है; अनेक नहीं हैं।

भावार्थ—यह यथार्थ है कि धर्म, देव, दर्शन और मुक्ति एक ही तरह की है। धर्म कभी न दो हुए और न होंगे। धर्म का जो स्वरूप है, वह सदा काल एक ही रहता है। किन्तु अलग-अलग दार्शनिकों ने अपना धन्धा या व्यापार चलाने के लिए अलग-अलग दर्शन स्थापित कर लिए। भले ही दर्शनों और दार्शनिकों में भेद हो

---

1. अ छहदंसणधंधिं; क, द, ब छहदंसणधंधइ; स छहदंसणधंधि; 2. अ मण हण; क, द मणहं ण; ब मण हर; स मणह ण; 3. अ, द, स फिट्टिय; क फिट्टय; ब फिट्टइ; 4. अ, स एकु; क, द, ब एक्कु; 5. अ मोक्खहिं; क मोक्खहो; द मोक्खहं; ब मोक्खहु; स मोक्खह।

सकते हैं, लेकिन वस्तु में क्या भेद होना है? वस्तु अपने गुण-धर्म से जैसी है, वह पहले भी वैसी ही थी, आज भी वही है और आगे भी वही रहेगी। अतः आत्मधर्म, वस्तु-धर्म, पुद्गल या अचेतन का धर्म जैसा आज है, वैसा ही त्रिकाल रहेगा। इसी प्रकार देव भी एक ही हैं। तरह-तरह के देवी-देवता नामधारी हो सकते हैं, लेकिन 'देव-संज्ञा' तो एक की ही है। प्रश्न है कि वह एक कौन है? जो वीतराग है, निर्लेप है, कर्ता-धर्ता नहीं है, वही देव है। क्योंकि साधारण मनुष्यों की तरह देव भी लौकिक कार्य-व्यापार करता हो, तो दोनों में अन्तर क्या रहा? देव की दृष्टि में तो सभी प्राणी समान हैं। यह समभाव वीतरागता के बिना प्रकट नहीं हो सकता। वीतरागता अतीन्द्रिय आनन्द रूप धर्म के बिना प्रकाशित नहीं होती। धर्म की मुद्रा क्या है? जैसे बिना मुद्रा के कोई सिक्का नहीं होता, वैसे अतीन्द्रिय आनन्द ही धर्म की मुख्य मुद्रा है। अतः धर्म आत्मानुभव की वस्तु है जो निर्विकल्प दशा में स्व-संवेद्य है। वह ज्ञानानन्द स्वरूपी वस्तु का स्वभाव है और जो वस्तु का स्वभाव है, (वत्थुसहावो धम्मो) वही धर्म है। तथा–

जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म।
यही वचन से समझ ले, जिन-प्रवचन का मर्म ॥

अप्पा मेल्लिवि एक्कु[1] पर अण्णु[2] ण वइरिउ[3] कोइ[4]।
जेण विणिम्मिय[5] कम्मडा[6] जइ पर फेडइ सोइ ॥118॥

शब्दार्थ–अप्पा–आत्मा (को); मेल्लिवि–छोड़कर; एक्कु–एक (ही); पर–पराया; अण्णु–अन्य; ण–नहीं; वइरिउ–वैरी; कोइ–कोई; जेण–जिससे; विणिम्मिय–विनिर्मित (हुए); कम्मडा–कर्म; जइ–यति, योगी; पर–परभाव (को); फेडइ–फेंट देता है, मिटा देता है।

अर्थ–हे आत्मन्! एक अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य कोई वैरी नहीं है। जिसके भाव (राग, द्वेष, मोह) के द्वारा कर्म निर्मित हुए हैं, उस परभाव को जो फेंट देता है, मिटा देता है, (वास्तव में) वही यति है।

भावार्थ–वास्तव में मनुष्य की दुर्बुद्धि ही उसकी शत्रु है और सत्बुद्धि ही मित्र है। जो भी भावकर्म और राग, द्वेष, मोह के निर्मिति रूप द्रव्यकर्म बनते हैं, वे सब खोटे भाव (विभाव भाव) से उत्पन्न होते हैं। नया कर्म जो बँधता है, वह दशा जड़कर्म के निमित्त से होती है और उसमें उपादान रूप से जीव के भाव तथा

---

1. **अ, स** एक; **क, द, ब** एक्कु; 2. **अ** अप्पु; **क, द, स** अण्णु; **ब** अणु; 3. **अ** वयरिय; **क, द, ब** वइरिउ; **स** वइरिय; 4. **अ** होइ; **क, द, ब, स** कोइ 5. **अ** विवज्जिउ; **क** विणिम्मिय; **द, ब** वि अज्जिय; **स** विणिम्मिअ; 6. **अ ब** दुक्खडा; **क, द, स** कम्मडा।

निमित्त रूप कर्म के परमाणु न हों, तो कर्म का बन्ध नहीं हो सकता है। ज्ञानानन्द स्वभावी चैतन्य भगवान् आत्मा तो ज्ञाता, द्रष्टा और विकारी भावों से स्वभाव में शून्य है, इसलिए ज्ञायक प्रभु अर्थात् आत्मा स्वभाव से कर्म-बन्धन में निमित्त नहीं है। द्रव्यदृष्टि से देखा जाए, तो कोई भी द्रव्य बनने-बिगड़ने वाली अवस्थाओं में निमित्त नहीं है। वह न तो स्वयं में स्वभावतः निमित्त है और न पर में निमित्त है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मात्र पर्याय दृष्टि से है।

जगत् में जो भी परिवर्तन होता दिखाई देता है, वह पर्यायों की विभिन्न अवस्थाओं के कारण है। द्रव्य तो सदा काल ज्यों का त्यों रहता है। चूँकि पर्याय का मालिक द्रव्य है, इसलिए अवस्था विशेष को बतलाने के लिए यह कहा जाता है कि वही जीव पशु से नारकी, देव, मनुष्य बना, किन्तु जीव तो जीव ही रहता है, गति रूप अवस्था के कारण ऐसा व्यवहार में कहा जाता है।

मनुष्य विशेष पढ़ा-लिखा होने पर भी धर्म की समझ न होने के कारण अपना भाव नहीं पहचानता है। अपना स्वभाव न जानने के कारण ही हम दुर्बुद्धि कहे जाते हैं। जो अपना स्वभाव जानती है वह सुमति या सुबुद्धि कहलाती है। संसार के सम्पूर्ण कार्य सुमति तथा कुमति से ही किए जाते हैं। दुर्बद्धि के कामों में पछताना पड़ता है और सुमति के कार्यों में सन्तोष व सुख का अहसास होता है। इस प्रकार यह संसार और उसका कार्य निरन्तर चलता रहता है।

जइ वारउं तो तहिं जि[1] पर अप्पहं[2] मणु ण धरेइ।
विसयहं[3] कारणि[4] जीवडउ णरयहं[5] दुक्ख सहेइ ॥119॥

शब्दार्थ—जइ—यदि; वारउं—रोकता हूँ; तो; तहिं—वहीं; जि (पादपूरक); पर—पर (भाव में) जाता है; अप्पहं—आत्मा को; मणु—मन (में); ण धरेइ—नहीं धारण करता है; विसयहं—विषयों के; कारणि—कारण; जीवडउ—जीव; णरयहं—नरक के; दुक्ख—दुःख; सहेइ—सहता है।

अर्थ—यद्यपि मैं मन को रोकता हूँ, फिर भी वह पर में जाता है; आत्मा को मन में धारण नहीं करता। विषयों में प्रवृत्ति होने के कारण ही जीव को नरकों के दुःख सहन करने पड़ते हैं।

भावार्थ—मन का रुकना और रोकना कठिन है और अभ्यास से सरल व सहज भी है। कठिन इसलिए है कि पर का लक्ष्य है, भौतिक पदार्थों की महिमा है।

---

1. अ ज; **क, द, ब, स** जि; 2. **अ, स** अप्पह; **क** अन्नहि; **द, ब** अप्पहं; 3. **अ, ब,** विसयह; **क, द, स** विसयहं; 4. **अ, क, द, ब** कारणि; **स** कारण; 5. **अ, स** णरयह; **क, द,** णरयहं; **ब** णरएह।

पर के सम्मुख रहने के कारण निज शुद्धात्म स्वभाव के सन्मुख नहीं हो पाता। इसका एक मात्र कारण पूर्णता के लक्ष का अभाव है। त्रिकाली ध्रुव चैतन्य स्वभाव का लक्ष होने पर मन विकल्पों से हटकर स्वभाव के सन्मुख हो जाता है। और फिर, धीरे-धीरे स्थिरता प्राप्त होने पर मन सहज ही रुक जाता है। इसमें मुख्य कार्य आत्म-श्रद्धान का है। मनुष्य की बुद्धि जहाँ हित देखती है, वहीं ढल जाती है—आचार्य पूज्यपाद का कथन है—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥
यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तितं श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥ समाधिशतक 95-96

अर्थात्—जिस विषय में पुरुष की बुद्धि जुड़ जाती है, उस विषय में रुचि उत्पन्न हो जाती है और जिसकी श्रद्धा (रुचि) हो जाती है, उस विषय में मन लय को प्राप्त हो जाता है। जहाँ पर मनुष्य की बुद्धि नहीं जमती है, वहाँ से रुचि हट जाती है और जिससे रुचि हट जाती है, उसमें फिर किस तरह से चित्त की लीनता हो सकती है?

यही कारण है कि रत्नत्रय में आत्मश्रद्धान को प्रमुख कहा गया है। यदि निज शुद्धात्मा की ओर चित्त नहीं ढलता है, तो न आत्मज्ञान हो सकता है और न सम्यक्चारित्र। रत्नत्रय की साधना में चित्त किंवा संकल्प-विकल्प सबसे अधिक बाधक हैं। इसलिए जब तक मन लय को प्राप्त नहीं होता, तब तक राग-द्वेष की लहरें उठती रहती हैं। और जब तक इनका उठना, उछलना चालू रहता है, तब तक साधक दशा प्रारम्भ नहीं होती। साधक दशा ही धर्मात्मा को संसूचित करती है। यदि साधकपना नहीं है, तो कैसे समझ में आए कि जीवन में धर्म प्रारम्भ हो गया है?

जीव म जाणहि[1] अप्पणा विसया होसहिं[2] मज्झु।
फल किमपाकह[3] जेम तिम दुक्ख करेसहिं[4] तुज्झु ॥120॥

शब्दार्थ—जीव—हे जीव!; म जाणहि—मत जानो; अप्पणा—अपने विसया—विषयों (को छोड़कर) होसहिं—हो जायेंगे; मज्झु—मेरे; फल किमपाकह—इन्द्रायण का फल; जेम—जिस प्रकार; तिम—उस प्रकार; दुक्ख—दुःख; करेसहिं—करेंगे; तुज्झु—तुझे।

1. अ जाणिहि; क, द, ब, स जाणहि; 2. अ, स होसहि; ब होसइ; क, द होसहिं; 3. अ किं पावहु; क, द किं पाकहि; ब किमपायह; स किमपाकह; 4. अ करेसहि; क, द करेसहिं; ब, स करेसइ।

अर्थ—हे जीव! ऐसा मत जानो कि ये विषय मेरे हो जाएंगे। किंपाक फल के समान (जो देखने में बहुत सुन्दर होते हैं, पर खाने पर मरण होता है) ये तुझे दुःख ही देंगे।

भावार्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनके विषय क्रम से स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द हैं। ये पाँचों विषय चेतना रहित जड़ हैं। चेतन की जाति से इनकी जाति भिन्न है। अतः चेतन इनका स्वामी कैसे हो सकता है? जैसे इन्द्रायण के सुन्दर फल को देखकर उसके सुखदायक होने का भ्रम उत्पन्न होता है, वैसे ही पाँचों इन्द्रियों के विषयों में सुखदायक होने का भ्रम ही होता है। अन्त में फल देते समय ये दुःखदायक ही अनुभव में सिद्ध होते हैं। आचार्य अमितगति स्पष्ट शब्दों में कहते हैं। उनके ही शब्दों में—

यत्सुखं सुरराजानां जायते विषयोद्भवम्।
ददानं दाहिकां तृष्णां दुःखं तदवबुध्यताम् ॥ योगसार, 3, 34

अर्थात्—इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुआ जो सुख देवेन्द्रों को प्राप्त होता है, वह भी दाह को उत्पन्न करने वाला तथा तृष्णा को देनेवाला है, इसलिए उसे दुःख ही समझना चाहिए।

वास्तव में संसार का सम्पूर्ण सुख दुःखमय है। आचार्य अमितगति का कथन है कि इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाला सुख दुःख क्यों है? इसमें ऐसी क्या बात है? कहते हैं कि प्रथम इन्द्रिय-सुख लगातार बना नहीं रहता। यह क्षण भर में नष्ट हो जाता है। दूसरे यह पीड़ादायक है। अतः जो अस्थिर है, पीड़ाकारक है, तृष्णावर्द्धक है, कर्मबन्धका कारण है, पराधीन है, उस इन्द्रियजन्य सुख को जिनदेव ने दुःख ही कहा है। (योगसार, 3, 35)

प्रथम जिससे सुख का आभास होता है, वही बाद में दुःखदायक प्रतीत होने लगता है। इससे पता चलता है कि जिसे हम सुखदायक समझते थे, वास्तव में वह सुखदायक नहीं हैं और न दुःखदायक। परिस्थिति विशेष में हमें उनमें जैसा आभास होता है, वैसा ही हम उनको समझने लगते हैं जो भ्रम मात्र है।

विसया सेवहि जीव तुहुं दुक्खहं[1] साहक[2] जेण[3]।
तेण णिरारिउ पज्जलइ हुयवहु जेम घिएण[4] ॥121॥

शब्दार्थ—विसया—विषयों (को); सेवहि—सेवन करते हो; जीव! तुहुं—तुम; दुक्खहं—दुःख के; साहक—साधक (हैं); जेण—जिससे; तेण—उससे;

1. **अ, ब** दुक्खह; **क, द, स** दुक्खहं; 2. **अ, ब** साहिक; **क** साहेक; **द** साहिक; **स** साहक; 3. **अ, द,** क एण; **ब** तेण; **स** जेण; 4. **अ, ब** घएण; **क, द, स** घिएण।

णिरारिउ–अत्यन्त, बहुत; पज्जलइ–प्रज्वलित (होता है); हुयवहु–(हुतवह) अग्नि; जेम–जिस तरह; घिएण–घी के द्वारा।

अर्थ–हे जीव! तुम जिन विषयों का सेवन करते हो, वे दुःख के साधक हैं। इसलिए तुम्हें बहुत जलना पड़ता है, जैसे घृत से अग्नि प्रज्वलित होती है।

भावार्थ–यह पहले ही कहा गया है कि विषयों के सेवन से दुःख की परम्परा चलती है। विषयों का सेवन कर्म-बन्ध का कारण है। मुनिश्री योगीन्दुदेव कहते हैं–

विषय-कषायों में लीन रहनेवाले जीवों के जो कर्म-परमाणुओं के समूह बँधते हैं, वे कर्म कहे जाते हैं। उनके ही शब्दों में–

पंच वि इंदिय अण्णु मणु अण्णु वि सयल विभाव।
जीवहँ कम्मइँ जणिय जिय अण्णु वि चउगइ ताव ॥

परमात्मप्रकाश 1,63

पाँचों ही इन्द्रियाँ भिन्न हैं, मन और रागादिक सब विभाव परिणाम अन्य हैं तथा चारों गतियों के दुःख भी अन्य हैं। हे जीव! ये सब जीवों के कर्म से (उदयजनित) उपजे हैं, जीव से भिन्न हैं, ऐसा समझना चाहिए।

वास्तव में चारों गतियों के दुःख विषयों के सेवन से प्राप्त होते हैं। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में–"बहुरि मोहके आवेश है तिन इन्द्रियनि के द्वारा विषय ग्रहण करने की इच्छा हो है। बहुरि तिन विषयनि का ग्रहण भए तिस इच्छा के मिटने तैं निराकुल हो है, तब आनन्द मानै है। जैसे कूकरा हाड़ चावै ताकरि अपना बोटी निकसै ताका स्वाद लेय ऐसा मानै, यहु हाड़निका स्वाद है। तैसे यहु जीव विषयनि को जानै ताकरि अपना ज्ञान प्रवर्तै, ताका स्वाद लेय ऐसा मानै, यहु विषय का स्वाद है सो विषय में तो स्वाद है नाहीं। आप ही इच्छा करी थी ताको आप ही जानि आप ही आनन्द मान्या, परन्तु मैं अनादि अनन्तज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ–ऐसा निःकेवल-ज्ञान का तो अनुभव है नाहीं। (मोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृ. 40)

और फिर इच्छा तो त्रिकालवर्ती सभी विषयों को ग्रहण करने की बनी रहती है। लेकिन एक समय में एक ही विषय का ग्रहण हो पाता है। एक-एक इन्द्रियों की विषयों की अधीनता के कारण कितना दुःख सहन करना पड़ता है और फिर उनकी दुर्गति होती है, तो जो पाँचों इन्द्रियों के दास हैं और निरन्तर विषय-सेवन करना चाहते हैं उनका क्या कहना है? पं. दौलतरामजी ने ठीक ही कहा है–

यह राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय-कषाय अब तौ त्याग निजपद वेइये ॥

–छहढाला, अन्त्य

असरीरहं[1] संधाणु किउ[2] सो धाणुक्कु णिरुत्तु।
सिवतत्तिं जो[2] संधियउ सो अच्छइ णिच्चिंतु[4] ॥122॥

शब्दार्थ—असीररहं—अशरीरी सिद्ध (परमात्मा) का; संधाणु किउ—लक्ष्य बनाया; सो—वह; धाणुक्कु—धनुर्धर; णिरुत्तु—कहा गया है; सिवतत्ति—शिव तत्त्व को; संधियउ—साध लेता (है); सो—वह; णिच्चिंतु—निश्चिन्त; अच्छइ-है।

अर्थ—जिसने अशरीरी सिद्धात्मा का लक्ष्य बनाया, वही निश्चित धनुर्धर है। जो शिवत्व या शिवतत्त्व का सन्धान करता है, वही निश्चिन्त रहता है। भाव यह है कि अपनी शुद्धात्मा का लक्ष्य कर उसमें तल्लीन रहना ही सच्चा कौशल है।

भावार्थ—निश्चिन्त होने का एक मात्र उपाय है—ध्रुवत्व की प्राप्ति। जिसने त्रिकाली ध्रुव को ज्ञान का ज्ञेय बना लिया है, उसे फिर संसार की चिन्ता नहीं होती। कदाचित् चिन्ता भी हो, तो ज्ञान का ज्ञेय पलटते ही ध्रुवतत्त्व का स्मरण होने लगता है। ध्रुवतत्त्व खयाल में आते ही उस रूप भावना तथा अनुभव होता है। अतः वीतराग, परम निर्विकल्प, त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक स्वरूप का चिन्तन निरन्तर बना रहता है। जहाँ आत्मस्वरूप का चिन्तन है, वहाँ चिन्ता को अवकाश कहाँ है? ध्येय और ज्ञेय की एकता होने पर सम्पूर्ण चिन्ताएँ रुक जाती हैं और एक ज्ञायक का ही ध्यान बना रहता है। इस पद्धति का नाम ही आध्यात्मिक है। ध्रुव तत्त्व को जानने का एक मात्र प्रयोजन "निजरसनिर्भर" होना है। निजरस अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द है। अपनी पावर (शक्ति) मिलते ही चिन्ता, भय, विघ्न बाधाएँ कुछ भी प्रतिकूलता के लिए समर्थ नहीं होती हैं। यही "शिवतत्त्व की खोज" कही जाती है।

जो शिव को प्राप्त करना चाहता है, वह उसकी खोज करता है। यह खोज वस्तु-स्वरूप या सत्य पर आधारित होती है। सत्य का सही स्वरूप द्रव्य-दृष्टि से ही जानने में आता है। आगम से शुद्धनय की दृष्टि प्राप्त कर वस्तु-स्वरूप को समझ कर अपने आप में स्वसंवेदन से उस परमतत्त्व का अनुसन्धान कर आत्मानुभूति को हम उपलब्ध हो सकते हैं। बिना अनुभव के उसका सन्धान, अनुसन्धान (खोज) सम्भव नहीं है। अतः वस्तु-स्वरूप का निर्णय होने पर प्रथम शुद्धात्माका पूर्ण लक्ष्य बनता है, फिर ध्येय-ज्ञेय के एकाकार होने पर स्वभाव के सन्मुख होते ही भेद-विज्ञान पूर्वक निज ध्रुवतत्त्व स्व-संवेदन होता है, जिसे आत्मानुभव कहते हैं। अध्यात्म शास्त्र

---

1. **अ, स** असरीरह; **क, द, ब** असरीरहं; 2. **अ, क, द** संधाणु किउ; **ब** संधाण कउ; **स** संधाण किउ; 3. **अ** सिवतत्ति जि; **क, स** सिवततिं जिं; **द** सिवतत्तिं जं; **ब** सिवभंत्ते जं; 4. **अ** णिच्चंतु; **क, द, स** णिच्चिंतु; **ब** णिच्चेतुं।

में तो आत्मानुभव ही एक प्रमुख कार्य है। क्योंकि आत्मानुभव के बिना मोक्ष-मार्ग प्रारम्भ नहीं होता।

हलि सहि[1] काइं करइ[2] सो दप्पणु।
जहिं[3] पडिबिंबु[4] ण दीसइ अप्पणु ॥
धंधवालु[5] मो जगु पडिहासइ।
घरि[6] अच्छंतु ण घरवइ दीसइ ॥123॥

शब्दार्थ—हलि—हे; सहि—सखि; काइं—क्या; करइ—करता है; सो—वह; दप्पणु—दर्पण; जहिं—जहाँ, जिसमें; पडिबिंबु—प्रतिबिम्ब; ण—नहीं; दीसइ—दिखता है; अप्पणु—अपना; धन्धवालु—लज्जावान; मो—मुझे; जगु—जगत; पडिहासइ—प्रतिभासित (होता है), घरि—घर में; अच्छंतु—रहते हुए; ण घरवइ—न गृहस्वामी; दीसइ—दिखलाई पड़ता है।

अर्थ—हे सखि! उस दर्पण का क्या करें, जिसमें अपना प्रतिबिम्ब न दिखाई पड़ता हो। धन्धा करने वाला यह जगत् मुझे प्रतिभासित होता है। किन्तु घर में रहते हुए भी गृहस्वामी का दर्शन नहीं होता।

भावार्थ—दर्पण ज्ञान का प्रतीक है। केवलज्ञान रूपी दर्पण में तीनों लोकों तथा तीनों कालों के सभी द्रव्य अपनी सम्पूर्ण पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होते हैं। जिस दर्पण रूपी ज्ञान में वर्तमान, भूत, भविष्य सभी कालों की पर्याय सहित द्रव्य न झलकते हों, तो उस दर्पण की क्या उपयोगिता है? दर्पण का उपयोग तो यही है कि हम जैसे हैं और जो भी हमारी छवि है, वह ज्यों की त्यों उसमें प्रतिबिम्बित हो। यह निश्चित है कि निर्मल ज्ञान में सभी पर्यायें प्रतिबिम्बित होती हैं। अतः सुमति रूपी सखि का यह कथन ठीक है कि ज्ञानचेतना में रमकर, जमकर ऐसी साधना करनी चाहिए; जिसमें ध्येय और ज्ञेय की एकता हो। क्योंकि ध्येय और ज्ञेय की एकता होने पर ही स्वात्मोपलब्धि होती है।

उक्त पद में सुमति रूपी सखि ज्ञान-परिणति रूपी सहेली से अपने अन्तरंग रहस्य को प्रकट करती हुई कहती है—हे सखि! जिस दर्पण में अपना रूप प्रतिबिम्बित न हो, उसे देखने से क्या लाभ? इसका सांकेतिक अर्थ है कि प्रियतम परमात्मा के दर्शन के लिए आत्मानुभव रूपी ज्ञान-दर्पण का अवलोकन किया जाता है, लेकिन

---

1. **अ** हल सह; **क, द** हलि सहि; **ब** हल्लसइं; **स** हल्ल सहि; 2. **अ, क, द, स** करइ; **ब** कीरइ; 3. **अ, ब, स** जहि; **क, द** जहिं; 4. **अ, द स** पडिबिंबि; **क** पडिविंबु; **ब** पडिबिंब; 5. **अ, क, ब, स** धंधवालु, **द** धंधइवालु; 6. **अ, द स** घरि; **क** घर; **ब** घूरि।

यदि परमात्मा रूपी प्रियतम का दर्शन नहीं होता, तो ज्ञान रूपी दर्पण में स्वात्मावलोकन से क्या लाभ है? जिन-दर्शन का प्रयोजन ही निज दर्शन है।

लौकिक धन्धे करने वाले इस जगत का मुझे प्रतिक्षण प्रतिभास होता है। लेकिन यह महान् आश्चर्य का विषय है कि घर में रहते हुए मुझे आज तक गृहपति का दर्शन नहीं हुआ अर्थात् आत्मानुभव से वंचित होकर प्रियतम के वियोग में व्यथित हूँ।

सम्यग्दर्शन होने के पूर्व प्रत्येक जीव को शुद्धात्म स्वरूप परमात्मा प्रतिभासित होता है अर्थात् आत्म-दर्शन के समय परमात्मा की झलक अवश्य ज्ञानगोचर होती है। क्योंकि इसके बिना आत्मा-परमात्मा का श्रद्धान नहीं होता। यही अभिव्यंजना व्यंजित है। अतः यह पद भावात्मक रहस्यवाद का उत्कृष्ट निदर्शन है।

जसु जीवंतहं[1] मणु मुवउ पंचेंदियहं[2] समाणु।
सो जाणिज्जइ[3] मोक्कलउ[4] लद्धउ[5] पउ णिव्वाणु ॥124॥

शब्दार्थ—जसु—जिसके; जीवंतहं—जीवित रहते हुए के; मणु—मन; मुवउ—मर गया; पंचेंदियहं—पाँचों इन्द्रियों (के); समाणु—साथ; सो—वह; जाणिज्जइ—जाना जाता है; मोक्कलउ—मुक्त; लद्धउ—प्राप्त किया; पउ—पद; णिव्वाणु—निर्वाण (का)।

अर्थ—जिसके जीवित रहते हुए पाँचों इन्द्रियों के साथ मन मर गया अर्थात् भावमन स्वभाव में विलीन हो गया, उसे मुक्त जानना चाहिए; क्योंकि वह जीवन-मुक्त हो गया है।

भावार्थ—जीवन मुक्त होने पर वह मनसे रहित हो जाता है। इसलिए सिद्ध भगवान् के मन नहीं होता है। संकल्प-विकल्प करना मन का कार्य है। अतः अनेक प्रकार के विकल्पजाल को मन कहा गया है। मन दो प्रकार का है—द्रव्यमन और भावमन। जो अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्ध से उत्पन्न होता है और आठ पंखुरी वाले कमल के आकार का होता है, उसे द्रव्यमन कहते हैं। द्रव्यमन शरीर की रचना विशेष है, इसलिए मूर्त व पुद्गल है। द्रव्यमन में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाए जाते हैं। भावमन पर द्रव्यों का अवलम्बन लेकर प्रवर्तता है, इसलिए उसे भी पौद्गालिक कहा गया है। (सर्वार्थसिद्धि)

यद्यपि भावमन लब्धि और उपयोग लक्षण वाला है, तथापि वह आत्मा और

---

1. **अ** जावंतह; **क, द, स** जीवंतहं; **ब** जीवतहं; 2. **अ** पंचदियह; **क, द** पंचेंदियहं; **ब** पचिंदिय; **स** पंचिंदियह; 3. **अ** जाणिज्जहि; **क, द, ब** जाणिज्जइ; **स** जाणिज्जह; 4. **अ, ब** मोकलउ; **क, द, स** मोक्कलउ; 5. **अ** लधउ; **क, द, स** लद्धउ; **ब** लद्धहु।

इन्द्रियों से सम्बद्ध है। जीवन्मुक्त होने पर अर्हन्त परमात्मा के भावमन नहीं होता है। इसलिए उनकी दिव्यध्वनि इच्छापूर्वक नहीं खिरती है। जैसे बादल के आकार रूप परिणमित पुद्गलों का गमन, स्थिरता, गर्जन और जलवृष्टि पुरुष के प्रयत्न के बिना होता है, उसी प्रकार तीर्थकर की दिव्यध्वनि भाषा-वर्गणा के बिखरने के समय खिरती है जिसमें मन, वचन, कायका योग होता है। अतः वहाँ कर्म का आस्रव है। किन्तु सिद्ध भगवान् के इन तीनों में से कुछ भी नहीं है। अतः उनके आस्रव नहीं होता। परिणामतः उनके क्रोध, मान, माया और लोभ के भाव भी नहीं होते। यही कारण है कि अरिहंत-सिद्ध भगवान किसी से क्षमा नहीं माँगते। माँगे कैसे? उनके मन का ही अभाव है। वे अपने सहज स्वभाव में सदा लीन रहते हैं। पं. दौलतरामजी के शब्दों में–

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रस-लीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरि-रज रहस विहीन ॥

किं किज्जइ बहु अक्खरहं[1] जे कालिं[2] खय[3] जंति।
जेम अणक्खरु संतु मुणि[4] तव वढ[5] मोक्खु[6] कहंति ॥125॥

शब्दार्थ–किं–क्या; किज्जइ–किया जाता है; बहु अक्खरहं–बहुत अक्षरों से; जे–जो (बहुवचन); कालिं खय जंति–(नियत) समय में क्षय (को प्राप्त) हो जाते हैं; जेम–जिस तरह; अणक्खरु–अनक्षर (क्षरण, क्षय न हो); संतु–होते हुए; मुणि–मुनि; तप–तप (को); वढ–मूर्ख; मोक्खु–मोक्ष; कहंति–कहते हैं।

अर्थ–हे मूर्ख! बहुत अक्षरों (को पढ़ने) से क्या किया जाए, क्योंकि वे कुछ समय में क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। जिससे मुनि अनक्षर (जिसका क्षरण, क्षय न हो) हो जाए, उस अक्षयता को मोक्ष कहते हैं।

भावार्थ–यह यथार्थ है कि अक्षरों को पढ़ लेने मात्र से कोई धर्मात्मा नहीं हो जाता। मुनि योगीन्दुदेव कहते हैं–

पढ़ लेने से धर्म नहीं होता, पुस्तक और पिच्छी से भी धर्म नहीं होता, किसी मठ में रहने से भी धर्म नहीं होता तथा केश-लुंचन से भी धर्म नहीं होता। (योगसार, दो. 47)

शास्त्रीय विद्या तो लोक को और अपने आपको समझने में सहायक है। जैसे

---

1. **अ** अक्खरइं; **क, द, ब, स** अक्खरहं; 2. **अ** कालें; **क, द** कालिं; **ब, स** कालं; 3. **अ, क, द, ब** खउ; **स** खय; 4. **अ, द, ब, स** मुणि; **क** नवि; 5. **अ** वट्ट; **द, ब, स** वढ; **क** चढ; 6. **अ** सोक्खु; **क, द, ब, स** मोक्खु।

अन्धकार में दीपक प्रकाश करता है, लेकिन कोई सामने देखकर न चले, तो गड्ढे में या ढालू भूमि पर गिर जाता है, उसके गिरने में दीपक का दोष नहीं है, उसी प्रकार आप अपने को नहीं जाने, नहीं पहचानें तो शास्त्र का कोई दोष नहीं है। कहा भी है–

पुस्तकैर्यत्परिज्ञानं परद्रव्यस्य मे भवेत्।
तद्धेयं किं न हेयानि तानि तत्त्वावलम्बिनः ॥
–तत्त्वज्ञानतरंगिणी 36.15, 13

अर्थात् मैंने अब तत्त्व का अवलम्बन ले लिया है, मुझे अपने और पराये का सम्यग्ज्ञान हो चुका है, इसलिए शास्त्रों की सहायता से होने वाला पर द्रव्यों का ज्ञान भी हेय है। और उन पर द्रव्यों का ग्रहण तो अवश्य ही त्याग देना चाहिए। उनकी ओर झाँकना भी मेरे लिए योग्य नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि जो शास्त्र प्रथम वस्तु को जानने में सहायक है, वही वस्तु-ज्ञान होने पर हेय हो जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है–

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति ॥समयसार, गा. 380

अर्थात्–शास्त्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है। इसलिए ज्ञान अन्य है, शास्त्र अन्य है–ऐसा जिनदेव कहते हैं। वास्तव में अक्षर, वर्ण, शब्दादि भी ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि वे कुछ जानते नहीं हैं।

छहदंसणगंथिं[1] बहुल अवरुप्परु[2] गज्जंति।
जं कारणु[3] तं एक्कु[4] पर विवरेरा[5] जाणंति ॥126॥

शब्दार्थ–छहदंसणगंथिं–छह दर्शनों (के) ग्रन्थों में; बहुत–अधिकतर; अवरुप्परु–एक दूसरे पर; गज्जंति–गरजते हैं; (इसका) जं–जो; कारणु–कारण; तं–उसे; एक्कु–एक (मात्र); पर–अन्य (को); विवरेरा–विपरीत; जाणंति–जानते हैं।

---

1. अ छहदंसणग्रंथिं; **क, द, स** छहदंसाणगंथिं; **ब** छहदंसणगंथ; 2. **अ, क, द, स** अवरुप्परु; **ब** अवरोप्परु; 3. **अ** कारण; **क, स** कारणु; **द** कारणि; **ब** कारणं; 4. **अ, ब** एक्क; **क, द, स** इक्कु; 5. **अ, क, द, स** विवरेरा।

अर्थ—षट्दर्शन के ग्रन्थों में बहुत अधिक एक दूसरे पर गरजते हैं। उसका कारण एक मात्र पर ही है, वे एक दूसरे को विपरीत समझते हैं।

भावार्थ—सभी दर्शनवालों के सच्चे न्याय-ज्ञान का अभाव है। यदि न्यायशास्त्र का सच्चा ज्ञान हो जाए, तो उनकी मिथ्या मान्यतायें मिटकर तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान हो जाए और सभी एक होकर जैन हो जाएं, तब किसी को दोषी ठहराना भी न हो। जैनदर्शन की गणना भारतीय षट्दर्शनों में नहीं है। क्येंकि जैन और बौद्ध ईश्वर को कर्ता नहीं मानते हैं। भारत के 6 दर्शनों में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसक और वेदान्त की गणना की जाती है। चार्वाक को नास्तिक माना गया है। वास्तव में आत्मा के अस्तित्व को मानने वाले आस्तिक हैं, लेकिन "नास्तिको वेदनिन्दकः" कहकर जो वेदों को प्रमाण नहीं मानते, उनको नास्तिक कह दिया गया है। सच बात तो यह है कि आत्मा की सत्ता को स्वीकार किए बिना कोई वास्तविक दर्शन नहीं हो सकता। लेकिन आत्मा को नित्य-अनित्य, प्रमाण को स्वतः या परतः, ज्ञान को शब्द से या अर्थ से मानने वाले वाद-विवाद करते हुए एक दूसरे पर गरजते हैं, तरह-तरह के तर्कों से एक दूसरे का खण्डन कर अपने पक्ष का मण्डन करते हैं। लेकिन इनसे यथार्थ निर्णय नहीं होता है। क्योंकि मिथ्याज्ञान से किसी भी अवस्था में वस्तु-स्वरूप की पहचान नहीं हो सकती है। एक ओर इन्द्रियज्ञान है और दूसरी ओर अतीन्द्रियज्ञान है। अतीन्द्रियज्ञान में वाद-विवाद को अवकाश कहाँ है? इन्द्रियों और मन के निमित्त से ज्ञान मानने वाले एक दूसरे को विपरीत समझते हैं। आचार्य नरेन्द्रसेन कहते हैं—सर्वथा नित्यवादी और सर्वथा अनित्यवादी दोनों मिथ्यादृष्टि हैं। जो पदार्थों को नित्यानित्य मानता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि निरपेक्ष नित्यानित्यवाद भी एकान्त नित्यवाद और एकान्त अनित्यवाद की तरह मिथ्या ही है। कारण यह है कि नयों का कथन सापेक्ष होता है। अपेक्षा के बिना वस्तु को नित्यानित्य मानने से सब नयों का घात होता है। (सिद्धान्तसार, गा. 74)

सिद्धंतपुराणहिं[1] वेय वढ बुज्झंतहं णउ भंति।
आणंदेण वि[2] जाम गउ ता वढ सिद्धि[3] कहंति ॥127॥

शब्दार्थ—सिद्धंत-पुराणहिं—सिद्धान्त, पुराण (ग्रन्थों को); वेद—वेदों (को) वढ—मूर्ख; बुज्झंतहं—बूझते, समझते (होने पर भी) हुए; णउ—नहीं भ्रान्ति (दूर होती); आणंदेण—आनन्द से ही; वि—भी; जाम गउ—जब

1. अ, ब, सिद्धंतपुराणह; क सिद्धंतपुराणहं; द सिद्धंतपुराणहिं; 2. अ, द, ब व; क, स वि; 3. अ, क, ब, स सिद्धि; द सिद्ध।

(प्राप्त हो) गया; ता—तब; वढ—मूर्ख; सिद्धि—(उसे) सिद्धि; कहंति—कहते हैं।

अर्थ—हे मूर्ख! सिद्धान्त, पुराण तथा वेदों को पढ़ने से भ्रान्ति नहीं मिटती। जब परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है, तब वही मूढ सिद्ध कहलाता है। भाव यह है कि आत्मा ही पुरुषार्थ करके परमात्मा होता है। सच्चिदानन्द परम ब्रह्म की उपलब्धि किसी के अनुग्रह या परावलम्बन से नहीं, किन्तु अपनी योग्यता से जीव प्रत्येक सिद्धि को प्राप्त करता है।

भावार्थ—चारों अनुयोगों का समन्वित ज्ञान-सच्चा श्रद्धान और न्यायज्ञान, आगम और अध्यात्म का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेकान्त स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है। उत्पाद, व्यय, ध्रुव सहित पदार्थ सत्ता रूप है। उसे समझने के लिए स्यात् मुद्रा की छाप से चिन्हित आगम और परमागम श्रुतज्ञान प्रमाण है। प्रमाण का विषय अनेक धर्मात्मक वस्तु है। प्रमाणज्ञान के द्वारा प्रकाशित पदार्थ का विशेष रूप से निरूपण करने वाला नय है। प्रमाण और नय ज्ञान की ही पर्यायें हैं। प्रमाण सर्वदेश है और नय एकदेश है। पदार्थों का ज्ञान प्रमाण और नय से होता है। वास्तव में सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। अन्य भारतीय दर्शनों में ज्ञान का सच्चा निर्णय नहीं है। इसलिए सभी दर्शनों ने 'प्रमाण' की परिभाषा अलग-अलग की है। बौद्धों ने 'प्रमाण का लक्षण' अविसंवादी ज्ञान को माना है, मीमांसकों ने अनधिगत तथा अभूतार्थ निश्चायक ज्ञान को प्रमाण माना है, प्रभाकर-मीमांसकों ने अनुभूति को प्रमाण माना है तथा नैयायिकों ने प्रमा के प्रति जो करण अर्थात् साधन है उसे प्रमाण माना है। कोई इन्द्रिय व्यापार, कारक-साकल्य, सन्निकर्ष, ज्ञातृव्यापार आदि को प्रमाण मानता है। इसी प्रकार निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद, शब्दाद्वैतवाद, शून्यवाद, अचेतनवाद, साकारज्ञानवाद, भूतचैतन्यवाद, ज्ञानपरोक्षवाद, आत्मपरोक्षवाद, ज्ञानान्तर वेद्यवाद, स्वतः प्रामाण्यवाद, यौगाचार, चित्राद्वैत, माध्यामिक, सर्वथापरोक्ष, प्रत्यक्ष, अपूर्व अर्थग्राही, स्मृतिप्रमोष, ब्रह्मवाद आदि अनेक प्रमाण कहे गए हैं। परन्तु जैनदर्शन पूर्ण रूप से अपने आपको और पदार्थ को जानना प्रमाण का लक्षण कहता है। प्रमाण सर्वांग वस्तु को ग्रहण कर कहता है। प्रमाण और नय के स्वरूप का निश्चय होने पर वस्तु का निश्चय होता है। कहा भी है—

गहिओ सो सुदणाणे पच्छा संवेयणेण झायव्वो।
जो ण हु सुयमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावे ॥ बृ. नयचक्र गा. 349

अर्थात्—पहले श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को ग्रहण करके, पीछे स्व-संवदेन के द्वारा उसका ध्यान करना चाहिए। जो श्रुत (भावश्रुत) का अवलम्बन नहीं लेता, वह आत्मा के सद्भाव में मूढ़ ही बना रहता है।

वास्तव में प्रत्यक्ष स्वसंवेदनगम्य स्वानुभूति तथा मतिश्रुत ज्ञान प्रमाण है।

सिव-सत्तिहिं[1] मेलावडा इहु पसुवाहम्मि[2] होइ।
भिण्णिय सत्ति सिवेण सिहु[3] विरला बुज्झइ कोइ[4] ॥128॥

शब्दार्थ—सिव-सत्तिहिं—शिव-शक्ति के; मेलावडा—मिलाप (से); इहु—यह (यज्ञ); पसुवाहम्मि—पशुवध (करने) में; होइ—होता है; भिण्णिय सत्ति—भिन्न शक्ति (है); सिवेण सिहु—शिव के द्वारा; विरला बुज्झइ कोइ—कोई विरला पुरुष समझता है।

अर्थ—यह शिव तथा शक्ति का मेल पशु-वध (के लिए यज्ञ) में होता है। वस्तुतः शक्ति शिव से भिन्न है, यह कोई विरला ही समझता है। यथार्थ में प्रत्येक द्रव्य में निजी शक्ति (योग्यता) होती है। यदि उनमें शक्ति न हो, तो वे विकास नहीं कर सकते हैं। इसलिए शक्ति भिन्न है तथा योग्यता से प्राप्त हुई शिव रूप अवस्था भिन्न है। इस रहस्य को कोई परम आनन्द की अनुभूति करने वाला सच्चिदानन्द परमब्रह्म स्वरूप के स्वसंवेदन से ही विरला व्यक्ति जानता है।

भावार्थ—शिव भिन्न है और शक्ति भिन्न है। यहाँ पर 'शिव' का अर्थ "शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभाव, निज शुद्धात्मा" है। ब्रह्मदेवसूरि ने (परमात्मप्रकाश, 2, 140, 142, 146 टीका में) यही अर्थ किया है।

शक्ति, प्रकृति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण तथा शील व आकृति एकार्थवाचक शब्द हैं। प्रायः 'धर्म' और 'शक्ति' पर्यायवाची हैं। 'धर्म' से अभिप्राय 'गुण-धर्म' से है। आत्मा में अनन्तधर्म हैं। आचार्य अमृतचन्द्र के वचन हैं—"अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।" (समयसारकलश, 2)

जीव द्रव्य में 47 शक्तियों का नाम-निर्देश अमृतचन्द्र ने "समयसार के परिशिष्ट में किया है। उन्होंने संक्षेप में सैंतालीस शक्तियों का वर्णन भी किया है जो बतौर नमूने के हैं। आत्मा में ऐसी अनन्त शक्तियों का भण्डार है। अतः यह स्पष्ट है कि शिव भिन्न है और शक्ति भिन्न है। उसको 'गुण-धर्म' भी कहा गया है। कहा भी है—"शक्तिः कार्यानुमेया" (न्यायविनिश्चय विवरण, 2,18) अर्थात् शक्ति का कार्य पर से अनुमान किया जाता है, किन्तु व्यक्ति का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। इस प्रकार शिव स्वयं द्रव्य है और उससे अनुमित होने वाली शक्ति है।

लोक में पशु-यज्ञ में शिव और शक्ति के संगम के नाम पर जो वध किया जाता है, वह सर्वथा अनुचित तथा हिंसामूलक होने से पाप का कार्य है।

---

1. **अ, क, द** सिवसत्तिहिं; **ब** सिवसत्तिह; **स** सिवसत्तिहि; 2. **अ, क, द, ब** पसुवाहमि; **स** पसुवाहम्मि; 3. **अ, क** सहु; **द, स** सिहु, **ब** सहूं; 4. **अ, क, द, स** कोइ; **ब** काइ।

भिण्णउ जेहिं[1] ण जाणियउ[2] णियदेहहं[3] परमत्थु।
सो अंधउ अवरहं[4] अंधयहं किम दरिसावइ पंथु ॥129॥

शब्दार्थ—भिण्णउ—भिन्न; जेहिं—जिसने, जिसके द्वारा; ण जाणियउ—नहीं जाना गया; णियदेहहं—निज देह से; परमत्थु—परमार्थ (निज शुद्धात्मा); सो—वह; अंधउ—अन्धा (अज्ञानी) है; अवरहं—अन्य, दूसरे को; अंधयहं—अन्धे को; किम—किस प्रकार; दरिसावइ—दिखाता है; पंथु—पथ को।

अर्थ—जिसने अपनी देह से भिन्न परमार्थ (निज शुद्धात्मा) को नहीं जाना, नहीं देखा है, वह अन्धा (अज्ञानी) है। ऐसा अन्धा दूसरे अन्धों को कैसे मार्ग (ज्ञानमार्ग) दिखा सकता है?

भावार्थ—आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि यह बड़ा खेद है कि जहाँ अमृत तो विष के लिए है, ज्ञान मोह के लिए है और ध्यान नरक के लिए है, सो जीवों की यह विपरीत चेष्टा आश्चर्य उत्पन्न करती है। (ज्ञानार्णव, 10)

जब तक चेतन भगवान् आत्मा की प्रतीति नहीं होती, तब तक प्राणियों में भिन्नता दिखलाई पड़ती है; जबकि सामान्यपने सभी जीव समान हैं। सभी में चैतन्य समान है। मुनि योगीन्दुदेव का कथन है—हे जीव! परमार्थ को समझने वालों के कोई जीव बड़ा या छोटा नहीं है। सभी जीव परमब्रह्म स्वरूप हैं। ज्ञानी सभी में एक को ही देखता, जानता है। (परमात्मप्रकाश, आ 2, दो. 74)

यदि अन्धा प्राणी कुए में गिरे तो आश्चर्य नहीं होता है, किन्तु सूझता गिरे तो आश्चर्य होता है। उसी प्रकार आत्मा-ज्ञाता-द्रष्टा है, तथापि मोह से संसार रूपी कुए में गिरता है। ऐसे अज्ञानी को यहाँ पर अन्धा कहा गया है। आचार्य मोह के उदय में राग को हरा-भरा समझने वालों को अन्धा कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार मोहरूपी मदिरा का पान कर संसारी जीव मैले स्थान पर सो रहा है। आचार्य उसे जगाते हुए कहते हैं कि हे अन्ध प्राणी! तुम जिस पद में सो रहे हो, वह तुम्हारा पद नही है। तुम्हारा पद तो शुद्ध चैतन्य धातुमय है जो विकाररहित, शुद्ध और स्थायी है, ऐसे स्वभाव का आश्रय करो। (समयसारकलश, 138) आचार्य देवसेन का कथन है कि मन-मन्दिर के उजाड़ होने पर अर्थात् उसमें संकल्प-विकल्पों के नहीं बसने पर और सभी इन्द्रियों का व्यापार नष्ट हो जाने पर आत्मा का स्वभाव अवश्य प्रकट होता है। इस आत्मस्वभाव का आश्रय लेने पर ही आत्मा परमात्मा हो जाता है। (आराधनासार, गा. 85) आत्मा का स्वभाव स्वसंवेदनगम्य प्रत्यक्ष है।

---

1. **अ** जेहि; **क, द, स** जेहिं; **ब** जेह; 2. **अ, ब** जाणियउं; **क, द, स** जाणियउ; 3. **अ, स** णियदेहह; **क, द ब** णियदेहहं; 4. **अ** अवरं; **क, द, ब, स** अवरहं।

वह मन और इन्द्रियों की सहायता से जानने में नहीं आता है। इसलिए उसे अतीन्द्रिय कहा गया है।

जोइय भिण्णउ झाय[1] तुहुं[2] देहहं णिय[3] अप्पाणु।
जइ देहु वि अप्पउ[4] मुणहि णवि पावहिं[5] णिव्वाणु ॥130॥

शब्दार्थ—जोइय—हे जोगी!; भिण्णउ—भिन्न; झाय—ध्याओ; तुहुं—तुम; देहहं—देह से; णिय अप्पाणु—निजात्मा (को); जइ—यदि; देहु वि—शरीर भी; अप्पउ—अपना; मुणहि—मानते हो; णवि—नहीं; पावहि—प्राप्त होगा; णिव्वाणु—निर्वाण, मोक्ष।

अर्थ—हे जोगी! तुम निज शुद्धात्मा को देह से भिन्न ध्याओ। यदि तुम देह को अपना मानोगे, तो निर्वाण की प्राप्ति नहीं होगी।

भावार्थ—जो देह को अपना मानता है अर्थात् शरीर में एकत्व बुद्धि वाला है, वह बहिरात्मा मूढ़ है। आचार्य अमितगति कहते हैं—

यस्य रागोऽणुमात्रेण विद्यतेऽन्यत्र वस्तुनि।
आत्मतत्त्वपरिज्ञानी बध्यते कलिलैरपि ॥—योगसार 1, 47

अर्थात्—जिसके पराई वस्तु में थोड़ा-सा भी राग है, तो वह कर्म-बन्ध को अवश्य प्राप्त करता है। भले ही कोई तत्त्वज्ञानी क्यों न हो? यदि वह अणु मात्र भी सूक्ष्म से सूक्ष्म राग करता है तो कर्म-प्रकृतियों से बँधता है। और जो कर्म बाँधता है, वह मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है।

जिसे बहिरात्मा कहा गया है, उसे यह भेद-ज्ञान नहीं होता है कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, पर पदार्थों में मोहित जीव संयोग तथा सम्पर्क में आने वाली सभी चेतन-अचेतन वस्तुओं को मोह से अपनी मानता है। जो मोह को अपना मानता है, उसके उससे एकत्व बुद्धि होती है। जो ऐसा समझता है कि शरीरादि मैं हूँ, उसके शुद्धात्माका ध्यान नहीं होता।

ध्यान शुद्धात्मा का ही होता है। जिस प्रकार विधि पूर्वक मन्त्र का जप करने पर, उससे घोर विष दूर कर दिया जाता है, उसी प्रकार ध्यान-विधि से शुद्धात्माका ध्यान कर आत्मा भी अनेक भवों के संचित कर्म मल को दूर कर देता है। (योगसार प्राभृत, 6,35)

---

1. **अ, द** झाइ; **क, स** झाय; **ब** जाणिय; 2. **अ** मुहु; **क, द** तुहुं; **ब, स** तुहु; 3. **अ, क, द, ब** ते; **स** णिय; 4. **अ** अप्प वि; **क** अप्पउ; **द, ब, स** अप्पु वि; 5. **अ** पावहु; **क, द** पावहि; **ब, स** पावइ।

यही नहीं, चिन्तामणि रत्न सोचे हुए पदार्थ को, कल्पवृक्ष कल्पना में स्थित पदार्थ को देता है; परन्तु शुद्धात्माका ध्यान अचिन्तित और अकल्पित फल को प्रदान करता है। (वही, 7, 36)

धर्म-ध्यान किसे होता है? यह समझाते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

"भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।"—मोक्षपाहुड, गा.76

अर्थात् भरतक्षेत्र में पंचमकाल में साधु, मुनिके सभी प्रकार का धर्मध्यान (चारों पाये) होता है। धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक जिनागम में कहा गया है। "तत्त्वार्थसूत्र" की सभी टीकाओं में इसका स्पष्ट उल्लेख है। अतः गृहस्थों के भी धर्मध्यान हो सकता है; लेकिन विशेष रूप से आत्मस्वभाव में स्थित मुनियों के ही होता है।

छत्तु वि पाइ[1] सुगरुयडा[2] सयलकालसंतावि[3]।
णियदेहडइ[4] वसंतयहं पाहण[5] वाडि[6] वहाइ[7] ॥131॥

शब्दार्थ—छत्तु वि—छत्र भी; पाइ—प्राप्त (कर); सुगरुयडा—बड़ा भारी; सयलकालसंतावि—सभी समय सन्तप्त (रहते हैं); णियदेहडइ—निज देह में; वसंतयहं—वसते हुए; पाहण—पाषाण, पत्थर; वाडि—वाड़े में; वहाइ—लगवाता, बनवाता है।

अर्थ—बड़े-बड़े लोग राज्य का छत्र पा कर भी सदा काल दुखी रहते हैं। अपने देह में वसने पर भी वाड़े में महल चिनवाता है। अज्ञानता के कारण यह लोभ तथा मोह के अनेक कार्य करता है।

भावार्थ—वास्तव में कोई वस्तु इष्ट या अनिष्ट नहीं है। वह मोह ही है, जिसके वश कोई अमुक वस्तु किसी समय इष्ट मान ली जाती है और किसी समय वही वस्तु अनिष्ट हो जाती है। मोह अपने संग से जीव को मलिन करता है। जीव मोहके द्वारा अपनी संगति से ठीक वैसे ही मलिन किया जाता है, जिस प्रकार दोपहरिया लाल फूल के सम्बन्ध से अमल धवल स्फटिक मणि लाल रंग की हो जाती है।

---

1. अ पाव; **क, द** पाइ; **ब, स** पावइ; 2. **अ, क, द** सुगुरुवडा; **ब, स** सुगुरवडा; 3. **अ** सयलकालसंखाइं; **क, स** सयलकाल संतावि; **द** सयलकला संतावि; **ब** सयलकलासंभावि; 4. **अ** णियदेहडइं; **क, द, स** णियदेहडइ; **ब** णियदेहहं; 5. **अ, क, द** पाहण; **ब** पाणह; **स** पाहणु; 6. **अ, ब** धाडि; **क, द, स** वाडि; 7. **अ** वहाइं; **क, द, ब, स** वहाइ।

प्रत्येक मनुष्य राज्य, पद, धन-वैभव आदि से ही सुखी और उनके न होने पर दुखी नहीं होता। किन्तु देखा यह जाता है कि जिनके पास तीन खण्ड का राज्य है, वे एक छत्र राज्य-वैभव होने पर भी दुखी रहते हैं। इस दुःख का कारण मोह या मिथ्यात्व है। 'मोह' को दुःख का बीज कहा गया है। आचार्य अमितगति के शब्दों में—

इत्थं विज्ञाय यो मोहं दुःखबीजं विमुञ्चति।
सोऽन्यद्रव्यपरित्यागी कुरुते कर्म-संवरम् ॥ योगसार अ.5, श्लोक 49

अर्थात्—इस प्रकार मोह को दुःख का बीज जानकर जो उसे छोड़ता है, वह पर द्रव्य का त्यागी हुआ कर्मों का संवर करता है अर्थात् आते हुए कर्मों को रोक देता है।

यथार्थ में मोह ही पर द्रव्यों के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है। मोह के कारण ही यह अपने से सर्वथा भिन्न वस्तु को भी आप रूप मानता है और चित्र, फिल्म आदि में तरह-तरह के दृश्य देखकर उनसे अपना सम्बन्ध जोड़कर सुख-दुःखादि का अनुभव करता है। उनको पाने की अभिलाषा बनाने की इच्छा और उनके स्वामी बनने की आशा में यह चिन्तित, परेशान तथा दुखी रहता है। कल्पना में जिसका यह स्वामी बनता है, उसे अपने संयोग में बनाये रखना चाहता है, लेकिन उसके पास में बने रहना यह इसके अधीन न होकर कर्माधीन है। यदि इसके चाहे माफिक हर समय सब काम होने लगें, तो फिर 'कर्म' का कोई काम नहीं रह जाएगा। इसलिए यह सम्भव नहीं है कि मनुष्य जो सोचता है और जैसा चाहता है, हर काम वैसा ही हो। फिर भी, यह चाहता है और चाहे अनुसार होने पर सुखी होता है तथा उसे अपना किया हुआ कार्य मानता है। लेकिन जब मनके माफिक नहीं होता है, तब दुखी होता है।

मा मुट्टा[1] पसु[2] गरुयडा[3] सयल काल[4] झंखाइ।
णियदेहहं[5] वि वसंतयहं सुण्णा मढ सेवाइ[7] ॥132॥

शब्दार्थ—मा—मत; मुट्टा पसु—मोटे पशु; गरुयडा—भारी; सयल काल—सदा काल; झंखाइ—सन्ताप करती है; णियदेहहं—अपने शरीर में; वि—भी (ही); वसंतयह—रहते हुए; सुण्णा—शून्य; मढ—मठ (की); सेवाइ—सेवा करते हो।

1. **अ** मुच्छा; **क, द** मुट्टा; **ब** मुद्धा; **स** मुच्छाँ; 2. **अ, ब, स** वसु; **क, द** पसु; 3. **अ, क, द** गरुवडा; **ब, स** गुरुवडा; 4. **अ, क, स** काल; 5. **अ, ब** संखाइ; **क, द, स** झंखाइ; 6. **अ** णियदेहहि; **क, द, स** णियदेहहं; **ब** णियदेहह; 7. **अ, स** सेवाइं; **क, द** सेवाइ; **ब** सेवाहिं।

अर्थ—सदा काल मोटे और बड़े पशुओं को सन्ताप पहुँचाने में तथा देहस्थित बुद्धि से सूने मठ में वसने से भी अपना कल्याण नहीं है (अर्थात् कल्याण तो मात्र निज शुद्धात्मा के अनुभव में ही है)।

भावार्थ—आचार्य अमितगति का कथन अत्यन्त स्पष्ट है कि जो अपने चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे चारों गतियों के दुःख सहते हैं। अपने चारित्र से कौन भ्रष्ट है? इसे समझाते हुए वे स्वयं कहते हैं—

> यतः संपद्यते पुण्यं पापं वा परिणामतः।
> वर्तमानो यतस्तत्र भ्रष्टोऽस्ति स्वचरित्रतः ॥—योगसार, 3,32

अर्थात्—क्योंकि शुभ, अशुभ परिणाम से पुण्य-पाप का जन्म होता है, इसलिए उस परिणाम को करने वाला आत्मा अपने चारित्र से भ्रष्ट होता है।

वास्तव में जब तक संकल्प-विकल्प रूप आचरण है, तब तक यह जीव शुभ भाव होने पर भी अपने चारित्र से भ्रष्ट है। क्योंकि आत्मा का वीतराग चारित्र ही वास्तविक है जो निर्विकल्प स्वरूपाचरण की अवस्था में होता है।

जब शुभ भावों से अपना कल्याण नहीं है, तब अशुभ भावों से अपने कल्याण की कल्पना करना मिथ्या ही है। केवल बाहरी भेष धारण करने से अथवा सूने मठ, मन्दिर में रहने मात्र से आत्मा का कल्याण नहीं हो जाता। फिर, बड़े-बड़े प्राणियों का शोषण करके, उन पर जोर-दबाव डालकर उनकी सम्पत्ति हड़पने, लोभ-लालच देकर बोलियाँ बुलवाकर या अन्य प्रकार के मानसिक सन्ताप तथा शारीरिक पीड़ा पहुँचाते हुए बड़े पदों पर रहने भर से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। सच पूछा जाए तो देवेन्द्रों का विषय-सुख भी दुःख ही है। क्योंकि इन्द्रियों के विषयों के सेवन से मिलने वाला सुख तृष्णा को बढ़ाने वाला है, संताप पहुँचाने वाला है और अनित्य किंवा क्षणिक है। आज तक विषय-भोगों के सेवन से किसी ने भी स्थायी तथा शाश्वत सुख प्राप्त नहीं किया है। यही नहीं, इनके सेवन से प्राणी प्रत्येक समय आकुल-व्याकुल रहता है। इस कारण विषय-भोगों की निन्दा की जाती है।

रायवयल्लहिं[1] छहरसहिं पंचहिं रूवहिं चित्तु।
जासु ण रंजिउ भुवणयलि[2] सो जोइय[3] करि मित्तु ॥133॥

शब्दार्थ—रायवयल्लहिं—राग के कल-कल, कोलाहल में; छहरसहिं—छह रसों में; पंचहिं रूवहिं—पाँचों रूपों में; चित्तु—चित्त; जासु—जिस का; ण

---

1. **अ** रागवयल्लह; **क, द** रायवयल्लहिं; **ब** रागवयल्लइ; **स** रायवयल्लहिं; 2. **अ, द, ब, स** भुवणयलि; **क** भुवणयलु; 3. **अ** जोयइ; **क, द, स** जोइय; **ब** जोइ।

रंजिउ–नहीं रंजायमान; भुवणयलि–भुवनतल में; सो–वह; जोइय–हे जोगी!; करि–करो; मित्तु–मित्र।

अर्थ–हे योगी! इस लोक में जिसका चित्त राग के कोलाहल में, छह रसों में तथा पाँच तरह के रूपों में आसक्त न हो, उसे अपना मित्र बना ले।

भावार्थ–यहाँ पर योगी को सम्बोधन करते हुए कहा गया है। जो योगी है वह ज्ञानी अवश्य होता है। क्योंकि भेद-विज्ञान के बिना तो सम्यग्दर्शन भी नहीं होता। अतः साधु की मुख्यता से वर्णन किया जाता है। आचार्य अमितगति का कथन है–

ज्ञानी विषयसंगेऽपि विषयैर्नैव लिप्यते।
कनकं मलमध्येऽपि न मलैरुपलिप्यते ॥ योगसार, 4, 19

अर्थात्–जो ज्ञानी है वह विषयों का संग होने पर भी उनसे लिप्त नहीं होता, ठीक उसी प्रकार जैसे मल के बीच में पड़ा हुआ सोना मल से लिप्त नहीं होता।

पं. जुगलकिशोर मुख्तार के शब्दों में "यहाँ जिस ज्ञानी का उल्लेख है, वह वही है जो नीरागी है। अध्यात्म भाषा में वह ज्ञानी ही नहीं माना जाता है जो राग में आसक्त है। ऐसे ज्ञानी योगी की विषयों का संग उपस्थित होने पर भी उनमें प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार जिस प्रकार कि मल के मध्य में पड़ा होने पर भी शुद्ध सुवर्ण मल को ग्रहण नहीं करता।" यद्यपि घर-गृहस्थी में रहते हुए ज्ञानी को विषयों का सेवन करना पड़ता है, किन्तु राग में ज्ञानी की एकत्व, स्वामित्व और आसक्त बुद्धि नहीं होती है। क्योंकि वह भीतर-बाहर में सदा एक, अकेला अपने आपका अनुभव करता है। आचार्य पूज्यपाद के शब्दों में–

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावाः मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥–इष्टापदेश, श्लोक 27

अर्थात्-ज्ञानी चिन्तन करता है कि मैं एक हूँ, अकेला हूँ, मेरा मात्र मैं हूँ, निर्मम हूँ। मेरे में ममता परिणाम नहीं है। मैं शुद्ध हूँ अर्थात् अपने द्रव्यत्व गुण से परिणमन करने वाला योगीन्द्रों के द्वारा गोचर हूँ। अन्य समस्त संयोगजन्य भाव मेरे से सर्वथा भिन्न हैं।

व्यावहारिक प्रसंगों में भी मैं अकेला हूँ। सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि भावों के साथ मैं अकेला ही हूँ। तरह-तरह के रूपों तथा भिन्न-भिन्न परिणमन होने पर भी आत्मा अपने एकत्व भाव को कभी नहीं छोड़ता। चेतन प्रत्येक अवस्था में चेतन रूप ही रहता है।

तोडिवि सयल[1] वियप्पडा[2] अप्पहं मणु वि धरेहिं।
सोक्खु[3] णिरंतरु तहिं[4] लहहि[5] लहु संसारु तरेहि[6] ॥134॥

शब्दार्थ—तोडिवि—तोड़कर, मिटाकर; सयल—सम्पूर्ण; वियप्पडा—विकल्प; अप्पहं—अपने में, आत्मा में; मणु—मन; वि—भी; धरेहि—धारण करो; सोक्खु—सुख; णिरंतरु—निरन्तर; तहिं—वहाँ; लहहि—प्राप्त करो; लहु—शीघ्र; संसारु—संसार; तरेहि—पार करो, तरो।

अर्थ—समस्त विकल्पों को मिटा कर अपने (स्वभाव में) में मन धारण करो। वहाँ पर तुम को निरन्तर सुख मिलेगा और तुम शीघ्र ही संसार के पार हो जाओगे।

भावार्थ—जैसे अनेक बिच्छू एक साथ डंक मारकर प्राणियों को पीड़ा देते हैं, वैसे विकल्प प्राणी को पीड़ित करते हैं। वास्तव में विकल्प कल्पना मात्र हैं। जहाँ कल्पना है, वहाँ सुख-दुःख है। लेकिन कल्पना का सुख वास्तविक नहीं होता। इसलिए जब तक विकल्प विद्यमान रहते हैं, तब तक सुख नहीं होता। (तत्त्वज्ञानतरंगिणी, अ. 16, श्लोक 10)

जो विकल्प को कल्पना विशेष समझता है, वह उससे दुखी नहीं होता। कारण है कि बाहरी दुःख बुद्धिमान पण्डित के मन में कष्ट उत्पन्न नहीं करता, किन्तु मूर्ख को वह सताता है। पवन के वेग से रुई उड़ जाती है, किन्तु सुमेरु पर्वत का शिखर कभी नहीं उड़ता है। (कुलधराचार्यः सार समुच्चय, 306)

भेद करना भी विकल्प है। भेद सदा दो के बीच होता है। अतः जब तक दो का लक्ष रहता है, तब तक विकल्प है। विकल्प के मूल में राग का योग अवश्य रहता है। यदि शुद्धनय से देखा जाए तो वस्तु अभेद है। अभेद एक द्रव्य को देखा जाए, तो शुद्ध चैतन्य मात्र भाव में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का कुछ भी भेद नहीं दिखता। जो योगी कल्पना के भय से निर्विकल्प ध्यान नहीं हो सकता है, इस भय से श्रुतज्ञान की भावना का आलम्बन नहीं करता है, वह अवश्य अपने आत्मा के विषय में मोहित हो जाता है और अनेक बाह्य चिन्ताओं को धारण करता है। (तत्त्वानुशासन, 145-146)

निश्चय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन परिणाम रूप जो निज भावों का अभयदान है, वही स्वदया है। स्वदया से मोक्ष और परदया से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। (परमात्मप्रकाश, अ.2, दो. 127) आत्मा का स्वभाव वीतराग, निर्विकल्प है। किन्तु स्वभाव इसे भासित नहीं होता। अर्थ का भाव भासित हुए बिना वचन का

---

1. अ सयडु; क, द, ब, स सयल; 2. अ विअप्पडा; क, द, ब, स वियप्पडा; 3. अ सोखु; द, ब, स सोक्खु; क सुक्खु; 4. अ तहि; क, द, स तहिं; ब तह; 5. अ लहहिं; क, द, स लहहि; ब लहवि; 6. अ तरेवि; क, द, ब स तरेहि।

अभिप्राय नहीं पहिचाना जाता। यह तो मान ले कि मैं जिन-वचनानुसार मानता हूँ, परन्तु भाव भासित हुए बिना अन्यथापना हो जाए। लोक में भी नौकर को किसी कार्य के लिए भेजते हैं, वहाँ यदि वह उस कार्य का भाव जानता हो तो कार्य को सुधारेगा, यदि भाव भासित नहीं होगा तो कहीं चूक ही जाएगा। इसलिए भाव भासित होने के अर्थ हेय-उपादेय तत्त्वों की परीक्षा अवश्य करना चाहिए। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, अ. 7, पृ. 263)

अरि जिय जिणवरि[1] मणु ठवहि विसयकसाय चएहि[2]।
सिद्ध[3]महापुरि पइसरहि दुक्खहं[4] पाणिउ देहि[5] ॥135॥

शब्दार्थ—अरि जिय—रे जीव!; जिणवरि—जिनवर में; मणु—मन; ठवहि—स्थापित करो; विसायकसाय चएहि—विषय—कषायों (को) त्यागिये; सिद्धमहापुरी—सिद्धों (की) महान नगरी (में); पइसरहि—प्रवेश करो; दुक्खहं—दुःखों को; पाणिउ—जलांजलि; देहि—दो।

अर्थ—रे जीव! जिनवर में मन लगाकर विषय-कषायों का त्याग कर। अब दुःखों को जलांजलि देकर सिद्धपुरी में प्रवेश कर।

भावार्थ—इस संसार में प्रत्येक जीव मुख्य रूप से संसार का ही कार्य करता है—विषयों का सेवन और रात-दिन कषाय का धन्धा करना। सभी तरह के दुःखों में भी यही है कि मन के माफिक विषय-कषायों के न होने से मन में प्रतिकूलता भासित होना। जहाँ इच्छाओं की अनुकूलता है, वहाँ सांसारिक सुख चाहने वाला जीव प्रतिकूलताओं को हटाने का प्रयत्न करता है और अनुकूल साधन जुटाता है। किन्तु सफलता-असफलता दोनों प्राप्त करता है। तब जीवन सुखी कैसे हो सकता है? इसका सबसे सरल उपाय है—जिनेन्द्र भगवान के चरणों में पूरी तरह से मन लगाना। इसलिए यहाँ पर यह कहा गया है कि जिनवर के चरणों में चित्त लगाने से प्राणी पाँचों इन्द्रियों के विषयों से हट सकता है। यदि आज भी जिनदेव की भक्ति में मन नहीं लगता है, तो फिर ऐसा शुभ अवसर कब मिल सकता है?

वास्तव में दुःख प्राणी के स्वयं बनाए हुए हैं। मिथ्या कल्पना के कारण यह दुखी रहता है। इसलिए यह कथन है कि अब दुःखों को हमेशा के लिए छोड़कर सिद्धपुरी में पहुँचने के लिए मोक्ष-मार्ग में चलना प्रारम्भ कर देना चाहिए। इसके बिना जीवन की वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती है। यदि मनुष्य जीवन का यह स्वर्णिम अवसर चला गया, तो फिर मिलना दुर्लभ ही है।

---

1. **अ, क, द, स** जिणवरि; **ब** जिणवर; 2. **अ** चएहिं; **क, द** चएहि; **ब, स** चएवि; 3. **अ, क, द, ब** सिद्धि; **स** सिद्ध; 4. अ,क, **द** दुक्खहं; **ब, स** दुक्खह; 5. **अ, क, द** देहि; **ब, स** पाणिउ।

मुंडियमुंडिय मुंडिया, सिरु[1] मुंडिउ चित्तु ण[2] मुंडिया।
चित्तहं[3] मुंडणु जे[4] कियउ, संसारहं खंडणु ते[5] कियउ ॥136॥

शब्दार्थ—मुंडिय—मूँड़; मुंडिय—मुँड़ाये गये (संन्यासियों में श्रेष्ठ); मुंडिया—मुंडी!; सिरु मुंडिउ—सिर मुँड़ा लिया; चित्तु ण—चित्त नहीं; मुंडिया—मुँड़ाया; चित्तहं—चित्त का; मुंडणु—मुण्डन; जे कियउ—जिसने किया; संसारहं—संसार का; खंडणु—खण्डन; ते कियउ—उसने किया।

अर्थ—हे मूँड़ मुड़ाने वालों में श्रेष्ठ मुंडी! तुमने सिर मुँड़ा लिया है, लेकिन चित्त नहीं मुँड़ाया है। जिसने मन का मुण्डन कर लिया, वास्तव में उसने संसार का खण्डन कर दिया।

भावार्थ—कवि के विचार स्पष्ट हैं कि सिर मुँड़ाने की अपेक्षा चित्त को मुड़ाना श्रेष्ठ है। चित्त से मन के विकारों के दूर होने पर ही आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। वास्तव में आत्मज्ञान की उपलब्धि के लिए किसी बाह्याचार की आवश्यकता नहीं है। मन्दिर में पूजा-पाठ करने से तथा तीर्थ-यात्रा आदि से आत्मानुभूति नहीं हो सकती। मन को निर्विकार करना ही आत्म-प्राप्ति का साधन है।

'सिर मुँड़ाना' एक मुहावरा है। उसका अर्थ केवल सिर के बाल उतरवाना ही नहीं है, वरन् सभी चिन्ताओं, परेशानियों से छुटकारा भी है। लेकिन यह तभी सम्भव है, जब हमारे मन को कोई श्रद्धास्पद आश्रय या आधार प्राप्त हो गया हो। यथार्थ में अपने शुद्धात्म स्वभाव का आश्रय लिए बिना कोई चिन्ताओं से नहीं छूट सकता। जो चिन्ताओं के जाल में फँसा हुआ है, रात-दिन विकल्पों में उलझा रहता है, उसके सिर मुँड़ा लेने से भी क्या लाभ हुआ? क्योंकि उसकी चिन्ताएँ तो नहीं मिटीं।

जहाँ चिन्ता है, वहाँ आत्मचिन्तन नहीं हो सकता। आत्म चिन्तन, ज्ञान-ध्यान के सिवाय साधु-सन्त अन्य कार्य करते हैं, तो वे लौकिक कहे जाते हैं। 'सिर मुँड़ाना' एक प्रतीक भी है। संसार अर्थात् लौकिकता को छोड़ कर परमार्थ में रहना योग्य है। वास्तव में परमार्थ का साधन ही आत्मकल्याण के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व आवश्यक है। इसके बिना कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है।

---

1. अ, क, द, स सिरु; ब सिर; 2. अ, क, द, स ण; ब ज; 3. अ चित्तु ण; क, द चित्तहं; 4. अ, ब, स जे; क, द जिं; 5. अ, ब, स ते; क तिं; द तें।

अप्पु कहिज्जइ[1] काइं तासु जो अच्छइ सव्वंगओ[2] संते[3]।
पुण्ण[4]-विसज्जणु काइं[5] तासु जो हलि इच्छइ परमत्थें[6] ॥137॥

शब्दार्थ—अप्पु—आप (का); कहिज्जइ—कहा जाता है; काइं—क्या; तासु—उसका; जो; अच्छइ—है; सव्वंगओ संते—सर्वांग में होने पर; पुण्णु विसज्जणु—पुण्य (के) विसर्जन (से); काइं—क्या; तासु—उसके; जो; हलि—अरे!; इच्छइ—इच्छा करता है; परमत्थें—परमार्थ (के होने की)।

अर्थ—जो सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान है, उस आप का क्या कहना है? हे सखि! जो परमार्थ चाहता है, उसके पुण्य-विसर्जन से क्या? लाभ तो आत्मा को प्राप्त करने से है।

भावार्थ—सभी प्राणी करने-करने की बात करते हैं। लेकिन असंख्यात आत्मप्रदेशों में स्थित आत्मा जानने-देखने के सिवाय क्या कर सकता है? प्रत्येक समय में आत्मा जानता देखता है। आत्मा स्वयं परमार्थ है। ज्ञान साधन से शुद्धात्मा की प्राप्ति ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। परमार्थी व्यक्ति के लिए पुण्य-पाप बराबर हैं। अतः पुण्य के विसर्जन से भी आत्मिक लाभ नहीं है। वास्तव में पुण्य तो भूमिका के अनुसार सहज छूट जाता है। पुण्य छोड़ना महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु पुण्य की वांछा छूटना महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य जयसेन का कथन अत्यन्त स्पष्ट है कि "दान, पूजा, व्रत, शीलादि रूप, चित्त प्रसाद रूप परिणाम वह भाव पुण्य होने से और शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभाव शुद्धात्मा से भिन्न होने से 'हेय' स्वरूप है।" (पंचास्तिकाय गा. 131-132 की टीका) यथार्थ में यह श्रद्धा की अपेक्षा कथन है। पण्डितप्रवर टोडरमल जी के शब्दों में "इस शुभोपयोग को बन्ध का ही कारण जानना, मोक्ष का कारण नहीं जानना; क्योंकि बन्ध और मोक्ष के तो प्रतिपक्षपना है। इसलिए एक ही भाव पुण्य-बन्ध का भी कारण हो और मोक्ष का भी कारण हो, ऐसा मानना भ्रम है। इसलिए व्रत-अव्रत दोनों विकल्परहित जहाँ परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कुछ प्रयोजन नहीं है—ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग वही मोक्षमार्ग है।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृ. 255) पं. बनारसीदास के शब्दों में—

> दया-दान पूजादिक विषय-कषायादिक,
> दोऊ कर्मबन्ध पै दुहूं कौ एक खेतु है।

---

1. अ, क, ब, स कहिज्जइ; द करिज्जइ; अ, स सव्वंग; द सव्वंगओ; क सव्वंगउ; ब सव्वंगु; 3. अ वसंति; क संठिउ; द संतें; स संते; 4. अ पुणु; क, द स पुण्ण; ब पुण्णु; 5. अ काइ; क, द, ब, स काइं; 6. अ परमत्थे, क, द परमत्थें, ब परमत्थु; स परमत्थं।

ग्यानी मूढ़ करम करत दीसैं एकसे पै,
परिनामभेद न्यारो न्यारो फल देतु है ॥

—समयसार, कर्त्ता-कर्म., 23

गमणागमणविवज्जियउ जो तइलोयपहाणु।
गंगा गरुवइ[1] देउ[2] किय[3] सो सण्णाणु अयाणु[4] ॥138॥

शब्दार्थ—गमणागमणविवज्जियउ—गमनागमन (से) रहित (विवर्जित); जो; तइलोयपहाणु—तीन लोक (में) प्रधान (वीतराग है); गंगा गरुवइ—गौरव (युक्त, महान्) गंगा (नदी को); देउ—देव; किय—किया, माना; सो—वह; सण्णाणु—ज्ञान वालों (का); अयाणु—अज्ञान (है)।

अर्थ—जो गमनागमन से रहित (वीतरागी) तथा तीनों लोकों में प्रधान हैं, वह देव हैं—यह सत्ज्ञान की बात है। लोक में लोग गंगा नदी में भी देव (की कल्पना करते हैं) मानते हैं, किन्तु वह तो अज्ञान है।

भावार्थ—वास्तव में बड़-पीपल आदि वृक्षों को, नदी को, जल, पवन, अग्नि को तथा अन्न को देव मानना देवमूढ़ता कही गई है। जो अपने से भी हीन हैं, जिनमें संयम नहीं पाया जाता है और जो विषय-कषाय, रागादि में आसक्त हैं या एक इन्द्रिय वाले हैं, वे पूज्य कैसे हो सकते हैं? वृक्ष, नदी, पवन, जल, अग्नि आदि जो प्रत्यक्ष एकेन्द्रिय हैं, उनकी पूजा कैसे हो सकती है? लेकिन मूढ़ता की बलिहारी है! अज्ञान से क्या नहीं होता है? वास्तविक सुख को छोड़कर शेष सभी होता है।

पं. सदासुखजी ने "रत्नकरण्डश्रावकाचार" की टीका में लोकमूढ़ता के अन्तर्गत पीपल पूजने का निषेध किया है। उनके ही शब्दों में "तथा ग्रहण में सूतक मानना, स्नान करना, चाण्डालादिक कूँ दान देना, संक्रान्ति मानि दान देना, कुआ पूजना, पीपल पूजना, गाय कूँ पूजना, रुपया-मोहर कूँ पूजना, लक्ष्मी कूँ पूजना, मृतक पितर कूँ पूजना, छींक पूजना, मृतकनि के तृप्ति करने कूँ तर्पण करना, श्राद्ध करना, कुआ-बावड़ी, वापिका, तालाब, खुदावने में धर्म मानना, बाग लगावने में धर्म मानना, मृत्युंजय आदि के जप करावने तै अपनी मृत्यु का टल जाना मानना, ग्रहां का दान देने तैं अपने दुःख दूर होना मानना सो समस्त लोकमूढ़ता है।" (रत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रथम अधिकार, पृ. 45)

---

1. **अ, द** गरुवइ; **क** गुरुवइ; **ब, स** गरुअइ; 2. **अ, क, द, स** देउ; **ब** देव; 3. **अ** चिउ; **क, द, ब,** किउ; **स** किय; 4. **अ, ब** सयाणु; **क, द, स** अयाणु।

पुण्णेण होइ विहवो[1] विहवेण मओ मएण मइ[2]मोहो।
मइ[3]-मोहेण य णरयं ते पुण्णं अम्ह मा होउ ॥139॥

शब्दार्थ—पुण्णेण—पुण्य से; होइ—होता है; विहवो—वैभव; विहवेण—वैभव से; मओ—मद, अभिमान—मएण—मद से; मइमोहो—मतिभ्रम; मइमोहेण—मति-भ्रम से; य—और; णरयं—नरक (गति होती है); तं—वह; पुण्णं—पुण्य; अम्ह—हमें; मा होउ—मत होवे।

अर्थ—पुण्य से वैभव की प्राप्ति होती है और वैभव से अभिमान तथा मान से बुद्धि-भ्रम होता है। बुद्धि के विभ्रम से पाप और पाप से नरक गति मिलती है। इसलिए ऐसा पुण्य हमारे लिए न होवे।

भावार्थ—यह दोहा 'परमात्मप्रकाश' (2, 60) में भी है। सामान्य रूप से पुण्य बुरा नहीं, भला है। क्योंकि जो भौतिक सुख प्राप्ति के प्रयोजन से निरन्तर पुण्य के फल की चाह करता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह पुण्य से भी पाप कमाता है। लेकिन सम्यग्दृष्टि का पुण्य परम्परा से मोक्ष का वास्तविक कारण है। ब्रह्मदेवसूरिका कथन है कि जो सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत, सगर, राम, पाण्डवादि हैं, उन को पुण्य का बन्ध अभिमान उत्पन्न नहीं करता, इसलिए वह परम्परा से मोक्ष का कारण है। आचार्य गुणभद्र भी यही कहते हैं कि पूर्व समय में ऐसे सत्पुरुष हो गये हैं जिनके वचन में सत्य, बुद्धि में शास्त्र, मन में दया, पराक्रम रूप भुजाओं में शूरवीरता, याचकों को बराबर लक्ष्मी का दान, मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करनेवाले हुए, उनके किसी गुण का उन्हें अहंकार नहीं हुआ, किन्तु इस पंचमकाल में जिनके लेश मात्र भी गुण नहीं है, वे भी उद्धत हो रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि जो अविवेकी, अज्ञानी हैं, उनका पुण्य कमाना भी पाप का ही कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

मिच्छतं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥28॥

अर्थात्—मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य-पाप को मन, वचन, काय द्वारा त्याग कर मौन व्रत के साथ योगी ध्यान में लीन होकर अपनी शुद्धात्मा का अनुभव करे।

---

1. **अ, क, द** विहओ; **ब, स** विहवो; 2. **अ, द** मइ; **ब, स** मई; **क** मय; 3. **अ, द** मइ; **ब, स** मई; **क** मय।

कासु समाहि करउं[1] को अंचउं
छोपु-अछोपु भणिवि[2] को वंचउं[3]
हलि सहि कलहु केण सम्माणउं।
जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउं ॥140॥

शब्दार्थ—कासु—किसकी; समाहि—समाधि; करउं—करूँ; को अंचउं—किसे पूजूँ?; छोपु-अछोपु—स्पृश्य-अस्पृश्य (छूत-अछूत); भणिवि—कहकर; को वंचउं—किसे ठगूँ?; हलि सहि—हे सखि!; कलहु—झगड़ा; केण—किससे (करूँ); सम्माणउं—सम्मान करूँ (किसका); जहिं जहिं—जहाँ-जहाँ; जोवउं—देखती हूँ, तहिं—वहीं; अप्पाणउं—आत्मा (भगवान् आत्मा दृष्टिगत होता है)।

अर्थ—किसकी समाधि करूँ? किसे पूजूँ? स्पृश्य-अस्पृश्य कहकर किसे छोड़ दूँ? हे सखि! किसके साथ झगड़ा मचाऊँ? किसका सम्मान करूँ? क्योंकि जहाँ-जहाँ देखती हूँ, वहाँ अपनी ही शुद्ध आत्मा दिखाई देती है। 'शुद्धात्मा या 'परमात्मा' कहो, एक ही है।

भावार्थ—उक्त पद में सर्वत्र एक ब्रह्म लक्षित होने से रहस्यवादी भावना है। 'कबीर ग्रन्थावली' में इस आशय का पद मिलता है। सन्त कबीर के शब्दों में—

व्यापक ब्रह्म सबनि में एकै, को पंडित को जोगी।
राणा राव कवन सूँ कहिये, कवन वेद को रोगी।
इनमें आप आप सबहिन में, आप आप सूँ खेले।

अर्थात—कौन पण्डित है, कौन योगी? किसको राजा-राव कहा जाए? किसे वैद्य और किसे रोगी कहा जाए? क्योंकि इन सब में व्यापक रूप से एक ब्रह्म व्याप्त है। इन सभी में ब्रह्म है और ब्रह्म स्वयं में क्रीड़ा कर रहा है।

मुनिश्री योगीन्द्रदेव के शब्दों में—

बुज्झंतहं परमत्थु जिय गुरु लहु अत्थि ण कोइ।
जीवा सयल वि बंभु परु जेण वियाणइ सोइ ॥—परमात्मप्रकाश 2, 94

अर्थात्—हे जीव! परमार्थ के समझने वालों के लिए कोई जीव छोटा या बड़ा

---

1. **अ, क, द** करउं; **ब** करहु; **स** करउ; 2. **अ, क, द** भणिवि; **ब, स** भणवि; 3. **अ, क, द** वंचउं; **ब** अंचउ; **स** वंचउ; 4. **अ, क, द, ब** हल; **स** हलि; 5. **अ, ब, स** कलहु; **क, द** कलह; 6. **अ** समाणउ; **क, द** सम्माणउं; **ब, स** सम्माणउ; 7. **अ** जोवउं तहि; **क, द** जोवउं तहिं; **ब** जोवउ तहि।

नहीं होता। क्योंकि यथार्थ में सभी जीव परमब्रह्म रूप हैं, जिस रूप वह सबको जानता है।

तथा–

सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्दु वि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्धु ॥–योगसार, 105

अर्थात्–वही शिव है, वही शंकर है, वही विष्णु है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्म है, वही अनन्त है और सिद्ध भी उसे ही कहना चाहिए।

जइ[1] मणि कोहु करिवि[2] कलहिज्जइ[3]।
तो[4]अहिसेउ णिरंजणु[5] किज्जइ।
जहिं-जहिं जोवइ[6] तहिं[7] णहि कोविउ,
हउं णवि कासु वि मज्झु ण[8] कोविउ ॥141॥

शब्दार्थ–जइ–यदि; मणि–मन में; कोहु–क्रोध; करिवि–करके; कलहिज्जइ–कलह किया जाता है; तो; अहिसेउ–अभिषेक; णिरंजणु–निरंजन (का); किज्जइ–किया जाता है; जहिं जहिं–जहाँ जहाँ; जोवइ–देखता (हूँ); तहिं-वहाँ पर; णहि–नहीं; कोविउ–कोई भी; हउं–मैं; णवि–नहीं; कासु वि–किसी का भी; मज्झु–मुझ (में); ण कोविउ–कोई भी नहीं (है)।

अर्थ–यदि मन क्रोध करके कलह करना चाहता है (तो रोककर), तो परम निरंजन का अभिषेक करना चाहिए। मैं जहाँ-जहाँ देखता हूँ, वहाँ कोई भी अपना नहीं है। वास्तव में मैं किसी का नहीं हूँ और कोई भी मेरा नहीं है।

भावार्थ–संसार में यदि कहीं द्वन्द्व है तो वह अपने भावों में हैं। इसलिए भावों के द्वन्द्वों को समाप्त करने के लिए समता का होना आवश्यक है। क्रोध अग्नि के समान है और समता जल के समान है। समता से क्रोधाग्नि का शमन हो सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं–"जब तक जीव आत्मा और आस्रव, इन दोनों के अन्तर और भेद को नहीं जानता है, तब तक वह अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादिक आस्रवों में प्रवर्तता है।" समयसार, गा. 69-70

---

1. **अ, क, ब, स** जइ; **द** जं; 2. **अ** वरिवि; **क, द, ब, स** करिवि; 3. **अ, ब, स** कलहिज्जइ; **क, द** कलहीजइ; 4. **अ** तें; **क, द, ब, स** तो; 5. **अ** णिरंजणि; **क, ब, स** णिरंजण; **द** णिरंजणु; 6. **अ** जोवं; **क, द** जोयउ; **ब, स** जोवउ; 7. **अ, ब, स** तहि; **क, द** तहिं; 8. **अ, स** ण; **क, द, ब** वि।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों से कर्म बनते हैं और बँधते हैं। इसलिए क्रोध से सभी प्रकार की हानि है—स्वास्थ्य, परिणाम (भाव) और मोक्षमार्ग इत्यादि की। क्रोध का परिणाम यह देखा जाता है कि तुरन्त ही प्राणी विवेक खो देता है और वह अन्धे के समान उस समय हो जाता है; जब कुछ सूझता नही है। अपने या दूसरे का उपघात या बुरा करने का क्रूर परिणाम क्रोध है। क्रोध में हानि पहुँचाने का कठोर भाव छिपा रहता है। क्रोध करने वाला व्यक्ति अपने स्वास्थ्य (शरीर, मन, आत्मा) की हानि नियम से करता है; चाहे दूसरे की हानि हो या न हो। यह एक अनिष्टमूलक भाव है जिसमें परिणामों में क्रूरता देखी जाती है। इसलिए क्रोध द्वेषमूलक भाव कहा जाता है जो मनोविज्ञान की दृष्टि से दुःख के वर्ग में आता है। जो क्रोध करता है और जिस पर क्रोध करता है, उसे दुःख पहुँचे या न पहुँचे, लेकिन क्रोध करने वाला उसे दुखी करना चाहता है, लेकिन स्वयं अवश्य दुःखी होता है।

णमिओसि ताम जिणवर[1] जाम ण मुणिओसि[2] देहमज्झम्मि।
ता केण[3] णवज्जए[4] कस्स जइ मुणियउ देहमज्झम्मि[5]॥142॥

शब्दार्थ—णमिओसि—नमस्कार हो; ताम—तब तक; जिणवर—हे जिनवर!; जाम—जब तक; ण मुणिओसि—पहचान लिया हो; देहमज्झम्मि—देह में (स्थित); ता—तब; केण—किससे, किसके द्वारा; णवज्जए—नमस्कार, नमन किया जाए; कस्स—किस (को) जइ—यदि; मुणियउ—पहचान लिया; देहमज्झम्मि—शरीर के भीतर में।

अर्थ—हे जिनवर! जब तक देहस्थित आपको नहीं जान लिया गया है, तब तक सदा नमस्कार हो। यदि इस शरीर में स्थित आपको पहचान लिया है, तो फिर किसके द्वारा किसका नमन किया जाए?

भावार्थ—भगवान् को इसलिए नमस्कार किया जाता है कि उनके गुणों की पहचान हो। भगवान् बाहर में कहीं नहीं अपने घर में ही विराजमान हैं। अतः एक बार उनकी पहचान होते ही फिर अन्य किसी को नमस्कार करने की आवश्यकता नहीं रहती। 'योगसार' में कहा गया है—

---

1. **अ** जिणवरा; **क, द, ब, स** जिणवर; 2. **अ, द, ब, स** मुणिओसि; **क** मुणसि; 3. **अ** कोइ; **क, द, स** केण; **ब** को; 4. **अ** ण विज्जए; **क, द** णवज्जए; **ब** णवइ णमिज्ज; **स** णमिज्जए; 5. **अ** प्रति में यह पंक्ति इस प्रकार है—जइ मुणिउ देह मज्झम्मि ता कोइ ण विज्जए कस्स। **ब** प्रति में है—जइ मुणिउ देहमज्झे ता को णवइ णमिज्जए कस्स।

तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि-वुत्तु।
देहा–देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ॥42॥

अर्थात्–श्रुतकेवली ने यह कहा है कि तीर्थों में, देवालयों में देव नहीं है, जिनदेव तो देह रूपी देवालय में विराजमान हैं–यह निश्चित समझो। यही नहीं, हे मूढ़! देव किसी देवालय में विराजमान नहीं है। इसी प्रकार किसी पत्थर, लेप अथवा चित्र में भी देव विराजमान नहीं है। जिनदेव तो देह रूपी मन्दिर में रहते हैं, इस बात को तू शान्त चित्त से समझ। (वही, दोहा 44)

मुनि योगीन्दुदेव कहते हैं कि प्रत्येक तीर्थ की यात्रा करने से भी मोहित (मूढ़) प्राणी को मुक्ति नहीं होती है। क्योंकि जो आत्मज्ञान से रहित हैं, वे मुनीश्वर नहीं हैं; संसारी हैं। मुनिवर तो वे हैं जो सभी विकल्प-जाल से रहित होकर अपने स्वरूप में रमते हैं और वे ही मोक्ष पाते हैं। जिससे संसार पार (तरा) किया जाये वह तीर्थ है। वास्तव में तीर्थ तो अर्हन्त, वीतराग, सर्वज्ञ हैं। उनके उपदेश के समान अन्य कोई तीर्थ नहीं है। निश्चय से निज शुद्धात्मतत्त्व के ध्यान के समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है। व्यवहार में तीर्थंकर परमदेवादि के गुणस्मरण के कारण मुख्यता से जो शुभ बन्ध के कारण हैं, ऐसे कैलास, सम्मेदशिखर आदि निर्वाणस्थान हैं। वे व्यवहार से तीर्थ कहे जाते हैं। लेकिन जो तीर्थ स्थानों की यात्रा करे और निज तीर्थ का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण न करे, वह अज्ञानी है।

ता[1] संकप्पवियप्पा[2] कम्मं अकुणंतु[3] सुहासुहजणयं[4]।
अप्पसरूवासिद्धी[5] जाम ण[6] हियए परिफुरइ ॥143॥

शब्दार्थ–ता–तब (तक); संकप्पवियप्पा–संकल्प-विकल्प; कम्मं–कर्म को; अकुणंतु–नहीं करते हुए; सुहासुहजणयं–शुभ-अशुभ भावों (को) उत्पन्न करने वाले (जनक); अप्प सरूवसिद्धी–आत्मस्वरूप (की) सिद्धि; जाम ण–जब (तक) नहीं; हियए–हृदय में; परिफुरइ–स्फुरायमान होती है।

अर्थ–बाहर में कार्य नहीं करते हुए भी शुभ तथा अशुभ भावों को उत्पन्न करने वाले संकल्प-विकल्प तब तक उठते रहते हैं, जब तक अन्तरंग में आत्मस्वरूप की सिद्धि स्फुरायमान नहीं होती।

भावार्थ–'भाव' शब्द के कई अर्थ हैं। होना मात्र भाव है। द्रव्य के परिणाम

1. **अ, क, ब, स** ता; द प्रति में यह दोहा नहीं है; 2. **अ, ब** संकप्पवियप्पं; **क, स** संकप्पवियप्पा; 3. **अ, ब, स,** च कुणंति; **क** अकुणंतु; 4. **अ** असुहसुहजणयं; **क** सुहसुहजणयं; **स** सुहासुहजणयं; **ब** असुहसुहजणअं; 5. **अ** अप्पसरुवामज्झे; **क, स** अप्पसरूवासिद्धी; **ब** अप्पसरूव; 6. **अ, क** जाम ण; **ब, स** जाम ण हिअए।

को 'भाव' कहते हैं। गुण और पर्याय दोनों भाव रूप हैं। चेतन के परिणाम को भी 'भाव' कहते हैं। चित्त का विकार भी भाव है। जिनागम में सामान्यतः 'विभाव' को 'भाव' कहा गया है। इसलिए राग, द्वेष, मोह सभी भाव हैं, लेकिन ये जीव के असली भाव नहीं हैं। जीव का वास्तविक भाव तो चैतन्य स्वभाव है। अतः शुद्ध चैतन्य शुद्ध भाव है। भाव द्रव्य में होता है। बिना भाव के द्रव्य और द्रव्य के बिना कोई भाव नहीं होता। क्योंकि गुणी के बिना कोई गुण नहीं होता या वह रहता नहीं है।

जीवों में पाँच भाव पाये जाते हैं। वे पाँच भाव हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक। यदि औदयिक भाव न माना जाए, तो कर्मबन्ध कैसे होता है, यह सिद्ध नहीं हो सकता और औपशमिक भाव न माना जाए, तो पुरुषार्थ और धर्म प्रकट करने की विधि नहीं बताई जा सकती है। जिनागम में कहा गया है—

ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ करणोहयवज्जियो होदि ॥धवला पु. 7, गा. 3

अर्थात्—औदयिक भाव बन्ध करने वाले हैं, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के कारण हैं तथा पारिणामिक भाव बन्ध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित है।

गहिलउ गहिलउ जणु भणइ गहिलउ मं[1] करि खोहु।
सिद्धमहापुरि पइसरहु[2] उप्पाडेविणु मोहु ॥144॥

शब्दार्थ—गहिलउ—हठीला; गहिलउ—हठीला; जणु—जन; भणइ—कहता है; गहिलउ—हठी; मं—मत; करि—करो; खोहु—क्षोभ; सिद्ध महापुरि—सिद्ध महापुरी में; पइसरहु—प्रवेश करो; उप्पाडेविणु—उखाड़कर; मोहु—मोह (को)।

अर्थ—हे हठी! लोगों के "हठीला, हठीला" कहने से तुम क्षोभ को मत प्राप्त होओ। तुम्हें तो मोह को उखाड़कर सिद्धपुरी में प्रवेश करना चाहिए।

भावार्थ—जहाँ आग्रह है वहाँ हठ है और जो हठ है वह पक्षपातपूर्ण है। मनुष्य के विचार आज पक्षपात से रहित वस्तुवादी स्वतन्त्र नहीं हैं। जहाँ वैचारिक स्वतन्त्रता नहीं है, वहाँ व्यक्ति किसी आग्रह या हठ से मिथ्या मान्यता का पोषण करता है। इसमें विवाद हो सकता है कि क्या मिथ्या है, क्या सम्यक् है? किन्तु इसमें विवाद को अवकाश नहीं है कि जो वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसे वास्तव में वैसा मानना चाहिए। यही वस्तुवाद है।

---

1. **अ, क, द, स** मं; **ब** म; 2. **अ, क** पइसरहो; **द** पइसरइ; **ब, स** पइसरहु।

जहाँ पर वस्तु का स्वरूप ज्ञान में, पहचान में और अनुभव में आ जाता है, वह जैसी की तैसी भासित होने लगती है, वहाँ पर सन्देह विपरीत, भेद तथा मोहबुद्धि से अन्धश्रद्धापूर्वक मान्यता स्थापित नहीं होती है। हमें किसी वस्तु, मत, विचारधारा या काम के बारे में हित-अहित का निर्णय कर लेना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब मोह या स्वार्थ से किसी को सर्वथा वैसा नहीं समझें। क्योंकि अलग-अलग परिस्थितियों में एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे सामने आती है।

जिसके द्वारा यह जीव मोहित होता है उसे 'मोह' कहते हैं। 'मोह' एक प्रकार का बुद्धि का नशा है। इसलिए मोह के होने पर यह अपने आपको भूल जाता है, हित-अहित का विवेक नहीं होता। मोह में अपनी सुधि-बुधि खो देता है। इसलिए जो व्यक्ति धर्म को अपने जीवन में उतारना चाहता है, उसे सबसे पहले मोह को जड़ से उखाड़ देना चाहिए। कहा भी है–

मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।–छहढाला

सब कर्मों में मोहनीय की प्रधानता है। सम्पूर्ण संसार मोह के अधीन है। इसलिए इसे जीतने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

अणहउ[1] अक्खरु जं उप्पज्जइ[2]।
अणु वि किं पि अण्णाण[3] ण किज्जइ ॥
आयइं[4] चित्तिं[5] लिहि मणु[6] धारिवि।
सोउ[7] णिचिंतिउ[8] पाउ[9] पसारिवि[10] ॥145॥

शब्दार्थ–अणहउ–अनहद; अक्खरु–अक्षर; जं–जो; उप्पज्जइ–उत्पन्न होता है; अणु वि–अणु (मात्र) भी; किंपि–कोई भी; अण्णाण–अज्ञान; ण किज्जइ–नहीं किया जाता है; आयइं–इतना; चित्ति–चित्त में; लिहि–लिखकर; मणु–मन (में) धारिवि–धारणकर; सोउ–सोवे; णिचिंतिउ–निश्चिन्त; पाउ–पैर; पसारिवि–फैलाकर।

अर्थ–बिना नाद के जो अक्षर उत्पन्न होता है अर्थात् कोलाहल हुए बिना जो अक्षय स्वरूप प्रकट होता है, वह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है। अतः कोई अज्ञान भाव नहीं करना चाहिए।

1. **अ, क, द** अवधउ; **ब** अविधउ; **स** अणहउ; 2. **अ** उपज़इए; **क, द, ब, स** उप्पज्जइ; 3 **अ** अणाउ; **क, द, ब** अण्णाउ; **स** अण्णाण; 4. **अ** आयाइ; **क, द** आयइं; **ब** आविलि; **स** आयइ; 5. **अ** चित्ति, **क, द, स** चित्तिं; **ब** चित्ते; 6. **अ, क** मणि; **ब, स** मण; **द** मणु; 7. **अ, क, द** सोउ; **ब, स** सो; 8. **अ, क, द, स** णिचिंतिउ; **ब** णिच्चंतु; 9. **अ, द** पाउ; **क, स** पायं; **ब** पाए; 10. **अ** पसारवि; **क, द, ब, स** पसारिवि।

अर्थ—बिना नाद के जो अक्षर उत्पन्न होता है अर्थात् कोलाहल हुए बिना जो अक्षय स्वरूप प्रकट होता है, वह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है। अतः कोई अज्ञान भाव नहीं करना चाहिए। इतना ही चित्त में लिखकर मन में धारण कर और निश्चिन्त होकर पाँव पसार कर अपने में विश्राम करना योग्य है।

भावार्थ—यह लोक चारों ओर से भीतर-बाहर तरह-तरह के कोलाहलों से व्याप्त है। बाहर का कोलाहल तो सुनने में आता है, लेकिन प्रति समय प्राणी मात्र के भीतर कोलाहल हो रहा है, यह सुनने में नहीं आता। वास्तव में भीतर का कोलाहल बाहर से भी अधिक है। लेकिन मनुष्य उस पर ध्यान नहीं देता। विश्व में सबसे अधिक कोलाहल नाटक, सिनेमा आदि में होता है, जहाँ पर नाच-गाना होता है। सभी नाटकों में मनुष्य जीवन की नकल होती है। लेकिन संसार में प्रतिक्षण नाटक चल रहा है, उसे न तो कोई सुनता है और न समझता है। यह नाटक अज्ञानता का है। यदि बौद्धिक प्राणी में अविवेक न हो तो अज्ञानता का नाटक नहीं खेला जा सकता है। इस नाटक में मुख्य रूप से दो तरह के खेल दिखाये जाते हैं—पाप और पुण्य। इसमें मोह नाचता है और अनेक तरह के हाव-भावों का प्रदर्शन करता है। वास्तव में रूप, रस, गन्ध युक्त वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है। अभेद ज्ञान में पुद्गल ही अनेक प्रकार का दिखाई देता है, जीव तो एक ही प्रकार का है। (समयसारकलश, 44)

संसार की रचना का कारण विकल्प-जाल है। कहा भी है—

"विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकरः" अर्थात् जीव का विकल्प ही संसार का कारण है। (नियमसारकलश, 267)

विकल्प तरह-तरह के होते हैं, इसलिए कर्म भी अनेक प्रकार का होता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने 'कोलाहल' के लिए 'जप्प' का शब्द का प्रयोग किया है जो 'जल्प' का पर्यायवाची है। इसमें सभी प्रकार के प्रशस्त, अप्रशस्त विकल्प-जाल का समावेश हो जाता है। अतः 'कोलाहल' से यहाँ अभिप्राय संकल्प-विकल्पों से है। (नियमसार, गा. 150 तथा संस्कृत टीका)

यथार्थ में यह समाधि की दशा की ओर संकेत है। जैन योगी भीतर-बाहर का नाद या अनहद (बिना बजाये) नाद नहीं सुनते। निज शुद्धात्मा के आश्रय से उत्पन्न आत्म-ज्ञान से हठयोग की क्रियाओं से विरत होकर आत्म-स्वभाव में विश्रान्ति करते हैं; जहाँ शुभ-अशुभ भावों की तरंग नहीं उठती है, वहाँ निर्विकल्प समाधि की दशा होती है। चैतन्य मूर्ति भगवान् आत्मा में जहाँ एकाग्र होकर जीव स्थिरता को प्राप्त होता है, वहीं समस्त विकल्प विलीन हो जाते हैं। चैतन्य ज्योति के जाग्रत होने पर जहाँ श्रद्धा और ज्ञान में यह अविचल अनुभूति प्रकट होती है कि मैं तो चित्स्वरूप परमात्मा हूँ, उसी समय सभी विकल्प दूर भाग जाते हैं। वस्तुतः ज्ञान का ज्ञान रूप

अनुभव होना ही आत्मानुभव है। भगवान् आत्मा के अनुभवगोचर होने पर नयों के विकल्प भी इन्द्रजाल के समान क्षण भर में अदृश्य को प्राप्त हो जाते हैं। अतः आत्मानुभूति का काल निर्विकल्प ही होता है। आचार्य अमृतचन्द्र अपने अनुभव से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं–

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै–
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा–
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥–समयसारकलश, 244

अर्थात् हे भव्य! तुझे अन्य व्यर्थ का कोलाहल करने से क्या लाभ है? बहुत कथन करने और बहुत दुर्विकल्पों को अब रहने दो। इस एक मात्र परमार्थ (शुद्धात्मा) का ही निरन्तर अनुभव करो। क्योंकि निजरस के प्रसार से भरपूर पूर्ण ज्ञान के स्फुरायमान होने से वास्तव में परमात्मा (समयसार) से बढ़कर कोई सर्वोत्कृष्ट नहीं है।

संक्षेप में सार यही है कि विकल्प-जाल ही आत्मा के दुःख का मूल कारण है, इसलिए उससे निवृत्त होना आवश्यक है। आचार्य पूज्यपाद के शब्दों में–

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥ समाधितन्त्र, 85

अर्थात् अन्तरंग में विविध प्रकार का कल्पनाओं का जाल ही आत्मा के दुःख का मूल कारण है। अतः उसके नष्ट होने पर ही परमपद की प्राप्ति होती है।

किं बहुएं[1] अडवड वडिणा[2] देह ण अप्पा होइ।
देहहं भिण्णउ[3] णाणमउ[4] सो तुहुं[5] अप्पा जोइ ॥146॥

शब्दार्थ–किं–क्या (लाभ); बहुएं–बहुत (से); अडवड–अटपटा; वडिणा–बड़बड़ाने से; देह–शरीर; ण–नहीं; अप्पा–आत्मा; होई–होता है; देहहं–देह से; भिण्णउ–भिन्न; णाणमउ–ज्ञानमय; सो–वह; तुहुं–तुम; अप्पा–आत्मा; जोइ–हे जोगी!

अर्थ–बहुत अधिक अटपटा बड़बड़ाने से क्या लाभ? इतना ही समझना है कि देह से ज्ञान स्वरूपी आत्मा भिन्न है और हे जोगी! वही तुम हो।

---

1. अ, क, द, स बहुएं; ब बहुए; 2. अ वडिणा; क, द वडिण; ब वडिणू; स वडिणउ; 3. अ, स भिण्णउं; क, द, ब भिण्णउ; 4. अ, स णाणमउं; क, द, ब णाणमउ; 5. अ, ब, स तुहु; क, द, तुहुं।

भावार्थ—मुनिश्री योगीन्दुदेव का कथन है कि जो कर्मजनित रागादि भाव और शरीरादि पर वस्तु हैं, वे चेतन द्रव्य न होने से निश्चय ही जीव से भिन्न हैं। शरीरादि इसलिए भी आत्मा से भिन्न हैं कि ये सब कर्म के उदय से उत्पन्न हुए हैं। आत्मा का स्वभाव निर्मल ज्ञान-दर्शनमयी है। इसलिए जिसने पर द्रव्यों के संयोग का तथा संयोगीबुद्धि का त्याग कर दिया है, ऐसे साधु-सन्तों को निज शुद्धात्मस्वभाव का चिन्तन कर शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए। यही नहीं, भले ही यह शरीर छिदे तो छिद जाय, दो टुकड़ों हो जायें, छेद सहित हो जाए तथा नाश को प्राप्त हो जाए, तो भी उनको भय, खेद नहीं करना चाहिए। जो शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी राग-द्वेषादि विकल्प नहीं करता है व निर्विकल्प होता हुआ निज शुद्धात्मा के ध्यान में लीन रहता है, वही परमसुख को प्राप्त करता है। (परमात्मप्रकाश, 1, 72-73) स्वामी कार्तिकेय कहते हैं कि हे भव्यात्मा! तू जीव को शरीर से भिन्न सब प्रकार से उद्यमकर आत्मा को जान। जिस जीवद्रव्य के जान लेने पर शेष सभी परद्रव्य क्षण मात्र में त्यागने योग्य हो जाते हैं। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. 79)

श्रीतारण स्वामी कहते हैं कि जहाँ जिनेन्द्र रूपी सूर्य का दर्शन है, वहीं निजात्माका दर्शन है। क्योंकि अपनी आत्मा भी स्वभाव से जिनेन्द्र सूर्य के समान है। श्रीजिनका स्वभाव वही यथार्थ आत्मस्वभाव है, वही प्रकाशित रत्नत्रयमयी भाव है, वही वीतराग, आत्मा का स्वभाव, स्वात्मरमण रूप है। उसी की सहायता से आकाश के समान अनन्तज्ञानधारी अर्हन्त पद प्रकट होता है। (ममलपाहुड भा. 1, पृ. 205)

पोत्था[1] पढएं[2] मोक्खु कहं[3] मणु वि असुद्धउ जासु।
वहयारउ[4] लुद्धउ णवइ मूलट्ठिउ हरिणासु ॥147॥

शब्दार्थ—पोत्था—पोथा, शास्त्र; पढएं—पढ़ने से; मोक्खु—मोक्ष; कहं—कहाँ; मणु वि—मन भी; असुद्धउ—अशुद्ध (है); जासु—जिसका; वहयारउ—वधकारक; लुद्धउ—लुब्धक, शिकारी; णवइ—झुकता है; मूलट्ठिउ—मूल स्थित; हरिणासु—हिरनों (के लिए)।

अर्थ—जिसका मन अशुद्ध है, उसके शास्त्र पढ़ने से कहीं मोक्ष हो सकता है? नहीं। वध करने वाले शिकारी को भी हिरन के सामने झुकना पड़ता है। इसी प्रकार विनय भाव पूर्वक ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है।

---

1. **अ, क, द, स** पोत्था; **ब** पोत्थय; 2. **अ** पणिं; **क, द** पढणिं; **ब** पढणो; **स** पढएं; 3. **अ, क, द, स** कहं; **ब** णवि; 4. **अ** बहुयारउ; **क, द, स** बहयारउ; **ब** वहयारउ।

भावार्थ—आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि शास्त्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है। उनके शब्दों में—

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति ॥समयसार, गा. 390

अर्थात्—शास्त्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है (जड़ होने से)। इसलिए जिनदेव कहते हैं कि ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है। शास्त्र अचेतन है। अचेतन में जानने, देखने की शक्ति नहीं होती है। इसलिए शास्त्र भिन्न है और ज्ञान भिन्न है। ज्ञान आत्मा का अनन्य गुण है। ज्ञान तो जानन रूप है।

मुनिश्री योगीन्दुदेव कहते हैं—आत्मा ध्यानगम्य है; शास्त्रगम्य नहीं है, क्योंकि जिनको शास्त्र सुनने से ध्यान की सिद्धि हो जाती है, वे ही आत्मा का अनुभव कर सकते हैं। जिस किसी ने आत्मा को प्राप्त किया है, उसने ध्यान से ही पाया है और शास्त्र सुनना तो ध्यान का उपाय है—ऐसा समझकर अनादि, अनन्त चिद्रूप में अपना परिणाम लगाओ। (परमात्मप्रकाश, 1, 23)

जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा के सन्मुख होकर जानता है, उस लोक को प्रकट जानने वाले ऋषीश्वर उसे श्रुतकेवली कहते हैं।(आ. कुन्दकुन्द : समयसार, गा. 9)

यथार्थ में शुद्ध भाव तो आत्मदर्शन, आत्मज्ञान है। दूसरे शब्दों में मिथ्यात्व, रागादिरहित परिणाम शुद्ध भाव है। शुद्ध भाव से कर्म का बन्ध नहीं होता है। यही नहीं, शुद्ध भाव संवर तथा निर्जरा का कारण है। अतः मोक्ष शुद्ध भाव से प्राप्त होता है।

दयाविहीणउ[1] धम्मडा णाणिय[2] कह वि[3] ण जोइ।
बहुएँ[4] सलिलविरोलियइं[5] करु[6] चोप्पडा ण होइ ॥148॥

शब्दार्थ—दयाविहीणउ—दया (से) विहीन; धम्मडा—धर्म; णाणिय—ज्ञानी; कहवि—किसी भी प्रकार; ण—नहीं; जोइ—हे जोगी!; बहुएं—बहुत अधिक; सलिल—पानी; विरोलियइं—विलोने से; करु—हाथ; चोप्पडा—चुपड़ा, चिकना; ण होइ—नहीं होता है।

---

1. अ दयाविहूणउ; क, द, स दयाविहीणउ; ब दयाविहुणउ; 2. अ णाणी; क, द, ब, स णाणिय; 3. अ अकहि मण जो; क कहिं मि; द, स कह वि ण; ब कह मि ण; 4. अ, क, द, स बहुएं; ब बहुयइं; 5. अ विरोलीयइ; क, द, स विरोलियइं; ब विरालियइ; 6. अ, क, द, स करु; ब कर; 7. अ चोपडा; क, द, स चोप्पडा; ब चिक्कणो।

अर्थ–कोई भी ज्ञानी किसी भी प्रकार दयारहित धर्म का अवलोकन नहीं करता है। बहुत अधिक पानी बिलोने पर भी क्या हाथ चिकना हो सकता है? नहीं होता है।

भावार्थ–आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं–"धम्मो दयाविसुद्धो" (बोधपाहुड, गा. 25) अर्थात् जो विशुद्ध दया है (स्वात्मदया), वह धर्म है। लोक में यह प्रसिद्ध है कि धर्म दया है। तीर्थंकर के भी दयारूप धर्म पाया जाता है। उनके निमित्त से संसार के जीवों में करुणा भाव का प्रसार होता है, लेकिन वास्तव में स्वकरुणा ही दया है। 'विशुद्ध' शब्द का यही अर्थ है। जो दया पालता है, वह अपनी दया न पाले, तो उस दया से क्या लाभ है? इस स्वदया का पालन कर तीर्थंकर लोक पूज्य हो गए। यदि मोह से रहित होकर उन्होंने परमार्थस्वरूप आत्मधर्म को न साधा होता, तो वे जिनदेव कैसे होते? अज्ञानी लोग जिनको देव मानते हैं, उनके विशुद्ध दया नहीं है। क्योंकि कई हिंसक हैं, कई विषयासक्त हैं, मोही हैं, परिग्रही हैं, रागी-द्वेषी हैं, अतः उनके धर्म ही नहीं है। धर्म के बिना, जन्म-मरण से सहित परमसुख (मोक्ष) कैसे हो सकता है? अतः जिनदेव ही सच्चे देव हैं। ज्ञान का प्रकाश एक रूप है। केवलज्ञान का प्रकाश होने पर ही दिव्यध्वनि प्रकट होती है जो साक्षात् जिनवाणी है। उस जिनवाणी के रहस्य को धारण करने वाला ही सच्चा निर्ग्रन्थ गुरु है। देव, शास्त्र और गुरु–इन तीनों के बिना धर्म का मर्म प्रकट नहीं होता। धर्म सुखकारक है। अतः जैनधर्म के ये चार स्तम्भ हैं, जिन पर जैनशासन का महल स्थित है। जैनधर्म की प्रामाणिकता सर्वज्ञ से है और सर्वज्ञ की प्रामाणिकता जिनागम से है। वास्तव में शास्त्र के बिना कोई मत नहीं है। आगम या शास्त्र स्वयं एक प्रमाण है। न्यायशास्त्र के अनुसार मति-श्रुतज्ञान भी प्रमाण है। यदि इनको प्रमाण न माना जाए, तो लोक-व्यवहार नहीं चल सकता है।

भल्लजणाह[1] णासंति गुण जहिं[2] सहु संग खलेहिं।
वइसाणरु लोहहं[3] मिलिउ पिट्टिज्जइ सुघणेहिं ॥149॥

शब्दार्थ–भल्लजणाहं–भले लोगों के; णासंति–नष्ट होते हैं; गुण; जहिं–जहाँ; सहु संग–साथ (है); खलेहिं–दुष्टों से; वइसाणरु–अग्नि (का); लोहहं–लोहे को; मिलिउ–मिला हुआ; पिट्टिज्जइ–पीटा जाता है; सुघणेहिं–घनों से।

---

1. **अ, क, ब** भल्लाहमि; **द** भल्लाण वि; **स** भल्लजणाह; 2. **अ, स** जहि; **क, द, ब** जहिं; 3. **अ** लोह मिल्लिउ; **क, द, स** लोहहं मिलिउ; **ब** लाहौ मिलिउ।

अर्थ—दुष्टों के साथ संगति करने से भले लोगों के भी गुण नष्ट हो जाते हैं। अग्नि का साथ करने से लोहा भी अग्नि के संग घनों से पीटा जाता है।

भावार्थ—वर्तमान काल में सत्संगति का सुलभ होना धर्म-मार्ग में लगने का सबसे सरल उपाय है। आचार्य शुभचन्द्र का कथन है—

महापुरुषों का संग करना कल्पवृक्ष के समान समस्त प्रकार के मनोवांछित फल को देने में समर्थ है, अतः सत्पुरुषों की संगति अवश्य करनी चाहिए। (ज्ञानार्णव, 15, 36)

यदि कोई शक्ति-सम्पन्न मनुष्य है, लेकिन उसे सत्पुरुषों का परिमण्डल, वातावरण नहीं मिलता है, तो वह सन्मार्ग से भटक जाता है। इसी प्रकार खोटी संगति से दुष्परिणाम प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार लोहे की संगति में रहने वाली अग्नि लोहे के साथ पिटती है, वैसे ही रागादि भावों के संयोग में रहने पर जीव दुर्गति को प्राप्त होता है। मुनिश्री योगीन्दुदेव भी यही कहते हैं—

परद्रव्य का प्रसंग महान् दुःखरूप है। विवेकी जीवों के भी सत्य, शीलादि गुण मिथ्यादृष्टि, अविवेकी जीवों की संगति से नष्ट हो जाते हैं; जैसे अग्नि लोहे के संग में पीटी-कूटी जाती है। यद्यपि घन आग को नहीं कूट सकता है, किन्तु लोहे की संगति से अग्नि कुट-पिट जाती है। इसी तरह दोषों की संगति से गुण भी मलिन हो जाते हैं। यह समझ कर आकुलता रहित सुख के घातक जो देखे, सुने, अनुभव किए गए भोगों की वांछा रूप निदान बन्ध आदि खोटे परिणाम रूपी दुष्टों की संगति नहीं करना अथवा अनेक दोषों से सहित रागी-द्वेषी जीवों की भी संगति कभी नहीं करना चाहिए, यह तात्पर्य है। (परमात्मप्रकाश, 2, 110) कहा भी है—"हे जिनदेव! संसार रूपी ताप से संतप्त मैं जब तक दयारूप अमृत की संगति से शीतलता पाकर आपके दोनों चरण-कमलों को हृदय में धारण करता हूँ, तब तक ही सुखी हूँ।" (पद्मनन्दिपंच. करुणाष्टक, श्लोक 7)

हुयवहि[1] णीइ ण संकया[2] धवलत्तणु संखस्स।
फिट्टीसइ[3] मा भंति करि छुडु मिलिया हु परस्स[4] ॥150॥

शब्दार्थ—हुयवहि—अग्नि में; णीइ—लाई गई; ण संकया—नहीं शंका; धवलत्तणु—धवलत्व, सफेदी; संखस्स—शंख की; फिट्टीसइ—नष्ट कर दी जाएगी (ऐसी); मा—मत; भंति—भ्रान्ति; करि—करो; छुडु—यदि; मिलिया—मिल गया; हु—ही; परस्स—पर से।

1. अ, क हुयवहि; द हुइवहि; ब हुयवह; स हुइवह; 2. अ, स संकया; क, ब सक्किया; द सक्कियउ; 3. अ, क, द, स फिट्टीसइ; ब पीट्टीसइ; 4. अ, द, ब, स मिलिया हु परस्स।

अर्थ—अग्नि के संस्कार से शंख की सफेदी नष्ट नहीं होती। इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए। इस बात में कोई भ्रम नहीं रखना चाहिए कि वह अन्य किसी से मिलकर अपना गुण छोड़ देगा या उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन हो जाएगा।

भावार्थ—परमागम का सिद्धान्त यह है कि कोई भी द्रव्य अपने गुण को छोड़ता नहीं है और दूसरे का गुण ग्रहण नहीं करता है। इसलिए शंख अपनी सहज स्वाभाविक सफेदी गुण को नहीं छोड़ सकता। कविवर बनारसीदास के शब्दों में—

ज्ञेयाकार ब्रह्म मल मानै।
नास करनको उद्दम ठानै ॥
वस्तु स्वभाव मिटै नहि क्यौंही।
तातैं खेद करै सठ यौंही ॥55॥—समयसारनाटक, सर्वविशुद्धिद्वार

आचार्य अमितगति स्पष्ट रूप से कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में व्यवस्थित है। यद्यपि जीव अनादि काल से कर्मों के साथ है, किन्तु जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नहीं हुआ। उनके ही शब्दों में—

कर्मभावं प्रपद्यन्ते न कदाचन चेतनाः।
कर्म चैतन्यभावं वा स्वस्वभावव्यवस्थितेः ॥योगसार, 2, 27

अर्थात्—चेतन कभी भी कर्मभाव को प्राप्त नहीं होते औ्र इसी प्रकार कर्म चैतन्यभाव रूप नहीं होते। क्योंकि सभी द्रव्य अपने स्वभाव में व्यवस्थित हैं अर्थात् अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य रूप नहीं पलटते। स्वभाव का अर्थ ही है—सदा एक भाव रूप रहना।

संखसमुद्दहिं[1] मुक्कियए[2] एही होइ अवत्थ।
जो दुव्वाहहं[3] चुंबिया लाएविणु गलि हत्थ ॥151॥

शब्दार्थ—संखसमुद्दहिं—शंख समुद्र से; शंख की मुद्रा में पेटी से मुक्कियए—मुक्त किए जाते हैं, बाहर निकाले जाते हैं; एही—ऐसी; होइ—होती है; अवत्थ—अवस्था; जो; दुव्वाहहं—दुर्व्याध, धीवर, नग्न; चुंबिया—चूमे गए; संलग्न; लाएविणु—लाये जाकर, बाहर लाये; गलि—गले में, कण्ठ में; हत्थ—हाथ (में लेकर)।

---

1. **अ** संखसमुद्दह; **क, द** संखसमुद्दहिं; **ब** संखसमुद्द; **स** संखसमुद्दहि; 2. **अ, स** मुक्कियइ; **क, द** मुक्कियए; **ब** मुक्कियइं; 3. **अ** सुव्वाहह; **क, द, स** दुव्वाहहं; **ब** दुव्वाह।

अर्थ—शंख की पेटी में पड़े हुए मोती की ऐसी अवस्था होती है कि वह धीवरों के द्वारा गले पर हाथ लेकर बाहर निकाले जाते हैं।

भावार्थ—उक्त दोहे में श्लेष अलंकार है। शिलष्टार्थ होने से समुद्द, मुक्किय, दुव्वाह और गलि शब्द के दो-दो अर्थ हैं। 'समुद्द' का अर्थ पेटी तथा समान मुद्रा है। 'मुक्किय' का शब्दार्थ है—मोती, वेश्या। 'दुव्वाह' का अर्थ दुर्व्याध (धीवर), नग्न है। 'गल' का अर्थ है—गलना, कण्ठ (गला)।

शिलष्टार्थ में इस दोहे का दूसरा अर्थ है—

शंख के आकार की मुद्रा होने से वेश्या की यह अवस्था होती है कि वह नग्न पुरुषों के द्वारा गले में हाथ डाल कर चूमी जाती है।

यह एक श्रृंगार (संयोग श्रृंगार) परक दोहा है। इसमें रति का शिलष्ट वर्णन है। इसका मूल अभिप्राय है—पर को आसक्ति पूर्वक गले लगाना।

छंडेविणु गुणरयणणिहि अग्घथडिहिं[1] घिप्पंति।
तहिं[2] संखाहं विहाणु पर फुक्किज्जंति[3] ण भंति[4] ॥152॥

शब्दार्थ—छंडेविणु—छोड़कर; गुणरयणणिहि—गुणों के रत्ननिधि, समुद्र (को); अग्घथडिहिं—बिक्री के स्थानों पर; घिप्पंति—फेंक दिए जाते हैं; तहिं—वहाँ पर; संखाहं—शंखों के; विहाणु—विधान (होने); पर—पर (विभक्ति); फुक्किज्जंति—फूँके जाते हैं; ण भंति—भ्रान्ति नहीं (है)।

अर्थ—गुणों के रत्नाकर समुद्र (की सत्संगति) को छोड़ देने के कारण शंख की यह दुरवस्था होती है कि वे बिक्री के स्थलों पर पटके जाते हैं, फेंके जाते हैं और फिर खरीद लिए जाने पर फूँके जाते हैं—इसमें कोई भ्रान्ति नहीं है।

इस दोहे का व्यंग्यार्थ यह है—जो अनन्त गुणों के निधि रूप अपने स्वभाव से च्युत हो जाते हैं, वे संसार की हाट में आकर गिरते हैं। यहाँ कर्मोदय के अनुसार तरह-तरह की दुर्दशा होती है। स्वभाव से भ्रष्ट होने के कारण ही सर्वत्र भ्रष्टाचार है। यथार्थ में जीव का सबसे बड़ा अपराध यह है कि वह अपने स्वभाव से भ्रष्ट है। स्वभाव से भ्रष्ट होने पर नीति—अनीति का भी विवेक नहीं रहता। इसलिए नैतिकता से भ्रष्ट होने वाला उसे मजबूरी मानता है और यह समझता है कि अनैतिकता के बिना कोई भी काम सफल नहीं हो सकता। इसलिए आज सम्पूर्ण विश्व में यह एक दुर्दान्त समस्या के रूप में छा गया है। सत्संगति में रहना ही अपनी

---

1. **अ, स** अग्घथालिहिं; **क, द** अग्घथडिहिं; **ब** अग्घथलहि; 2. **अ, ब** तह; **क, द, स** तहिं; 3. **अ, क, ब, स.** फुक्किज्जंति; **द** फुट्टेजंति; 4. **अ, द** भवंति; **क, स, ण** भंति; **ब** भगंति।

मर्यादा में रहना है। महापुरुष सदा मर्यादा में रहते हैं। जिस प्रकार शंख अपने शील, स्वभाव की मर्यादा छोड़ देता है, तो दुर्गति को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जो पुरुष अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव से च्युत हो जाता है, वह चार गतियों और चौरासी लाख योनियों में पटका जाता है, फेंका जाता है। अतः यही अभिप्राय है कि आत्मस्वभाव से हटना ही सबसे बड़ा अपराध है।

महुयर[1] सुरतरुमंजरिहिं परिमलु रसिवि[2] हयास। हियडा फुट्टिवि किं ण मुयउ[3] ढंढोलंतु[4] पलास ॥153॥

शब्दार्थ—महुयर—मधुकर (सम्बोधन), भौरा; सुरतरुमंजरिहिं—कल्पवृक्ष की मंजरी (के); परिमलु रसिवि—पराग-रस लेकर; हयास—हताश, निराश; हियडा—हृदय; फुट्टिवि—फूटकर; किं ण—क्यों नहीं; मुयउ—मर गये; ढंढोलंतु—ढूँढ़ते फिर रहे (हो); पलास—ढाक, टेसू (के लिए)।

अर्थ—हे हताश मधुकर! तुम कल्पवृक्ष की मंजरी के पराग का रस लेकर अब पलाश (ढाक, टेसू) के लिए घूमते-फिरते हो। तुम्हारा हृदय फूट क्यों नहीं गया और तुम मर क्यों नहीं गये?

भावार्थ—व्यंग्य अर्थ यह है कि एक बार जब जीव को अपने स्वभाव का रसास्वादन हो जाता है, तो वह नीरस, तुच्छ वैभव की प्राप्ति के लिए फिर चौरासी लाख योनियों में नहीं भटकता है। तुरन्त ही उसे ढाक के पत्ते की भाँति संसार (राग, द्वेष) तथा इन्द्रियों के विषयों की नीरसता का भान हो जाता है। अतः निज शुद्धात्मानुभूति ही उत्तम स्वाद है। उसके सामने राग का स्वाद क्या है? जो उत्तम पुरुष हैं, वे एक बार उत्तम स्वाद ले लेने पर फिर विषयों के स्वाद की अभिलाषा नहीं रखते। जन्म से ही विषयों का बार-बार स्वाद लेने पर भी कभी यह तृप्त नहीं हुआ।

इस दोहे का भाव यह है कि एक बार चैतन्य रस का स्वाद लेने के पश्चात् वास्तव में संसार नहीं सुहाता है। फिर, तुम नीरस विषयों में क्यों व्यर्थ में आसक्त हो रहे हो? उनमें ज्ञानी को मरण जैसा दुःख भासित होता है।

'हयास' हताश शब्द का प्रयोग सार्थक है। जिसकी विषयों की अभिलाषा नष्ट हो गई है, ऐसे सम्यग्दृष्टि के लिए यह सब कहा गया है। 'मधुकर' शब्द परिभ्रमण

---

1. **अ, क, द, स** महुयर; **ब** महुअर; 2. **अ, द, ब, स** रसवि; **क** रसिवि; 3. **अ, द, ब, स** मुयउ; **क** मुवउ; 4. **अ, क, ब, स** ढंढोलंतु; **द** ढंढोलंतउ।

करता हुआ विषय-रस के स्वादी का प्रतीक है। अतः दोहे में भावानुभूति व्यंजक है। इसमें उत्तम अभिव्यंजना है। अतः उत्तम काव्य की प्रतीक है। शब्द-सौष्ठव तथा व्यंग्यार्थ भलीभाँति लक्षित होता है।

मुंडु[1] मुंडाइवि[2] सिक्ख[3] धरि धम्महं वद्धी आस।
णवरि[4] कुडुंबउ मेलियउ छुडु मिल्लिया[5] परास ॥154॥

शब्दार्थ—मुंडु—मूँड़; मुंडाइवि—मुँड़ाकर; सिक्ख धरि—शिक्षा धारण करो; धम्महं—धर्म की; वद्धी—बढ़ी है; आस—आशा; णवरि—केवल; कुडुंबउ—कुटुम्ब (को); मेलियउ—छोड़ा (है); छुडु—यदि; मिल्लिया—छोड़ दी गई है; परास—पराई आशा;

अर्थ—जिन्होंने मूँड़ मुँड़ाकर संयम की शिक्षा धारण कर धर्म की आशा बढ़ाई है, उन्होंने केवल कुटुम्ब छोड़ा है; पराई आशा नहीं छोड़ी है।

भावार्थ—केवल वेश धारण करने से, संयम की शिक्षा-दीक्षा लेने मात्र से कोई साधु, मुनि या श्रमण नहीं हो जाता। सबसे महत्त्वपूर्ण है—राग-द्वेष छोड़ना। यदि पराई आशा छोड़ी होती, तो शिष्यों का कुटुम्ब नहीं बढ़ाते, समाज का सहारा नहीं लेते, समाज की बढ़वारी तथा नामवरी के लिए रात-दिन आकुल-व्याकुल नहीं रहते। क्योंकि संयम तथा सामायिक चारित्र की दीक्षा ग्रहण करने वाला आत्माधीन व्यापार करता है, संसार के कामों में नहीं लगता है। इस शिक्षा का पालन तभी हो सकता हैं, जब पराई आशा, परावलम्बन न हो। परावलम्बी सदा दुखी रहता है। अतः 'सिर मुँड़ाने का अर्थ' राग-द्वेष तथा इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा का त्याग तथा तन एवं मन दोनों से नग्न, सहज स्वाभाविक होना है।

वास्तव में नग्नता तो साधुता की प्रतीक है। जब तक मन में कोई विकार है, तब तक नग्न होने पर भी नग्नता नहीं है। नग्नत्व तो आदर्श है। अतः उसे उत्तम व ऊँची दृष्टि से देखना चाहिए। क्योंकि गृहस्थ के लिए साधु आदर्श है। वास्तविक गुरु निर्ग्रन्थ, दिगम्बर (जिनकल्पी श्रमण) साधु होते हैं। अतः उनका पद व चर्या महान् है। महान् महन्त होने पर ही होता है। ऊँचा पद लेने पर मर्यादा या चर्यानुरूप कार्य न हो तो वह महान् कैसे हो सकता है? यथार्थ में जिनकल्पी श्रमण, निर्ग्रन्थ

---

1. **अ, क, द, स** मुंडु; **ब** मुडु; 2. **अ** मुंडावि; **क, द, स** मुंडाइवि; **ब** मुडाइवि; 3. **अ, क, द, स** सिक्ख; **ब** दिक्खा; 4. **अ, क, द, स** णवरि; **ब** णवर : 5. **अ, क, स** मिल्लिया; **द, ब** मिलिया हु परस्स।

दिगम्बर मुनि साक्षात् वीतरागता के मूर्तिमान् स्वरूप हैं। अतः वे तप और त्याग के आदर्श शिखर हैं।

णग्गत्तणि जे[1] गव्विया विग्गुत्ता[2] ण गणंति।
गंथहं[3] बाहिरभिंतरहिं एक्कु[4] वि जे ण मुअंति[5] ॥155॥

शब्दार्थ—णग्गत्तणि—नग्नत्व में; जे—जो (बहुवचन), जिन ने; गव्विया—गर्व किया; विग्गुत्ता—व्याकुलता (को); ण गणंति—नहीं गिनते हैं; गंथहं—ग्रन्थ के, परिग्रह के; बाहिरभिंतरहिं—बाहरी और भीतरी में से; एक्कु वि—एक भी; जे ण मुअंति—जो नहीं छोड़ते हैं।

अर्थ—जो नग्नत्व का गर्व करते हैं और व्याकुलता को कुछ नहीं गिनते हैं, वे बाहरी-भीतरी परिग्रह में से एक का भी त्याग नहीं करते।

भावार्थ—त्याग का सच्चा लक्षण है—राग-द्वेष, मोह को छोड़ना। जब तक व्यक्ति अहंबुद्धि नहीं छोड़ता, तब तक पर में अपनापन बना रहता है। इसलिए बाहर में किसी स्थान, क्षेत्र, वस्तु आदि को छोड़ देने मात्र से त्याग नहीं हो जाता; किन्तु बाहर में ऐसा ही प्रदर्शन किया जाता है कि अमुक, अमुक को छोड़ दिया। वास्तव में वह दिखावा मात्र है। क्योंकि शरीर से अपनेपन की बुद्धि छूटने पर बाहरी परिग्रह का त्याग होता है और पूर्ण वीतरागता प्रकट होने पर मोह का त्याग या अभाव होता है। इसलिए जो वास्तव में साधु हैं, उनको यह अभिमान नहीं होना चाहिए कि मैं साधु-सन्त हूँ, लोग मुझे क्यों नहीं मानते, क्यों नहीं पूजते? यदि यह अहंबुद्धि है, तो समझना चाहिए कि उनका त्याग सच्चा नहीं है।

प्रायः लोग यह समझते हैं कि अध्यात्म में बातें ही बातें हैं, त्याग या चारित्र कुछ नहीं है। किन्तु उनका ऐसा समझना भूल है। पं. जयचन्दजी छावड़ा ने 'समयसार' की भाषा टीका में लिखा है—"पर भाव को जानना, और फिर परभाव का ग्रहण न करना सो यही त्याग है।" वास्तव में अध्यात्म का त्याग ऊपर से दिखाई नहीं देता है, इसलिए लोगों ने बाहरी त्याग को ही त्याग समझ लिया है। बाहरी त्याग का निषेध नहीं है, किन्तु बाहर का त्याग दिखावटी या प्रदर्शन मात्र भी हो सकता है। दूसरे शब्दों में सच्चे त्याग का वह नियम से कारण नहीं होता। इसलिए वह नियामक नहीं है। व्यवहार में भी बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह की निवृत्ति का नाम त्याग है। हम केवल बाहर की निवृत्ति को त्याग मानते हैं, यही भूल है।

---

1. अ तणि; क, द, ब, स तेण; 2. अ विग्गुता; क विगुत्ता; द, स विग्गुत्ता; 3. अ गंथा; क, द गंथहं; ब, स गंथह; 4. अ, द एक्कु जे; ब इक्क इ; स एक्कु वि; 5. अ जे ण मुएंति; क, द तेण मुयंति; ब जे ण मुअंति; स ते ण मुअंति।

अम्मिय[1] यहु[2] मणु हत्थिया विंझह[3] जंतउ वारि।
तं भंजेसइ सील-वणु पुणु पडिसइ[4] संसारि[5] ॥156॥

शब्दार्थ—अम्मिय—अहो!; यहु—यह; मणु—मन (रूपी); हत्थिया—हाथी; विंझह—विन्ध्याचल (की ओर); जंतउ—जाते हुए (इसको); वारि—रोको; तं—उस (वह); भंजेसइ—नष्ट कर देगा; सील-वणु—शील रूपी वन को; पुणु—पुनः; फिर; पडिसइ—पड़ेगा; संसारि—संसार में।

अर्थ—अहो! इस मन रूपी हाथी को विन्ध्यपर्वत (अभिमान शिखर) की ओर जाने से रोको। यह इस शील रूपी वन को छिन्न-भिन्न कर देगा, जिससे फिर संसार (दुर्गति) में पतन होगा।

भावार्थ—जो तरह-तरह के विकल्प करता है उसे मन कहा गया है। वह बड़ा बलवान है। उसे जीतना हाथी के समान है। इसलिए मन को हाथी कहा गया है। हाथी इतना बड़ा पशु है कि उस पर निमन्त्रण करना सम्भव नहीं है। केवल युक्तिपूर्वक उसे वश में किया जाता है। एक लम्बा-चौड़ा गड्ढा खोदकर उसमें सूखी घास भर दी जाती है, जिस पर कृत्रिम हथिनी बैठा दी जाती है। हाथी उस सुन्दर हथिनी को पकड़ने के लिए ज्यों ही वहाँ पहुँचता है, त्यों ही गड्ढे में गिर जाता है। फिर, उसे खाने-पीने को कम देते हैं, जिससे दुबला हो जाता है और तभी उसके पैरों में लोहे की साँकल डालकर उस पर नियन्त्रण कर लिया जाता है। इसी प्रकार मन भी एक हाथी है। उसे वश में करना सरल नहीं, बहुत कठिन कार्य है। व्रत-श्रुताभ्यास, तत्त्वचिन्तन आदि से उपवास पूर्वक मन रूपी हाथी के दुबले होने पर ही उस पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

प्रायः संसार के सभी प्राणी मन के गुलाम हैं। मन के माफिक सभी चलना चाहते हैं। मन जैसा नचाता है, वैसा सब नाच करते हैं। किन्तु हाथी की तरह मन को वश में करना किसी विरले व्यक्ति का ही कार्य है। मन को वश में करने के लिए युक्ति और पुरुषार्थ दोनों आवश्यक हैं। सम्पूर्ण साधु-सन्तों तथा गृहस्थों का धर्म आत्मस्वभाव के आश्रय से भलीभाँति सम्पन्न होता है। आत्मावलोकन व आत्मानुभव के बिना मन पर सहज नियन्त्रण नहीं होता; क्योंकि मन को रमने के लिए कोई सातिशय स्थान चाहिए। जो एक बार भी आत्म-स्वभाव में रम जाता है, वह फिर विषयों की ओर नहीं भागता।

---

1. अ, क, द, स अम्मिय; ब अमिअय; 2. अ, ब, स यहु; क, द, इहु; 3. अ, स विंझइ; क, द, ब विंझह; 4. अ पडिहइ; क, द, स पडिसइ; ब पडय; 5. अ, क, द स संसारि; ब संसारे।

जे पढिया जे पंडिया जाहि वि[1] माणु-मरट्टु।
ते महिलाणहं[2] पिडि पडिय[3] भमियइ[4] जेम घरट्टु ॥157॥

शब्दार्थ—जे—जो; पढिया—विद्वान (हैं); जे पंडिया—जो पण्डित (हैं); जाहि—जिनके; वि—भी; माणु-मरट्टु—मान-मर्यादा (है); ते—वे; महिलाणहं—महिलाओं के; पिडि—पिण्ड, शरीर (पर मोहित हो कर); पडिय—पड़ (कर); भमियइं—चक्कर काटते हैं; जेम—जिस तरह; घरट्टु—चक्की।

अर्थ—जो सुशिक्षित हैं, पण्डित-विद्वान् हैं, जिनके मान-मर्यादा बनी हुई है, वे भी जब महिलाओं के रूप-सौन्दर्य पर मोहित हो जाते हैं, तब ऐसा समझना चाहिए कि वे देह-पिण्ड के पीछे पड़कर ऐसे चक्कर काटते हैं, जैसे चक्की घूमती हो।

भावार्थ—जैनधर्म में परिग्रह दो प्रकार का कहा गया है—भीतरी और बाहरी। बाहरी परिग्रह भी दो तरह का है—चेतन और अचेतन। पढ़े-लिखे व्यक्ति भी लोभ के कारण धन-मकान आदि को भी किसी भी प्रकार हथियाना चाहते हैं। उसके लिए तरह-तरह के प्रयत्न करते हैं और परेशान होते हैं। इसी प्रकार रूप-लोभ के कारण जब सचेतन परिग्रह को प्राप्त करने का उद्यम करते हैं, तब तरह-तरह से परेशान होते हैं। उनके मन-मस्तिष्क पर रूप-सौन्दर्य का ऐसा नशा चढ़ जाता है कि उसके बिना कुछ नहीं सूझता है। इसलिए बार-बार वही 'नारी-चित्र' आँखों के सामने घूमता है। वास्तव में वे वस्तु-स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, इसलिए शरीर की बनावट, रूप-रंग आदि पर मोहित हो जाते हैं। लेकिन यह शरीर का सौन्दर्य सदा काल एक जैसा नहीं बना रहता है। समय-परिवर्तन के साथ सब कुछ बदल जाता है। जो आज गुलाब के फूल जैसा खिला है, कल वही मुर्झा जाता है, आँखों और कपोलों पर पिचकापन झाँकने लगता है, सूरत और मूरत कुछ की कुछ हो जाती है। अतः समझदार व्यक्ति किसी सुन्दर स्त्री के चक्कर में नहीं पड़ते।

सुन्दरी राग-रंग की मूर्ति है। उसके आलम्बन से राग व स्नेह का उद्रेक होता है। इसलिए नारी को लक्षकर वर्णन किया जाता है। यह नहीं समझना चाहिए कि किसी द्वेष-बुद्धि या घृणित भावना के कारण ऐसा कहा जाता है; परन्तु यह वास्तविकता है। सौन्दर्य गतिशील होता है। परिणमन वस्तु का स्वभाव है। अतः प्रत्येक समय में परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तनशील वस्तु में आसक्त होना व्यक्ति का स्वभाव नहीं होना चाहिए।

---

1. **अ, स** जाहि मि; **क, द** जाहिं मि; **ब** जाह मि; 2. **अ, ब, स** महिलाणह; **क** महिलाहंहं; **द** महिलाण हि; 3. **अ, क, द** पिडि पडिय; **ब** पिडि पडिया; 4. **अ, ब, स** भमियइ; **क** भमियहिं; **द** भमियइ।

विद्धा[1] वम्मा[2] मुट्ठिएण[3] फुसिवि लिहहि[4] तुहुं ताम।
जह संखहं जीहालु[5] सिवि सड्डिल्लइ[6] ण जाम[7] ॥158॥

शब्दार्थ—विद्धा—वेधा गया; वम्मा—वर्मन्, मर्म; मुट्ठिएण—मुट्ठी से; फुसिवि—स्पर्श कर; लिहहि—चाट लो, स्वाद लेलो; तुहुं—तुम; ताम—तब तक; जह—जिस प्रकार; संखहं—शंख की; जीहालु—जीभवाली; सिवि—शुक्ति, सीपी; सड्डिल्लइ—शिथिल होती है; ण—नहीं; जाम—जब तक।

अर्थ—हे जीव! तब तक स्पर्श और रसना इन्द्रियों का स्वाद ग्रहण कर ले, जब तक मुट्ठी से मर्म का भेदन नहीं किया गया है। जिस प्रकार शंख की सीपी को सुख तभी तक है जब तक वह फूटी नहीं है, उसी प्रकार जब तक यह शरीर शिथिल नहीं हुआ, तभी तक इन्द्रियों का सुख है।

भावार्थ—प्रथम मनुष्य इन्द्रियों के माध्यम से भोगोपभोग का सेवन करता है, फिर इन्द्रियाँ भोग भोगती हैं और अन्त में भोग प्राणी को भोग लेते हैं। मनुष्य के पास भोग भोगने की शक्ति सीमित है। जब तक शरीर स्वस्थ तथा यौवन से भरपूर है, तब तक विषयों का सेवन लगातार करते रहने पर भी कुछ पता नहीं चलता है। लेकिन शरीर में शिथिलता या अशक्ति का अहसास होते ही इन इन्द्रियों के विषयों से वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है। और इतना होने पर भी जिसे वास्तविकता का बोध नहीं होता, वह भोंगों को भोगने के लिए तृष्णा पूर्वक अपनी इन्द्रियों को तथा शरीर को औषध आदि देकर सबल बनाने की चेष्टा करता है। परन्तु यह भूल जाते हैं कि—

जो संसार विषैं सुख होता, तीर्थंकर क्यों त्यागें।
काहे को शिव-साधन करते, संयम सों अनुरागें ॥

—भूधरदास : वैराग्य भावना

जीवन की अन्तिम अवस्था में बड़े-बड़े चक्रवर्ती यह भावना भाकर गृह-त्याग कर वन में चले गये कि इतने समय तक भोगों को भोगने पर भी तृप्ति नहीं मिली, तो समझना चाहिए कि भोगों में सुख नहीं है। सुख तो आत्मा का स्वभाव है। इसलिए आत्मस्वभाव के आश्रय से ही वह प्राप्त हो सकता है। अन्य कोई भी उपाय लाखों, करोड़ों बार करो; लेकिन जब सुख उन परपदार्थों में है नहीं, तो कहाँ से प्राप्त होगा? उक्त दोहे में व्यंग्यार्थ से रतिमूलक भाव भी ध्वनित है।

---

1. अ, द, ब, स विद्धा; क सिद्धा; 2. अ धम्मा; क, द, ब, स वम्मा; 3. अ वुड्ढइणा; क, ब मुट्ठइण; द मुट्ठिइण; स मुट्ठिएण; 4. अ लहहहिं; क, द लिहिहि; ब लिहहिं; स लिहहि; 5. अ जीवाल; क, द, ब, स जीहालु; 6. अ, ब सद्‌दु छलइ; क, द सड्डुच्छलइ; स सेड्डिल्लइ; 7. अ, क, द, स ण जाम; ब न जाम।

पत्तिय तोडहि[1] तडतडाइ[2] णाइं पइट्ठा[3] उट्टु[4]।
एव ण जाणहि[5] मोहिया को तोडइ को तुट्टु ॥159॥

शब्दार्थ–पत्तिय–पत्ते (को); तोडहि–तोड़ते हो; तडतडाइ–तड़तड़ा (कर) णाइं–मानो; पइट्ठा–प्रवेश किया; उट्टु–ऊँट ने; एव–ऐसे; ण जाणहि–नहीं जानते हो; मोहिया–मोहित हुए; को तोडइ–कौन तोड़ता है; को–कौन; तुट्टु–टूटता है।

अर्थ–तुम सहसा पत्तियों को ऐसे तड़-तड़ाकर तोड़ रहे हो मानो ऊँट ने ही प्रवेश किया हो। तुम यह नहीं जानते हो कि मोह के अधीन होकर कौन तोड़ता है और कौन टूटता है?

भावार्थ–वनस्पति, वृक्षादि चेतन हैं। उनमें भी मनुष्य की भाँति आत्मा है। इसलिए व्यर्थ में उनको नहीं तोड़ना चाहिए। एक इन्द्रिय स्पर्शन से सहित पृथ्वी, वनस्पति, जल, अग्नि और वायु अनादि से ही 'काय' का अवगाह होने से जीव की मुख्यता से चेतन कहे जाते हैं। वास्तव में उनमें विद्यमान 'ज्ञान' जीव है और शरीर 'अजीव' या जड़ है। निश्चय से चैतन्य ही प्राण है। व्यवहार से शरीर, वचन, मन, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास प्राण हैं। व्यवहार में इन प्राणों की सुरक्षा के लिए अहिंसा धर्म का उपदेश दिया जाता है। क्योंकि वस्तुतः तो कोई जीव मरता नहीं है। 'जीव' का अर्थ है–सदा जीवित रहने वाला। कोई जीव किसी अन्य जीव को अपने वास्तविक प्राण से कभी अलग नहीं कर सकता है। अतः कौन वनस्पति आदि को तोड़ने वाला है और कौन टूटता है?

इन्द्रियाँ आज हैं, कल नहीं भी हो सकती हैं। सिद्ध परमात्मा के मन नहीं होता। उनके व्यवहार से कहे जाने वाले दस प्राणों में से एक भी प्राण नहीं होता। परन्तु व्यवहार व्यवहार से चलता है। यदि प्राणों की रक्षा, दया-दान आदि का उपदेश न दिया जाए, तो फिर समाज बिखर कर छिन्न-भिन्न हो जाएगा। एक प्राणी दूसरे प्राणी को मारकर खा जाएगा। अतः समाज, धर्म या लोक-पालन की दृष्टि से अहिंसा का विशेष महत्त्व है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों ही उससे सुरक्षित रहते हैं। दोहे में व्यंग्य प्रधान है। व्यंग्य से ही यह अर्थ ध्वनित है कि हिंसा नहीं करनी चाहिए।

---

1. **अ** तोडिइं; **क** तोडहि; **द, ब स** तोडि; 2. **अ, स** तडतडाइ; **क** तडतडह; **द** तडत्तडइ; **ब** तडतइइ; 3. **अ** परट्ठा; **क, द, ब, स** पइट्ठा; 4. **अ** उंटु; **क, द, स** उट्टु; **ब** डंडु; 5. **अ** जाणइ; **क, द, ब,** जाणहि।

पत्तिय[1] पाणिउ दब्भ तिल सव्वइं जाणि[2] सवण्णु।
जं पुणु मोक्खहं[3] जाइवउ तं कारणु कुइ[4] अण्णु ॥160॥

शब्दार्थ—पत्तिय—पत्ती; पाणिउ—पानी; दब्भ—दाभ; तिल—तिल, तिल्ली; सव्वइं—सबको; जाणि—जानो; सवण्णु—अपने वर्ण (का); जं—जो; पुणु—पुनः; फिर; मोक्खहं—मोक्ष को; जाइवउ—जाना है; तं कारणु—उसका कारण; कुइ—कोई अण्णु—अन्य है।

अर्थ—पत्ती, पानी, दाभ, तिल, इन सबको अपने समान ही समझो (जैसे प्राण तुममें हैं वैसे ही इनमें हैं)। जो यदि मुक्ति को प्राप्त करना चाहते हो, तो उसका कारण (निश्चय रत्नत्रय) तो कोई अन्य है।

भावार्थ—जैनधर्म अहिंसाप्रधान है। अहिंसा का मूल इस पर आधारित है कि जैसा जानने, देखने वाला मैं चैतन्यप्राण हूँ, वैसे ही जगत् के सारे चेतन प्राणी हैं। चेतन प्राण की दृष्टि से मुझमें और उनमें कोई अन्तर नहीं है। इसलिए जैसे अपने प्राणों की सुरक्षा का ध्यान हममें निरन्तर बना रहता है, वैसे ही प्रत्येक प्राणी को अपने जैसा समझकर उनका बराबर ध्यान रखना चाहिए। प्रत्येक वनस्पति चेतन प्राणवान है। क्या पेड़, क्या पत्ती, फूल, डाली आदि सभी में चेतनता का निवास है। इसलिए उनको तोड़ना, मोड़ना, काटना, तेजाब फेंकना आदि, ऐसे कार्य न करें जिससे उनका घात-उपघात हो। वास्तव में हम वनस्पति को तोड़ते इसलिए हैं कि उसे उपयोगी समझकर अपने उपयोग में लाना चाहते हैं। यह राग भाव है। और जब दवा के काम में, खाने या लगाने के काम में उसे लेना चाहते हैं, तब राग भावपूर्वक ही हम उसका सेवन करते हैं; इसलिए जहाँ राग और प्रमाद है वहाँ हिंसा है। शास्त्र में यह उपदेश है कि रागादिक का उत्पन्न नहीं होना अहिंसा है और उत्पत्ति होना हिंसा है।

हिंसा का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। जल, थल, नभ आदि में चारों ओर सूक्ष्म जीवों का सद्भाव होने से बाह्य जगत् में पूर्ण अहिंसा का पालन सम्भव प्रतीत नहीं होता है। किन्तु भीतर में समता भावपूर्वक बाहर में पूरी तरह से यत्नाचार रखने में किसी तरह का प्रमाद न किया जाए, तो बाहर में भले ही जीवों की सुरक्षा न हो पाए, लेकिन भीतर में परिणामों की सम्हाल होने से तथा मारने का भाव न होने से; बल्कि बचाने का भाव होने से वह अहिंसा ही है। जहाँ तोड़ना-फोड़ना, काटना-मारना,

---

1. अ पत्तिया; क, द, ब, स पत्तिय; 2. अ, क, द, ब, स जाणु; 3. अ मोक्खहिं; क मुक्खहं; द मोक्खहं; ब मोक्ख; स मोक्खह; 4. अ, क, द, स कुइ; ब कोइ।

फेंकना है, वहाँ हिंसा है। किसी भी क्षेत्र में ऐसे परिणाम तथा प्रवृत्तिमूलक कार्य करना उचित नहीं हैं।

पत्तिय तोडि[1] म[2] जोइया फलहिं जि हत्थु म वाहि।
जसु कारणि तोडेहि[3] तुहुं[4] सो सिउ एत्थु चडाहि[5] ॥161॥

शब्दार्थ—पत्तिय—पत्तों (को); तोडि—तोड़ो; म—मत; जोइया—हे योगी!; फलहिं—फलों को; जि—भी; हत्थु—हाथ; म—मत; वाहि—लगाओ; जसु—जिस; कारणि—कारण से; तोडेहि—तोड़ते हो; तुहुं—तुम; सो—वह; सिउ—शिव (परमात्मा); एत्थु—यहाँ (शरीर में) (है); चडाहि—चढ़ाओ।

अर्थ—हे जोगी! पत्ते मत तोड़ो और फलों को भी हाथ मत लगाओ। जिस कारण से तुम उनको तोड़ते हो (भगवान् शिव को चढ़ाने के लिए) सो वह शिव यहाँ (घट में विराजमान है) है। अतः यहीं चढ़ा दे।

भावार्थ—साधु महाव्रत के धारक होते हैं। उनके जीवन में अहिंसा महाव्रत होता है, जिसमें त्रस और स्थावर सभी प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग होता है। जब पाक्षिक श्रावक पर्व के दिनों में शाक-पत्ते, फूल व फल आदि को नहीं छू सकता है, तब भोजन में कैसे खा सकता है? इसलिए जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है कि मुनि को पत्ती नहीं तोड़नी चाहिए, फलों को हाथ नहीं लगाना चाहिए। मिट्टी और पानी भी किसी के दिए ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि वे सभी प्रकार की हिंसा के त्यागी होते हैं। वे द्रव्य से पूजा नहीं करते हैं। उनके लिए भावपूजा करना ही आवश्यक है। अतः वे किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं करते।

संयमी साधु तथा प्रतिमा पूज्य है। जो परम इष्ट हैं, वे पूज्य हैं। वास्तव में पाँच परमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) ही पूज्य हैं। इसलिए उनकी पूजा की जाती है। इनके अलावा अन्य देवी-देवता कुदेव या अदेव हैं जिससे उनकी (क्षेत्रपाल, पद्मावती, मणिभद्र आदि) पूजा नहीं करनी चाहिए। 'कसायपाहुड' में कहा गया है—"एक्कस्सेव जिणस्स वंदणा कायव्वा" त्ति (1/1, 1/87)

अर्हन्तादि के गुणों का चिन्तन करना भावपूजा है। भावपूजा में मन, वचन, काय सब ओर से सिमटकर परमात्मा के चरणों में एकाग्र हो जाते हैं। परमात्मा स्वानुभवगम्य है। इसलिए उसकी उपासना में लीन होना ही भावपूजा है। भावपूजा

---

1. अ, क, द, स तोडि; ब छोडि; 2. अ हि; क, द, ब, स म; 3. अ तोडेसि; क तोडेसि; द, ब, स तोडेहि; 4. अ, ब, स तुहु; क, द तुहुं; 5. अ वि वाहि; क, स चडाहि; द, ब चडावि।

में द्रव्य का आलम्बन न होकर आत्मस्वभाव का अवलम्बन होता है। अतः आत्मा-परमात्मा में भेद लक्षित न होकर समरसता की स्थिति स्थापित हो जाती है।

देवलु[1] पाहणु तित्थजलु[2] पोत्थइं[3] सव्वइं कव्वु[4]।
वत्थु[5]जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु[6] होसइ सव्वु ॥162॥

शब्दार्थ–देवलु–देवालय, मन्दिर (में); पाहणु–पाषाण (मूर्ति है); तित्थजलु–तीर्थ (में) जल (है); पोत्थइं–शास्त्रों (में); सव्वइं–सभी (में); कव्वु–काव्य है; वत्थु–वस्तु; जु–जो; दीसइ–दिखती है; कुसुमियउ–विकसित, खिली हुई; इंधणु–ईंधन; होसइ–होगी; सव्वु–सब।

अर्थ–देवालय (मन्दिर) में पाषाण (पत्थर) है, तीर्थ में जल और सभी शास्त्रों में काव्य है। जो वस्तु अभी विकसित, खिली हुई दिखती है, वह सब ईंधन हो जाएगी।

भावार्थ–मुनि योगीन्द्रदेव कहते हैं कि "देव तो भावों में है, मूर्ति में नहीं" है। उनके ही शब्दों में–

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति ॥–परमात्मप्रकाश 1, 123

अर्थात् परमात्मा देवालय में नहीं है, पत्थर की मूर्ति में भी नहीं है, लेप में भी नहीं है, चित्राम की मूर्ति में भी नहीं है। वह देव अविनाशी है, कर्म-अंजन से रहित है, केवलज्ञान से पूर्ण है, ऐसा निज परमात्मा समभाव में स्थित है।

वास्तविकता यह है कि जिनबिम्ब निज शुद्धात्मा में ही विराजमान है। प्रतिमा भावों में है। इसलिए पूजा में भाव ही कारण हैं। एक जिन या जिनालय की वन्दना करने से सबकी वन्दना हो जाती है। पूजा का एक मात्र प्रयोजन यही है कि जिनदर्शन के निमित्त से निजदर्शन की उपलब्धि होती है।

आज संयोग में जो वैभव दिखलाई पड़ता है, कल वह बना रहने वाला नहीं है। एक फूल जो आज वृक्ष की डाली पर फूल रहा है, कल वह झड़ जाएगा। इस परिवर्तनशील भौतिक जगत् में कोई भी अवस्था शाश्वत या चिरस्थायी नहीं है। इसलिए जो स्थिति आज है, वह कल नहीं है। जिस प्रकार जलाऊ लकड़ी जलकर

---

1. **अ, स** देवलु **क, द, ब** देवलि; 2. **अ** तित्थजडु; **क** तित्थि जलु; **द, ब, स** तित्थजलु; 3. **अ, स** पोत्थइं; **क, द, ब** पुत्थइं; 4. **अ, द, स** कव्वु; **क** काउ; **ब** कव्व; 5. **अ, ब** वत्थ; **क** सव्वु वि; **द, स** वत्थु; 6. **अ,** इंधण; **क, द, ब, स** इंधणु।

खाक हो जाती है, वैसे ही धन, यौवन, शक्ति, पद आदि आज हैं, कल नहीं रहेंगे—यह यथार्थ है। जो इस वास्तविकता को नहीं समझता है, वह इनको बनाए रखना चाहता है; लेकिन ये बने नहीं रहते हैं, एक दिन नष्ट हो जाते हैं, तब दुःखी होकर आँसू बहाता है।

तित्थइं तित्थ भमंतयहं[1] किं णेहा[2] फल हूव[3]।
बाहिरु सुद्धउ[4] पाणियहं अब्भिंतरु किम हूव[5] ॥163॥

शब्दार्थ—तित्थइं—तीर्थों से; तित्थ—तीर्थ (में); भमंतयहं—घूमते हुए के; किं—क्या; णेहा—स्नेह; फल हूव—फल हुआ; बाहिरु—बाहर (से); सुद्धउ—शुद्ध किए; पाणियहं—पानी का; अब्भिंतरु—भीतर (में); किम—क्या; हूव—हुआ।

अर्थ—एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में भ्रमण करते हुए स्नेह करने का फल क्या हुआ? बाहर से तो पानी शुद्ध कर लिया, लेकिन भीतर में क्या हुआ?

भावार्थ—जिनवर के मन्दिर में, तीर्थ में भी जाकर यह रागभाव से जिनवर से, भावों में तन्मय होकर एकीभाव को प्राप्त होता है। क्योंकि तरह-तरह के स्तुति-वन्दना योग्य भावों से यह देव की पूजा करता है। गुणों में अनुराग होना, यही भक्ति है। अतः यह अनेकानेक बार एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ पर देव का वन्दन-पूजन करने गया और भक्तिपूर्वक पूजा-उपासना भी की। लेकिन इन सब कामों को करने में जो रागभाव किया; वह पहले संसार का राग था और अब भक्ति विषयक हुआ—यह अन्तर तो है; लेकिन राग भाव पहले भी था और बाद में भी रहा, तो भावों में क्या अन्तर, परिवर्तन हुआ? जैसे किसी शीशी में भीतर गन्दगी भरी हो और बाहर में उसे अनेक बार शुद्ध, पवित्र जल से धोया जाए, तो क्या शुद्ध हो सकती है? कदापि नहीं। इसी प्रकार अनन्त वार तीर्थों पर घूमने से भी यदि अपने भाव शुद्ध नहीं हुए, तो तीर्थ-यात्रा करने से भी क्या लाभ हुआ? आचार्य कुलधर का कथन है कि जिस समय आत्मा शान्त भाव में स्थिर हो जाता है, वही महान् तीर्थ है और जब यह आत्मा शान्त भाव में नहीं है, तब तीर्थ-यात्रा निरर्थक है। (सारसमुच्चय, श्लोक 311)

आचार्य वट्टकेर का कथन है—सांसारिक विषयों की अभिलाषा तथा कर्मोदय से उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के दुःख तथा कर्मफल का नाश करने में जो समर्थ

---

1. अ वसंतइह; क, द, ब, स भमंतयहं; 2. अ किं लेहा; क कि ण्णेहा; द कि णेहउ; ब किं नेहउ; स किं णेहा; 3. अ रूव; क, द, स हूव; ब होइ; 4. अ गूधउ; क, द, ब, स सुद्धउ; 5. अ, क, द, स हूव; ब हूय।

है, वह भावतीर्थ है। भावतीर्थ में तीनों गुण हैं। जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ द्वादशांग रूप श्रुतज्ञान भावतीर्थ कहा गया है जो स्वयं के भावों में उपलब्ध होता है। (मूलाचार, गा. 72) यद्यपि बाहर के तीर्थ-क्षेत्र वन्दन करने योग्य हैं, तथापि आत्मस्वभाव तथा परमात्मा की उपलब्धि हेतु भावतीर्थ ही कार्यकारी है।

तित्थइं तित्थ[1] भमेहि वढ धोयउ चंम्मु जलेण।
एहु[2] मणु किम धोएसि तुहुं[3] मइलउ पावमलेण ॥164॥

शब्दार्थ—तित्थइं—तीर्थों से; तित्थ—तीर्थ (में); भमेहि—घूमे; वढ—हे मूर्ख; धोयउ—धोया; चम्म—चाम, चमड़े (को); जलेण—पानी से; एहु—इस; मणु—मन (को); किम—क्या; धोएसि—धोते हो (धोया जाता है); तुहुं—तुम (से); मइलउ—मैला है (जो); पावमलेण—पाप मैल से।

अर्थ—हे मूर्ख! तुमने एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में भ्रमण किया है और शरीर के चमड़े को जल से धोया है। किन्तु जो मन पाप रूपी मल से मैला है, उसे किस प्रकार धोएगा?

भावार्थ—अनेक मनुष्य ऐसा समझते हैं कि यह शरीर स्नान करने से पवित्र होता है, लेकिन यह सर्वथा उनकी भूल है। क्योंकि उत्तम सुगन्धित पुष्पमाला भी शरीर पर धारण करने मात्र से जब स्पर्श करने योग्य नहीं रहती, तब जो शरीर भीतर में मल-मूत्र, रक्त, चर्बी आदि घिनावने तथा दुर्गन्धित पदार्थों से भरा हुआ है, वह जल के स्नान मात्र से कैसे शुद्ध हो सकता है? जितने भी लोक में अपवित्र पदार्थ हैं, उन सबका स्थान यह शरीर है। आत्मा तो स्वभाव से अत्यन्त पवित्र है, इसलिए इसकी पवित्रता के लिए स्नान करना व्यर्थ ही है। शरीर निकृष्ट है, वह जल से वास्तव में शुद्ध नहीं हो सकता और आत्मा स्वभाव से शुद्ध ही है, फिर किसकी शुद्धता के लिए स्नान किया जाता है? शुद्धि का अर्थ निर्मलता है और निर्मलता उसी समय हो सकती है, जब सभी मलों का नाश हो जाए। जल से किए गये स्नान से यथार्थ में निर्मलता नहीं होती, किन्तु मलों की (पापों की) उत्पत्ति होती है। स्नान करने से अनेक जीवों का विध्वंस होता है। अतः पाप ही होता है।(पद्मनन्दिपंचविंशति, स्नानाष्टक, 1-3)

आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट रूप से कहते हैं कि व्रत, सम्यक्त्व से विशुद्ध और पाँच इन्द्रियों के विषयों से विरक्त, लोक-परलोक के विषय-भोगों की वांछा से रहित

---

1. अ, द, ब, स तित्थ; क तित्थइं भमहि; 2. अ यहु; क, द, ब, स एहु; 3. अ बुहु; क, द तुहुं; ब, स तुहु।

निर्मल आत्मा के स्वभावरूप तीर्थ में स्नान करने से पवित्रता होती है। (बोधपाहुड, गा. 26) जैसे जल से तन की निर्मलता होती है, वैसे ही तीर्थ-क्षेत्रों की वन्दना से मन निर्मल होता है। परन्तु आत्म-शुद्धि हेतु भावतीर्थ में ही डुबकी लगानी पड़ती है।

जोइय हियडइ जासु पर[1] एक्कु[2] ण णिवसइ देउ।
जम्मणमरणविवज्जियउ किम[3] पावइ[4] परलोउ ॥165॥

शब्दार्थ—जोइय—हे योगी!; हियडइ—हृदय (में) जासु—जिसके; पर—लेकिन; एक्कु—एक (भी) ण—नहीं; णिवसइ—रहता है; देउ—देव; जम्मणमरण—जन्म-मरण (से); विवज्जियउ—रहित (विवर्जित); किम—कैसे; पावइ—पाता है; परलोउ—परलोक; उत्तम गति।

अर्थ—हे जोगी! जिसके हृदय में जन्म-मरण से रहित एक देव निवास नहीं करता, वह परलोक (उत्तम गति) कैसे प्राप्त कर सकता है?

भावार्थ—देव निर्दोष कहा गया है। जन्म होना, मरना, भूख-प्यास लगना ये संसार की सबसे बड़ी बीमारियाँ हैं। जहाँ पर जन्म, बुढ़ापा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख, संज्ञा, रोगादि नहीं हैं, वह सिद्धगति कही जाती है। सिद्ध सभी प्रकार के कर्म-मल से रहित ही होते हैं। बिना सम्यग्दर्शन के साधु नहीं होता और साधुत्व के बिना तप नहीं होता और संयम, तपके बिना पूर्ण वीतरागता की उपलब्धि नहीं होती। पूर्ण वीतरागी हुए बिना कोई जन्म-मरण के दुःखों व दोषों का अभाव नहीं कर सकता है। पूर्ण वीतराग होते ही कैवल्य-बोध होता है और केवलज्ञान होने के पश्चात् जीवन्मुक्त सर्वज्ञ परमात्मा होते हैं। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥

रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 5

अर्थात्—धर्म का मूल परमात्मदेव हैं। उनके तीन गुण हैं—निर्दोषत्व, सर्वज्ञत्व, परम हितोपदेशकत्व। उनके क्षुधा, तृषा, विस्मय स्वेद, शोक, रोग, मल-मूत्र, मोह, भय, निद्रा, रति, राग-द्वेष, चिन्ता, खेद, मद, जन्म-मरण आदि अठारह दोषों का अभाव है। वे एक समय में त्रिकालवर्ती सभी द्रव्यों और उनके गुण-पर्यायों को एक साथ प्रत्यक्ष जानते हैं, इसलिए परम हितोपदेशी हैं और मूल द्वादशांग रूप जिनवाणी

---

1. **अ, स** पर; **क, द, ब** ण वि 2. **अ** एकु; **क, द** इक्कु; **ब, स** एक्कु; 3. **अ, ब, स द** किम; **क** सो; 4. **क, द, ब, स** पावइ; **अ** पाईय।

(आगम) के कर्ता हैं, और इसीलिए यथार्थ में देव हैं। वे सदा काल परम सुख में विराजते हैं। ऐसे देव को ही परमेष्ठी कहते हैं। उनके कई नाम हैं—सिद्ध भगवान्, परमनिरंजन, परमज्योति, सर्वज्ञ, वीतराग, शास्ता आदि। जैसे मेघ बिना किसी प्रयोजन के लोगों के पुण्य के उदय से प्रचुर जल की वर्षा करते हैं, वैसे ही भगवान् लोगों के पुण्य के निमित्त से विभिन्न देशों में विहार करते हैं और धर्मामृत की वर्षा करते हुए आत्महित तथा परमोपकार हेतु उपदेश देते हैं। वास्तव में शास्त्र भी उसे कहते हैं जो सर्वज्ञ, वीतराग का कहा हुआ है और जिसका उल्लंघन वादी-प्रतिवादी के द्वारा नहीं किया जा सकता है।

एक्कु सुवेयइ अण्णु ण वेयइ[1]।
तासु चरिउ[2] णउ जाणहि[3] देवइं ॥
जो अणुहवइ सो जि[4] परियाणइ।
पुच्छंतहं समित्ति को आणइ ॥166॥

शब्दार्थ—एक्कु—एक (परमतत्त्व को); सुवेयइ—अच्छी तरह जानता है; अण्णु—अन्य (को); ण—नहीं; वेयइ—जानता है, अनुभवता है (वेदति); तासु—उस (अनुभवी) का; चरिउ—चरित; णउ—नहीं; जाणहि—जाना जाता है; देवइं—देवों के द्वारा; जो अणुहवइ—जो अनुभवता है; सो जि—वही; परियाणइ—भलीभांति जानता है (परिजानाति); पुच्छंतहं—पूछने वालों की; समित्ति—संतृप्ति; को—कौन; आणइ—ला सकता है, दे सकता है।

अर्थ—एक (परमतत्त्व) को भली-भाँति जानता है, अन्य कुछ नहीं जानता। ऐसे (तत्त्वज्ञानी का) व्यक्ति का चारित्र देव भी नहीं जानते। वास्तव में तो जो अनुभव करता है, वही जानता है। पूछने वालों की तृप्ति कौन कर सकता है?

भावार्थ—वस्तुतः आत्मतत्त्व स्वानुभवगम्य है। वाद-विवाद या पूछ-परख से वह उपलब्ध नहीं होता। निज शुद्धात्मतत्त्व ही परमतत्व है। उसे जान लेने पर, उसका अनुभव हो जाने पर कुछ जानने योग्य नहीं रहता। स्वानुभव की ऐसी ही महिमा है। पं. राजमलजी पाण्डे के शब्दों में—

"मिथ्यात्वकर्म का रस पाक मिटने पर मिथ्यात्व भावरूप परिणमन मिटता है, तब वस्तुस्वरूप का प्रत्यक्षरूप से आस्वाद आता है, उसका नाम अनुभव है। अनुभव होने पर पर्याय के साथ का संस्कार छूट जाता है। विभाव परिणाम के मिटने पर

---

1. अ चेईय; क, द, ब, स वेयइ; 2. अ चरणउ; क, द, ब, स चरिउ णउ; 3. अ, ब जाणहि; क जाणइ; द, स जाणहिं; 4. अ जु; क, द, ब, स जि।

ही शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है। अनुभव निर्विकल्प होता है। जो जीव के शुद्धस्वरूप का अनुभव करता है, उसके ज्ञान में सकल पदार्थ उद्दीप्त होते हैं, उसके भाव अर्थात् गुण-पर्याय, उनसे निर्विकार रूप अनुभव है। निरुपाधिरूप से जीवद्रव्य जैसा है, वैसा ही प्रत्यक्षरूप से आस्वाद आता है। शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने पर जिस प्रकार नयविकल्प मिटते हैं, उसी प्रकार समस्त कर्म के उदय से होने वाले जितने भाव हैं, वे भी अवश्य मिटते हैं, ऐसा स्वभाव है। कोई ऐसा मानेगा कि जितनी ज्ञान की पर्याय है वे समस्त अशुद्ध रूप हैं सो ऐसा तो नहीं, कारण कि जिस प्रकार ज्ञान शुद्ध है, उसी प्रकार ज्ञान की पर्याय वस्तु का स्वरूप है; इसलिए शुद्ध स्वरूप है। परन्तु एक विशेष-पर्याय मात्र का अवधारण करने पर विकल्प उत्पन्न होता है; अनुभव निर्विकल्प है। इसलिए वस्तुमात्र अनुभवने पर समस्त पर्याय भी ज्ञानमात्र है। इसलिए ज्ञानमात्र अनुभव योग्य है। अनुभव ही चिन्तामणि रत्न है।"

जं लिहिउ[1] ण पुच्छिउ कहण[2] जाइ,
कहियउ[3] कासु वि णउ चित्ति ठाइ।
अह गुरुउवएसें[4] चित्ति ठाइ,
तं तेम धरंतह कहिमि ठाइ ॥167॥

शब्दार्थ—जं—जो (अनुभव); लिहिउ—लिखा (जाता); ण पुच्छिउ—न पूछा (जाता है); कहण—कहा (नहीं); जाइ—जाता है; कहियउ—कहा हुआ; कासु वि—किसी के भी; णउ—नहीं; चित्ति—चित्त में; ठाइ—ठहरता है; अह—अथवा; गुरु उवएसें—गुरु के उपदेश से; चित्ति—चित्त में; ठाइ—ठहरता है; तं—उसे; तेम—उसी तरह (वैसा ही); धरंतहं—धरने वालों, धारण करने के; कहिमि—कहीं भी (किसी भी भूमिका में); ठाइ—स्थित (हो)।

अर्थ—जो किसी प्रकार लिखा, पूछा तथा कहा नहीं जाता और किसी प्रकार उसे कहा भी जाए, तो वह किसी के चित्त में नहीं ठहरता। यदि गुरु उपदेश देते हैं, तो ही चित्त में ठहरता है। फिर, धारण करने वाले कहीं भी स्थित हों।

भावार्थ—मर्म की बात अकथ्य होती है, वह कहने में नहीं आती है। वास्तव में अनुभव की बात ठीक से पूरी तरह कही नहीं जा सकती है। उसके विषय में यही कहा जा सकता है—

"गूंगे केरी शर्करा बैठ खाइ, मुस्काय।"

---

1. अ लहिउ; क, द, स लिहिउ; ब लिहियउ; 2. अ, स कहण; क, द, ब कहव; 3. अ कहिउ; क, द, ब, स कहियउ; 4. अ गुरुउवएसह; क, द, स गुरुउवएसें; ब गुरुउवएसिं।

गूँगा कह नहीं सकता है, लेकिन अनुभव कर सकता है। इसी प्रकार परमात्मा से मिलन की बात कोई कह नहीं सकता। जो कहा नहीं जा सकता है, जिसका केवल स्वाद लिया जा सकता है, वह लिखा और पूछा भी नहीं जा सकता है। यदि कोई कुछ कहने का प्रयास करे और कदाचित् कुछ बताना भी चाहे, तो उसकी भाषा सांकेतिक ही होगी जो सामने वाले को समझ में नहीं आ सकती है और दो-चार संकेतों से कुछ समझ में आया तो वह चित्त में जमती नहीं है, बहुत अटपटी लगती है। सद्गुरु समझने वाले की इस कठिनाई को भली-भाँति समझते हैं। इसलिए वे सामने वाले को ऐसा समझाते हैं, जैसे अपने अज्ञानी मन को प्रतिबोध दे रहे हों। समझ में आने पर भी विरले ही इस 'अकथ' को धारण करते हैं। वास्तव में गूढ़ रहस्यपूर्ण अनुभव सहज होने पर भी किसी अनुभवी को ही अनुभव से समझ में आता है। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह तीर्थ तथा तीर्थंकर के पास हो या सद्गुरु की शिक्षा मिलने पर ही वह समझ सकेगा? जो अपने स्वभाव के सन्मुख है, जिसे तत्त्वाभ्यासपूर्वक भेद-विज्ञान हो गया है, वह सत्य की या निज शुद्धात्मा की अनुभूति प्राप्त कर लेता है। इसके बिना सम्यग्दर्शन (धर्म का प्रारम्भ) नहीं होता है।

कड्ढइ[1] सरिजलु जलहिविपिल्लउ।
जाणु पवाणु पवणपडिपिल्लिउ[2] ॥
बोहु विबोहु तेम संघट्टइ[3]।
अवर हि उत्तउ ता णु[4] पयट्टइ ॥168॥

शब्दार्थ—कड्ढइ—आकर्षित होता है; सरिजलु—नदी का पानी; जलहि-विपिल्लिउ—समुद्र द्वारा विपरीत दिशा में प्रेरित किया गया; जाणु—यान, जहाज; पवाणु—उच्च, प्रामाणिक; पवणपडिपिल्लिउ—पवन से प्रेरित किया गया; बोहु—बोध; विबोहु—विबोध; तेम—वैसे ही, उसी प्रकार; संघट्टइ—संघर्ष होता है; अवर—अन्य; हि—ही; उत्तउ—उक्त, कहा गया; ता णु—वही; पयट्टइ—प्रवृत्त हो जाती है।

अर्थ—समुद्र के द्वारा विपरीत दिशा में प्रेरित होने से नदी का जल खिंचता है तथा बड़े-बड़े भारी जहाज भी पवन से प्रेरित होकर चल पड़ते हैं। इसी प्रकार जब बोध और विबोध का संघर्ष होता है, तब अन्य बात ही प्रवृत्त हो जाती है।

---

1. अ वट्टइ; क, द, ब, स कड्ढइ; 2. अ, क, द, स पवणपडिपिल्लिउ; ब पवणपडिपेल्लिय; 3. अ, क संवट्टइ; द, ब, स संघट्टइ; 4. अ, क, ब ताण; द ता णु; स तणु।

भावार्थ—समान प्रवाह में बहने वाला नदी का जल जिस प्रकार विपरीत दिशा से बहने वाली वायु के वेग से प्रेरित होकर वह विपरीत दिशा में बहने लगता है, उसी प्रकार कर्म रूपी पवन से प्रेरित होकर शान्तचित्त मनुष्य भी भावों के द्वन्द्वों तथा संघर्षों में लिप्त हो जाता है। इसलिए ऊपर से दिखने वाला कुछ भीतर से कुछ अन्य ही आभासित होता है। यह सब कर्म का प्रभाव समझना चाहिए कि मनुष्य करना कुछ चाहता है और करते समय विचार बदलकर कुछ अन्य ही कर बैठता है। यदि ऐसा न हो तो हम कर्म का अनुमान नहीं लगा सकते। वास्तव में चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से तरह-तरह की इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। इच्छा तब तक उत्पन्न होती रहती हैं, जब तक आत्मज्ञान पूर्वक आत्मस्वभाव में स्थिरता नहीं होती है। जो जीव स्वभाव में स्थिर होकर अपने स्वरूप का अनुभव करता है, उस जीव का चित्त वन के बीच में रहते हुए भी शान्त रस से भर जाता है और आनन्दित होता है। ऐसा ही व्यक्ति घनघोर संसार से छूट जाता है और उसे मोक्ष सुख की उपलब्धि होती है। अतः कर्मों के उदय का विचार कर उनसे भयभीत नहीं होना चाहिए। क्योंकि कर्मों का सम्बन्ध सब पुरुषों के लिए समान होने पर भी ज्ञानी के लिए वह होने पर भी नहीं के बराबर होता है; जैसे तैरने में प्रवीण तैराक के लिए नदी का प्रवाह तेज होने पर भी बाधक नहीं होता है।(पद्मनन्दिपंचविंशतिका—57)

अंबरि विविहु सद्दु जो सुम्मइ[1]।
तहिं[2] पइसरहुं ण वुच्चइ दुम्मइ ॥
मणु पंचहिं सिहु अत्थवण[3] जाइ।
मूढा परमतत्तु फुडु तिहि[4] जि ठाइ ॥169॥

शब्दार्थ—अंबरि—आकाश में; विविहु—विविध, अनेक तरह के; सद्द—शब्द; जो सुम्मइ—सुना जाता है; तहिं—वहाँ; पइसरहुं—प्रवेश करो; ण वुच्चइ—नहीं कहा जाता है; दुम्मइ—दुर्मति (से); मणु—मन; पंचहिं—पाँचों (इन्द्रियों); सिहु—सहित, साथ; अत्थवण जाइ—अस्तंगत हो जाता है; मूढा—हे मूढ!; परमतत्तु—परमतत्त्व; फुडु—स्पष्ट (है); तिहि जि ठाइ—वहीं पर ही रहता है।

अर्थ—आकाश में जो तरह-तरह के शब्द सुनाई पड़ते हैं, वहाँ प्रवेश कर दुर्मति कुछ नहीं बोलता। जब मन पाँचों इन्द्रियों सहित विलीन हो जाता है, तब हे मूढ़! वह परमतत्त्व स्पष्ट रूप से वहीं ही रहता है।

---

1. **अ, क, द, स** सुम्मइ; **ब** सम्मइ; 2. **अ, ब,** तहि; **क, द, स** तहिं; 3. **अ** अंथवण; **क** अंथवणह; **द, ब, स** अत्थवण; 4. **अ** प्रति में 'फुडु' नहीं है:::.तिहि; **क, द, ब, स** तहिं।

भावार्थ—योग-साधना में साधक को योगाभ्यास की विशेष स्थिति में अनहद नाद (बिना बजाये मधुर संगीतमय ध्वनि) स्वतः सुनाई पड़ता है, किन्तु वह ध्यानस्थ स्थिति है। वहाँ पर कोई वचन-व्यापार नहीं है। साधना-काल में यह तभी सम्भव होता है, जब मन पाँचों इन्द्रियों के साथ विलय को प्राप्त हो जाता है। जब तक मन समाधि में ज्ञानानन्द स्वभावी परमतत्त्व के साथ एकता को प्राप्त नहीं होता, तब तक उछल-कूद करता रहता है। तरह-तरह के विकल्प करना-यह साधना का लक्षण नहीं है। आत्मा तथा परमात्मा वीतराग, निर्विकल्पक है, इसलिए उसे प्राप्त करने के लिए वीतराग, निर्विकल्प होने की साधना करना ही परमार्थ है।

परमार्थ ही परमपद को पाने का एक मात्र मार्ग है। क्योंकि ज्ञान के अतिरिक्त सभी गुण निर्विकल्प हैं। विकल्प दो प्रकार का होता है—रागात्मक और ज्ञानात्मक। राग के होने पर ही ज्ञान में योगों की प्रवृत्ति का परिवर्तन होता रहता है। एक ज्ञान के विषयभूत पदार्थ से विषयान्तर को प्राप्त होने वाली जो ज्ञेयाकार रूप ज्ञान की पर्याय है, वह विकल्प कही जाती है। (पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध, श्लोक 834) पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में—"राग-द्वेष के वश तैं किसी ज्ञेय के जानने तैं छुड़ावना, ऐसैं बार-बार उपयोग को भ्रमावना, ताका नाम विकल्प है। बहुरि जहाँ वीतराग रूप होय जाकों जानै है, ताकों यथार्थ जानै है। अन्य अन्य ज्ञेय के जानने के अर्थि उपयोग कों नाहीं भ्रमावै है, तहाँ निर्विकल्पदशा जाननी।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक, 7)

अखइ[1] णिरामइ परमगइ अज्ज वि लउ ण लहंति।
भग्गी[2] मणहं ण भंतडी[3] तिम दिवहडा[4] गणंति[5] ॥170॥

शब्दार्थ—अखइ—अक्षय; णिरामइ—निरामय; परमगइ—श्रेष्ठ गति; अज्ज वि—आज भी; लउ—विलय (को); ण लहंति—नहीं प्राप्त करते हैं; भग्गी—भग्न हुई; ण—नहीं; मणहं—मन की; भंतड़ी—भ्रान्ति; तिम—तथा; दिवहडा—दिन; गणंति—गिनते हैं।

अर्थ—मन की भ्रान्ति नहीं मिटने से वही दिन गिनने पड़ते हैं जिनमें मन विलय को प्राप्त नहीं है, और इसीलिए अक्षय, निरामय, परमगति आज भी उपलब्ध नहीं है।

भावार्थ—वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा नहीं समझना, यही भ्रान्ति है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूपी वस्तु है, लेकिन उसे तरह-तरह की इच्छाओं वाला, परेशान समझना

---

1. **अ, क, स** अखइ; **द** अखय; **ब** अक्खइ; 2. **अ** भग्गि; **क, ब, स** भग्गी; **द** भग्गा; 3. **अ** भत्तडी; **क, द** भंतडी; **ब** भातडी; **स** भांतडी; 4. **अ** दियहडा; **क, द, स** दिवहडा; **ब** दिवडा; 5. **अ** भणंति; **क, द, ब, स** गणंति।

वास्तव में बहुत बड़ा भ्रम है। यदि किसी को पागलपन की भ्रान्ति हो जाए, तो वह सदा अपने को रोगी समझने के कारण हमेशा दुःखी, परेशान ही रहेगा। इसी प्रकार से राग-द्वेष को अपना स्वरूप समझने वाले संसारी जीव को भ्रान्ति का बहुत बड़ा रोग अनादि से बना हुआ है। इस बीमारी को मिटाने का एक मात्र इलाज 'तत्त्वज्ञान' है। वस्तु की यथार्थता भासित होते ही अज्ञान व भ्रम कपूर की तरह उड़ जाता है। जब तक भ्रम व अज्ञान है, तब तक वास्तविकता भासित नहीं होती तथा विकल्पों का अम्बार लगा रहता है। तरह-तरह के विकल्पों के होने पर मन भटकता रहता है, कभी भी एक ज्ञेय पर स्थिर नहीं रहता। बार-बार उपयोग को भ्रमाने से मन में चंचलता तथा अस्थिरता बनी रहती है। पं. दीपचन्द शाह के शब्दों में–

"नट स्वाँग धरैं नाचे है, स्वाँग न धरै तो पररूप नाचना मिटै। ममत्व तैं पररूप होय चौरासी का स्वाँग धरि नाचै है। ममत्व कौ मेंटि सहज पद कों भेंटि थिर रहै तौ नाचना न होय। चंचलता मेंटे चिदानन्द उघरे है, ज्ञान दृष्टि खुलै है। नेक स्वरूप में सुथिर भये गति भ्रमण मिटै है। तातें जे स्वरूप में सदा स्थिर रहें ते धन्य हैं।" (अनुभव प्रकाश, पृ. 27)

तथा–"स्वसंवेदन स्थिरता करि उपज्यो रसास्वाद स्वानुभव सो अनन्त सुखमूल है। सो अनुभव धाराधर जागने पर दुःख-दावानल रंच भी नहीं रहता।" (वही, पृ. 62)

सहजअवत्थहिं[1] करहुलउ जोइय[2] जंतउ वारि।
अखइ णिरामइ पेसियउ[3] सइं[4] होसइ[5] संहारि ॥171॥

शब्दार्थ–सहजअवत्थहिं–सहज अवस्था में; करहुलउ–(मन रूपी) ऊँट; जोइय–हे योगी!; जंतउ–जाते हुए (को); वारि–निवारो, रोको; अखइ–अक्षय; णिरामइ–निरामय (में); पेसियउ–प्रविष्ट (होने पर); सइं–स्वयं; होसइ–होगा; संहारि–विनाश, विलय।

अर्थ–हे जोगी! सहज अवस्था में (प्रवेश करते हुए) जाते हुए इस मन रूपी ऊँट को रोको। अक्षय, निरामय में प्रविष्ट होने पर मन का अपने आप संहार हो जाएगा अर्थात् एक बार विलीन होने पर उसका अस्तित्व नहीं रहेगा।

भावार्थ–मन बहुत चंचल है। 'ऊँट' मन का प्रतीक है। जैसी ऊँट में स्फूर्ति तथा चाल में गतिशीलता होती है, वैसे ही मन चंचल और कल्पनाशील है। उसे कहीं

---

1. **अ** सहज अवत्थइ; **क, द** सहज अवत्थहिं; **ब, स** सहज अवत्थइं; 2. **अ, द** जोई; **क, स** जोइय; **ब** जोइ; 3. **अ** पेसिलउ; **क, द, ब, स** पेसियउ; 4. **अ** सइ; **क, द, ब, स** सइं; 5. **अ** होसिइं; **क, द, ब, स** होसइ।

भी उड़ते देर नहीं लगती है। अतः मन की चपलता असीम है। ऐसे मन को जीतने का एक मात्र उपाय है–भेद-विज्ञान।

आचार्य शुभचन्द्र के शब्दों में–

पृथक्करोति यो धीरः स्वपरावेकतां गतौ।
स चापलं निगृह्णाति पूर्वमेवान्तरात्मनः ॥ज्ञानार्णव, 20, 13

अर्थात्–जो धैर्यवान एकता को प्राप्त हुए आत्मा और शरीरादि पर वस्तु को अलग-अलग करके अनुभव करते हैं, वे पहले अन्तरात्मा होकर मन की चंचलता को रोक देते हैं।

वास्तव में मन को जीतने के लिए प्रथम सांसारिक पर वस्तु से मोह हटाना पड़ता है। संसार के सभी पदार्थों से मोह हट जाने पर मन एकाग्र हो जाता है। जब तक संसार में एक तृण की भी अभिलाषा है तब तक धर्म-ध्यान नहीं होता। कहा भी है–

पवन वेग हू तैं प्रबल, मन भरमै सब ठौर।
याको वश करि निज रमैं, ते मुनि सब शिरमौर ॥

अर्थात्–पवन की गति से भी अधिक प्रबल मन सभी स्थानों पर भरमाया हुआ है। जो साधु, मुनि इसको वश में करके निज शुद्धात्मा में रमण करता है, वह मुनि सर्वश्रेष्ठ है।

अखइ[1] णिरामइ परमगइ[2] मणु घल्लेप्पिणु मिल्लि।
तुट्टेसइ मा भंति करि आवागमणहं[3] वेल्लि[4] ॥172॥

शब्दार्थ–अखइ–अक्षय; णिरामइ–निरामय; परमगइ–परमगति, शिव–सुख (में); मणु–मन को; घल्लेप्पिणु–घाल कर, डाल कर, लगा कर; मिल्लि–छोड़ दे, विश्राम ले ले; तुट्टेसइ–टूटेगी; मा–मत; भंति, भ्रान्ति करि–करो; आवागमणहं–आवागमन की; वेल्लि–वेल।

अर्थ–अक्षय, निरामय, परमगति में मन को फेंक कर छोड़ दे। आवागमन की बेल टूट जाएगी, इसमें भ्रान्ति मत कर।

भावार्थ–ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि मैं सदैव अकेला हूँ। अपने ज्ञान-दर्शन रस से भरपूर अपने ही आश्रय हूँ। भ्रमजाल का कूप मोहकर्म मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य सिन्धु है। वास्तव में शरीर, वाणी और मन

---

1. अ, क स अखइ; द अखय; ब अक्खइ; 2. अ परमगइं; क, द, स परमगइ; ब परमगई; 3. अ, ब, स आवागमणह; क, द आवागमणहं; 4. अ मिल्लि; क, द स वेल्लि; ब बेल्लि।

के स्वरूप का आधारभूत ऐसा अचेतन द्रव्य मैं नहीं हूँ, क्योंकि मेरे स्वरूपाधार के बिना वे वास्तव में अपने स्वरूप को धारण करते हैं। (आ. अमृतचन्द्र : प्रवचनसार, गा. 160 की टीका तथा गा. 161)

मेरा आत्मा एक अकेला ही है, अविनाशी है, ज्ञान-दर्शन स्वरूप है। मेरे शुद्धात्मा के भाव को छोड़कर जितने भी रागादि भाव हैं, वे सब पुद्गल के संयोग से होते है। अतएव ये मेरे आत्मा से बाहर हैं। (कुलधराचार्य : सार समुच्चय, 247)

शुद्ध चिद्रूप के ध्यान से ऐसा कोई परमानन्द होता है कि उसका अंश तीन जगत् में स्वामियों को भी नहीं होता। (भ. ज्ञानभूषण : तत्त्वज्ञानतरंगिणी, गा. 4)

ऊपर दोहे में जो परमगति में मन को फेंकने के लिए कहा है सो उसका तात्पर्य केवल इतना है कि एक बार शुभ, अशुभ भावों को छोड़कर निर्विकल्प आत्मानुभव में लग जाने पर एक-न-एक दिन संसार का आवागमन अवश्य समाप्त हो जाता है। इसमें कोई सन्देह या भ्रम नहीं है। कैसा है निर्विकल्प अनुभव? जिसमें पठन, पाठन, स्मरण, चिंतवन, स्तुति, वन्दना इत्यादि अनेक क्रिया रूप विकल्प विष के समान कहे गये हैं। निर्विकल्प अनुभव सुखरूप है, इसलिए उपादेय है, नाना प्रकार के विकल्प आकुलता रूप हैं, इसलिए हेय हैं।

एम्वइ[1] अप्पा[2] झाइयइ अविचलु चित्तु धरेवि।
सिद्धिमहापुरि जाइयइ[3] अट्ठ वि कम्म हणेवि ॥173॥

शब्दार्थ—एम्वइ—इस प्रकार; अप्पा—आत्मा (को); झाइयइ—ध्याया जाता है, ध्यान करते हैं; अविचलु—निश्चल; चित्तु—चित्त को; धरेवि—धारण कर; सिद्धिमहापुरि—सिद्धों की महानगरी में; जाइयइ—गमन किया जाता है, जाते हैं; अट्ठ वि—आठों ही; कम्म—कर्मों को; हणेवि—नष्ट कर।

अर्थ—इस प्रकार चित्त को निश्चल कर आत्मा का ध्यान किया जाता है। आठों कर्मों का नाश करके ही सिद्ध-महापुरी मुक्ति को गमन किया जाता है।

भावार्थ—जैसे तरंगित जल के शान्त तथा निश्चल हो जाने पर उसमें पदार्थ झलकने लगते हैं, उसी प्रकार चंचल चित्त के निश्चल होते ही निज शुद्धात्मा की झलक साधक उपलब्ध कर लेता है। ज्ञानज्योति समस्त जीवों के अन्तरंग में रहती है। अनेक प्रकार की बाहरी क्रियाओं से वह प्रकट नहीं होती। केवल तत्त्व के अभ्यास के द्वारा ही उस ज्ञानानुभूति या आत्मानुभूति को प्राप्त किया जा सकता

---

1. **अ, क, द** एमइ; **ब** एमई; **स** एम्वइ; 2. **अ** अप्पइ; **क, द, ब, स** अप्पा; 3. **अ** जाइजइ; **क, द, ब, स** जाइयइ।

है। क्योंकि वह मन, वचन, काय और युक्ति से भी अगम्य है। मन्त्र, तन्त्र, आसन आदि भी मात्र बाहरी साधन हैं। वास्तव में आत्मध्यान की कला के प्रकट होने पर ही सहज रूप से चित्त निश्चल हो जाता है और आत्मज्ञान प्रकट हो जाता है। पं. बनारसीदास के शब्दों में—

जिन्हके हिये मैं सत्य सूरज उदोत भयौ,
फैली मति किरन मिथ्यात तम नष्ट है।
जिन्ह की सुदिष्टि मैं न परचै विषमता सौं,
समता सौं प्रीति ममता सौं लष्ट पुष्ट है ॥
जिन्ह के कटाक्ष मैं सहज मोखपंथ सधै,
मन कौ निरोध जाके तन कौ न कष्ट है।
तिन्ह के करम की कलोलैं यह है समाधि,
डोलै यह जोगासन बोलै यह मष्ट है॥—समयसारनाटक, निर्जराद्वार, 28

अर्थ—जिनके हृदय में अनुभव का सत्य सूर्य प्रकाशित हुआ है और सुबुद्धि रूप किरणें फैल कर मिथ्यात्व का अन्धकार नष्ट करती हैं, जिनके श्रद्धान में राग-द्वेष से नाता नहीं है, समता से जिनका प्रेम है और ममता से द्रोह है, जिनकी चितवन मात्र से मोक्षमार्ग सधता है और जो कायक्लेश आदि के बिना योगों का निग्रह करते हैं, उन सम्यग्ज्ञानी जीवों के विषय-योग भी समाधि हैं, चलना-फिरना योग व आसन हैं और बोलना-चालना ही मौनव्रत है।

यथार्थ में जैनधर्म हठयोग नहीं मानता है। इसलिए योग-क्रियाओं से मोक्ष-मार्ग प्रारम्भ नहीं होता।

अक्खरचडिया[1] मसिमिलिया[2] पाढंता गय[3] खीण[4]।
एक्क ण जाणी[5] परम कला कहिं[6] उग्गउ[7] कहिं लीण ॥174॥

शब्दार्थ—अक्खरचडिया—अक्षरारूढ़, अक्षरों में अंकित; मसिमिलिया—स्याहीमिश्रित, स्याही से लिखे हुए; पाढंता—पढ़ते हुए; गय—हो गए; खीण—क्षीण; एक्क—एक; ण जाणी—नहीं जानी; परम कला; कहिं—कहाँ से (मन); उग्गउ—ऊगा है, उत्पन्न हुआ है; कहिं—कहाँ; लीण—विलीन (होता है)।

1. अ अखरचडिया; क, द, ब, स अक्खरचडिया; 2. अ मसिघसिया; क, द, स मसिमिलिया; ब मसिमिल्लिया; 3. अ गइ; क, द, ब, स गय; 4. अ, क, द, स खीण; ब खीणु; 5. अ जाणीय; क, द, स जाणी; ब जाणहिं; 6. अ, ब कहि; क, द, स कहिं; 7. अ उयउ; क, द, ब, स उग्गउ।

अर्थ—स्याही से लिखे हुए अक्षरों में अंकित शास्त्रों को पढ़ते-पढ़ते हम क्षीण हो गये, लेकिन एक इस परमकला को नहीं जान पाए कि यह मन कहाँ से उत्पन्न होता है और कहाँ विलीन हो जाता है।

भावार्थ—आचार्य अमितगति मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे मन! तेरे द्वारा अनेक प्रकार के भोग बार-बार भोगकर छोड़े जा चुके हैं। अहो! अत्यन्त खेद की बात है कि तू बार-बार उनकी ही इच्छा करता है। ये विषय-भोग इच्छा रूपी अग्नि में घी डालनें के समान हैं, तृष्णा को बढ़ाने वाले हैं। तृष्णा की बुद्धि वाला होने के कारण तू कभी भी उनसे तृप्त नहीं हो सकता। जैसे कड़ी धूप से तप्तायमान स्थान में या आग से तपाये हुए स्थान में वेल उत्पन्न नहीं हो सकती, उसी प्रकार भोगों से शान्ति नहीं मिल सकती। (तत्त्वभावना, श्लोक 61)

आचार्य देवसेन का कथन है कि मन-मन्दिर के उजड़ जाने पर उसमें कोई संकल्प-विकल्प नहीं रहते। यही नहीं, सभी इन्द्रियों के व्यापार से रहित होने पर आत्मा का स्वभाव अवश्य प्रकट हो जाता है और स्वभाव प्रकट होने पर आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। (आराधनासार, 84)

यथार्थ में मिथ्यात्व, रागादि विकल्प हैं। 'विकल्प' कहने से मिथ्यात्व और रागादि दोनों का ग्रहण होता है। मन इनके साथ वसता है। अनादि काल से इनके संग में मन रह रहा है। इसलिए ये ही अच्छे लगते हैं, रुचते हैं। सूक्ष्म विकल्पों में भी कषाय मन्द होने से दुःख भासित नहीं होता, इसलिए अज्ञानी उनमें रम जाता है। और यही कारण है कि उन विकल्पों से हटते नहीं बनता। परन्तु जब स्वरूप के लक्ष्यपूर्वक स्वरूप के प्रति यथार्थ पुरुषार्थ होता है, तब उन विकल्पों में तीव्र दुःखों का अहसास होने से उनसे सहज ही हटने का भाव हो जाता है। विकल्पों से हटने पर निर्विकल्प दशा प्रकट होती है, जहाँ परमानन्द की अनुभूति होती है। वहाँ पर मन और मन का कार्य लक्षित नहीं होता। अतः वह जानन, जानन, ज्ञानानन्द की सहज स्थिति होती है।

वे भंजेविणु एक्कु किउ मणहं णु चारिय विल्लि[1]।
तहि[2] गुरुवहि[3] हउं सिस्सिणी[4] अण्णहि करमि ण लल्लि ॥175॥

शब्दार्थ—वे—दो; भंजेविणु—मिटा कर; एक्कु—एक; किउ—किया; मणहं—मनकी; णु—नु; नहीं; चारिय—चढ़ने, बढ़ने दिया; विल्लि—बेल (को);

1. अ वेलि; क, द, ब, स विल्लि; 2. अ, क, द तहि; ब, स तहिं; 3. अ गुरुवहिं; क, द, स गुरुवहि; ब गुरुबहिं; 4. अ, स सीसिणी; क, द, सिस्सिणी; ब सिसिणी।

तहि—उस; गुरुवहि—गुरुकी; हउं—मैं; सिस्सिणी—शिष्या; अण्णहि—अन्य की; करमि—करती हूँ; ण लल्लि—नहीं लालसा।

अर्थ—जिसने दो को मिटाकर एक कर दिया और मन की बेल को आगे नहीं बढ़ने दिया, उस गुरु की मैं शिष्या हूँ; अन्य की लालसा नहीं करती।

भावार्थ—आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि समस्त भेद, सम्पूर्ण द्वैत व्यवहार में है, इसलिए एक अखण्ड आत्मा अनेक रूपों में लक्षित होता है। आत्मा 5 प्रकार से अनेक रूप कहा गया है—(1) कर्म से बद्ध, स्पृष्ट, (2) कर्म निमित्तज विभाव पर्याय से सहित, (3) शक्ति के अविभागी प्रतिच्छेदी अंशों में हानि-वृद्धि रूप, (4) दर्शन, ज्ञानदि अनन्त गुणवान, (5) राग-द्वेष, सुख-दुःखादि से समन्वित। किन्तु वस्तुतः परमार्थ से आत्मा एक 'चिन्मात्र' रूप ही है। क्योंकि चैतन्य सत्ता में वह कभी एक से दो या अनेक भेद रूप नहीं रहा। चैतन्य वस्तु का सत्त्व निर्विकल्प मात्र है। चैतन्य भाव कर्म की उपाधि से रहित वीतराग स्वरूप है।

आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

> उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
> क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
> किमपरभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्।
> अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥समयसारकलश, 9

अर्थ—इस स्वयंसिद्ध चेतनस्वरूपी जीवनवस्तु का प्रत्यक्ष रूप आस्वाद आने पर सूक्ष्म-स्थूल अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प सभी विकल्प विलीन हो जाते हैं। इसलिए जिस समय निज शुद्धात्मा का अनुभव है, उस काल में प्रमाण, नय, निक्षेप आदि का अहसास नहीं होता। वह तो एक निर्विकल्प अद्वैत अवस्था है जिसमें राग-द्वेष रूप कोई द्वैत नहीं होता। वस्तुतः चैतन्य से ही जीव द्रव्य की सिद्धि है।

यद्यपि ज्ञान, दर्शन आदि नाम-रूपों से उसे समझाया जाता है, लेकिन वह चेतना शक्तिमान है। यदि वह चैतन्य शक्ति द्वैतरूप हो जाए तो अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी। अतः "अद्वैतापि हि चेतना जगति" (समयसारकलश, 183) वह चेतना कभी भी अपने सत्त्व का त्याग नहीं करती।

वास्तव में यह मन का भ्रम है कि मैं दो हूँ। प्रत्येक जीवद्रव्य अपने चैतन्यसत्त्व में विलास करता है। वहाँ दो नहीं हैं, एक ही है—ऐसा जब आत्मा अनुभव करती है, तब वह एकत्व रूप से भिन्न अन्य कोई अभिलाषा प्रकट नहीं करती। परमात्मा गुरु है और आत्मा शिष्या है। गुरु ने दो से एक होने की विधि बतलाई है। जब परमात्मस्वरूप अनुभव में प्रकट हो जाता है तब द्वैत मिटकर एक हो जाता है।

अग्गइं[1] पच्छइं[2] दहदिहहिं[3] जहिं[4] जोवउं[5] तहिं[6] सोइ[7] ।
ता महु फिट्टिय[8] भंतडी अवसु ण पुच्छइ[9] कोइ ॥176॥

शब्दार्थ—अग्गइं—आगे; पच्छइं—पीछे; दहदिहहिं—दशों दिशाओं में; जहिं—जहाँ; जोवउं—देखता हूँ; तहिं—वहीं; सोइ—वह है; ता—तब; महु—मेरी; फिट्टिय—मिट गई; भंतडी—भ्रान्ति; अवसु—अवश्य; ण—नहीं; पुच्छइ—पूछता है; कोइ—कोई।

अर्थ—आगे-पीछे, दशों दिशाओं में, जहाँ मैं देखता हूँ वहीं वह है। इसलिए अब मेरी भ्रान्ति मिट गई है। किसी से पूछना आवश्यक नहीं रहा।

भावार्थ—उक्त दोनों दोहों में रहस्यपरक भावात्मकसत्ता का वर्णन किया है। जब तक द्वैत बुद्धि है, तब तक भ्रान्ति है। चैतन्य मात्र का अवलोकन होने पर आत्मानुभवी पुरुष को चारों ओर प्रत्येक प्राणी में भगवान् आत्मा दिखलाई पड़ता है। वह प्रत्येक जीव को भगवान् आत्मा से कम नहीं समझता। उसे अपने और पराये सभी प्राणियों में बाहर से दिखने वाले तरह-तरह के आकार लक्षित न होकर केवल एक चेतन सत्तात्मक भगवान् आत्मा नजर आता है। उसकी सारी दृष्टि चैतन्यात्मक है। उसे चेतन से भिन्न कुछ अन्य दृष्टिगोचर नहीं होता। वस्तुतः यह भावात्मक सत्ता है।

यथार्थ में ज्ञानी को प्रत्येक प्राणी में भगवान् आत्मा लक्षित होता है। यद्यपि सभी जीवों की सत्ता भिन्न-भिन्न है, लेकिन उनमें भेद न होने से वह सभी चेतन द्रव्यों को समान रूप से देखता है। यह देखना वस्तुतः भावात्मक सत्ता रूप है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि ज्ञानी जिस स्वरूप से अपने द्वारा अपने को अपने समान अनुभव करता है, वही अपने को समझता है। वह विचार करता है कि जो कुछ मैं इन्द्रियों से देखता हूँ, वह मेरा नहीं है। जब मैं इन्द्रियों को रोककर अपने भीतर देखता हूँ, तो वहाँ पर परमानन्दमय उत्तम ज्ञानज्योति परिलक्षित होती है, वही मैं हूँ। (समाधिशतक, श्लोक 51)

---

1. अ अग्गइ; क, द, ब, स अग्गइं; 2. अ पच्छइ; क, द, ब, स पच्छइं; 2. अ दहदिहहि; क, द, ब, स दहदिहहि; 4. अ जहि; क, द, ब, स जहिं; 5. अ, ब, स जोवउ; क, द जोवउं; 6. अ तिहि; क, द, ब, स तहिं; 7. अ, क, द, स सोइ; ब सोउ; 8. अ फिट्टइ; क, द, स फिट्टिय; 9. अ पुच्छउ; क, द, स पुच्छइ; ब न पूछइ।

जिम[1] लोणु[2] विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ[3] चित्तु विलिज्ज।
समरसि हूवइ जीवडा काइं समाहि करिज्ज ॥177॥

शब्दार्थ—जिम—जैसे; लोणु—नमक; विलिज्जइ—विलीन हो जाता है; पाणियहं—पानी का (में); तिम—उसी प्रकार; जइ—यदि; चित्तु—चित्त; विलिज्ज—विलीन होवे (तो); समरसि—समरस; हूवइ—हुआ; जीवडा—जीव; काइं—क्या; समाहि—समाधि; करिज्ज—करे?

अर्थ—जैसे नमक पानी में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार यदि चित्त (निज शुद्धात्मा में) विलीन हो जाए तो जीव समरस हो गया। समाधि में (इसके सिवाय) क्या किया जाता है? समरसता ही समाधि है।

भावार्थ—आचार्य उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे हंस! तू अपने मन को आत्मस्वरूप में लीनकर सदा इसी में संतुष्ट रह । इसी से तुझे तृप्ति होगी और इसी से उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। संसारी जीव विकल्प सहित हैं। अधिकतर रात-दिन चिन्ताओं से घिरे रहते हैं। इसलिए वे समस्त विकल्प-जाल से रहित निर्मल ज्ञान, दर्शन स्वभावी निज परमात्मा का संगम (भाव-सेवन) नहीं कर पाते हैं। जब तक निज शुद्धात्म-स्वभाव में लीनता नहीं होती है, तब तक सब दुःख को सहते हैं। श्री ब्रह्मदेवसूरि (परमात्मप्रकाश, 2,142 टीका में) समझाते हुए कहते हैं कि जो कोई अज्ञानी विषय-कषाय के वश होकर शिवसंगम (निजभाव) में लीन नहीं रहते, वे व्याकुलता रूप दुःख सहते रहते हैं। जो साधु-सन्त परम समाधि से रहित हैं, वे शान्तिमय निज शुद्धात्मा का अवलोकन नहीं कर पाते हैं। निज स्वभाव में, जल में नमक की भाँति जब तक मन विलीन नहीं हो जाता, तब तक यथार्थ में पुरुष परमात्मा का आराधक नहीं होता। शुद्धात्म तत्त्व के विराधक विषय-कषाय हैं। जो इनका अभाव न करे तो वह परमात्मस्वरूप का आराधक कैसे है? विषय-कषाय की निवृत्ति रूप शुद्धात्मा की अनुभूति वैराग्य से ही देखी जाती है। वैराग्य और तत्त्वज्ञान दोनों की मैत्री है। जहाँ पर निर्विकल्प परमात्म स्वरूप से विपरीत रागादि समस्त विकल्प विलय को प्राप्त हो जाते हैं, उसको ही परमसमाधि कहते हैं।

मुनिश्री योगीन्द्रदेव कहते हैं कि जब तक शुभ, अशुभ भाव दूर नहीं होते, तब तक समाधि नहीं हो सकती। समाधि का लक्षण शुद्धोपयोग है। उसमें समस्त रागादि विकल्पों का अभाव हो जाता है। (परमात्मप्रकाश, 2, 174-175)

---

1. अ जिमि; क, द, ब, स जिम; 2. अ लोण; क, द, ब, स लोणु; 3. अ, ब तिमज्जइ; क, द, स तिम जइ।

जइ[1] एक्कहि[2] पावीसि पिउ[3] अक्किय[4] कोडि करीसु[5]।
णं[6] अंगुलि पय पयडणइं[7] जिम सव्वंगइ सीसु ॥178॥

शब्दार्थ—जइ—यदि; एक्कहि—एक, एक ही; पावीसि—प्राप्त हो (कर लूँ); पिउ—प्रिय (तम) को; अक्किय—अपूर्व; कोडि—कुतूहल; करीसु—करूँगी; णं—मानो, ननु; अंगुलि—अंगुली; पय—पद, पैर, पयडणइं—प्रकट होने से; जिम—जिस प्रकार; सव्वंगइ—सभी अंग; सीसु—सिर (तक)।

अर्थ—यदि एक प्रिय को प्राप्त कर लूँ तो अपूर्व कौतुक करूँगी। निश्चय से पैर की एक अँगुली के प्रकट हो जाने पर सिर तक सर्वांग प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार प्रिय के प्रकट होते ही वीतराग निर्विकल्प समाधि प्रकट हो जाएगी।

भावार्थ—लिपिकारों की असावधानी से पाठ भ्रष्ट हो गया है। फिर भी भाव यह समझना चाहिए कि संसार में भूली हुई आत्मा जब अपने प्रिय परमात्मा को प्राप्त कर लेती है, तब अनेक तरह के माहात्म्य प्रकट हो जाते हैं। यहाँ पर अपने शुद्ध स्वभाव (ब्रह्म) के सन्मुख आत्मा का परमात्मा के लिए कथन है। आत्मा का ध्येय निरंजन परमात्मा की प्राप्ति है। परमात्मा की प्राप्ति समाधि से होती है। समाधि निर्विकल्प होती है। परमात्मा का आश्रय प्राप्त कर ही कोई आत्मा सुख-शान्ति को उपलब्ध हो सकती है। समाधि की दशा में परमात्मा के प्रकट हो जाने पर परमानन्द की अनुभूति होती है।

वास्तव में परमपद या अविनाशी मोक्षपद की प्राप्ति परमात्मा के प्रसाद से होती है। लेकिन वह किसी व्यक्ति या अन्य किसी महान् शक्ति का कार्य न होकर स्वभाव के आश्रय से पुरुषार्थ से प्रकट होता है। अतः केवल आत्मा में ही नहीं, सभी द्रव्यों में अपनी शक्ति या योग्यता से कार्य होता है। इसलिए एक का महत्त्व है। एक परम ब्रह्म को जान लेने पर सब जीवों का ज्ञान हो जाता है। यथार्थ में चैतन्य का तो एक चिन्मय ही भाव है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥समयसार गा. 73

अर्थात्—ज्ञानी विचार करता है कि निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ। ममतारहित हूँ, ज्ञान-दर्शन से पूर्ण (वस्तु) हूँ। अपने इस स्वभाव में रहता (अनुभूति में लीन) हुआ मैं इन सभी क्रोधादिक आस्रवों का क्षय करता हूँ।

---

1. अ वइ; क, द, ब, स जइ; 2. अ, ब, स एक्कहिं; क, द इक्क हि; 3. अ, क, द पय; ब यहं; स पिउ; 4. अ अक्कीय; क, द अंकय; ब अंकिय; स अक्किय; 5. अ कोडु करासि; क, द, स कोडि करीसु; 6. अ णह; क, द, ब, स णं; 7. अ पयडणइ; क, द, ब, स पयडणइं।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि मैं यह प्रत्यक्ष, अखण्ड, अनन्त, चिन्मात्र ज्योति आत्मा अनादि-अनन्त, नित्य उदय रूप, विज्ञान-घन स्वभाव भावत्व के कारण एक हूँ। अतः यह सुनिश्चित है कि जो एक है, वह अखण्ड है और जो अखण्ड है, वह शुद्ध है। अतएव वह एक ही आश्रय लेने योग्य है।

तित्थइं तित्थ भमंतयहं संताविज्जइ देहु।
अप्पे[1] अप्पा झाइयइ[2] णिव्वाणह पउ[3] देहु[4] ॥179॥

शब्दार्थ—तित्थइं—तीर्थ से; तित्थ—तीर्थ (तक); भमंतयहं—भ्रमण करते हुए (के); संताविज्जइ—संतप्त किया जाता है; देहु-शरीर; अप्पे—आत्मा में; अप्पा—आत्मा (का); झाइयइ—ध्यान करने से; णिव्वाणह—निर्वाण का; पउ—पद; देहु—देवे।

अर्थ—एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ तक भ्रमण करने से केवल शरीर को सन्ताप पहुँचता है। आत्मा में आत्मा का ध्यान करके मोक्ष-मार्ग में आगे बढ़ना चाहिए।

भावार्थ—आचार्य पद्मनन्दि कहते हैं कि हे प्रभो! जिस समय आपका जन्माभिषेक सुमेरु पर्वत पर हुआ था, उस समय उस स्नान के जल के सम्बन्ध से मेरु तीर्थ बन गया था। इसलिए सूर्य, चन्द्रमा आदि तभी से उस पर्वत की प्रदक्षिणा आज तक बराबर सदा कर रहे हैं। (पद्मनन्दिपंचविंशति, ऋषभस्तोत्र, 10)

वास्तव में तीर्थ तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, लेकिन मूर्ख लोग अपने पापों और दुर्भावों की कृपा से न तो निश्चयरूपी सरोवर को देख पाते हैं और न ज्ञानरूप समुद्र उनको नजर आता है। यही नहीं, उन्होंने कहीं पर भी समता रूपी विशुद्ध नदी को भी नहीं देखा। इसलिए जन साधारण वास्तविक तीर्थों को छोड़कर गंगा, सरस्वती, क्षिप्रा आदि तीर्थों में स्नान करते हैं और यह मानते हैं कि स्नान करके हम पवित्र हो गये हैं।(वही, स्नानाष्टक, 5)

अधिकतर लोग यही समझते हैं कि जल से स्नान करने पर शरीर शुद्ध हो जाता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि यदि सभी तीर्थों के जल से शरीर को धोया जाए, तो रंचमात्र भी शुद्ध नहीं होगा। पं. सदासुखदासजी के शब्दों में "जगत् में कपूर, चन्दन, पुष्प, तीर्थनि के जलादिक हैं, ते देह के स्पर्श मात्र तैं मलीन दुर्गन्ध हो जाए सो देह कैसे पवित्र होय? जेते जगत् में अपवित्र वस्तु हैं ते देह के एक-एक अवयव

---

1. अ अप्पिं; क, द, स अप्पें; ब अप्पे; 2. अ झाईयइ; क, द, स झाइयइं; ब झासइं; 3. अ पय, क, द, ब, स पउ; 4. अ, ब एहु; क, द, स देहु।

के स्पर्श तैं होय है। मल के, मूत्र के, हाड़ के, कफ के, चाम के, रस के, रुधिर के, माँस के, वीर्य के, नसों के, केश के, नख के, कफ के, लार के, नासिका के मल, दन्तमल, नेत्रमल, कर्णमल के स्पर्श मात्र तैं अपवित्र होय है। द्वीन्द्रियादिक प्राणीनि के देह का सम्बन्ध बिना कोऊ अपवित्र वस्तु ही लोक में नहीं है। देह का सम्बन्ध बिना लोक में अपवित्रता कहाँ तें होय?" (रत्नकरण्डश्रावकाचार टीका, पृ. 420)

वास्तव में अपवित्रता शरीर का स्वभाव है। इसलिए तीनों लोकों में जितना जल है, उस सब से अकेले शरीर का स्नान कराया जाए, तो भी वह शुद्ध नहीं हो सकता है। दिगम्बर साधु-सन्त ही पवित्र होते हैं। उनकी पवित्रता रत्नत्रय के कारण कही गई है। इसलिए उन्हें स्नान नहीं करना पड़ता है।

जो पइं[1] जोइउं[2] जोइया तित्थइं[3] तित्थ भमेइ[4]।
सो सिउ पइं सिहुं[5] हिंडियउ लहिवि[6] ण सक्किउ तोइ ॥180॥

शब्दार्थ—जो; पइं—तुम; जोइउं—दर्शन के लिए; तित्थइं—तीर्थ से; तित्थ—तीर्थ; भमेइ—घूमते (हो); सो—वह; सिउ—शिव (परमात्मा); पइं—तुम्हारे; सिहुं—साथ; हिंडियउ—घूमा है; लहिवि—प्राप्त कर; ण सक्किउ—नहीं सके; तोइ—तुम।

अर्थ—हे योगी! जिसे देखने के लिए तुम तीर्थों तीर्थ भ्रमण करते हैं, वह शिव भी तुम्हारे साथ भ्रमण करता है; फिर भी तुम उसे नहीं पा सके।

भावार्थ—इस देश में मन्दिर, तीर्थ, ईश्वर, गुरु आदि का इतना अधिक महत्त्व है कि उनकी पूजा-उपासना से लोग कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। लेकिन यह तथ्य है कि इनको मानने या पूजने से न तो धर्म होता है और न ये कोई धर्म की क्रियाएँ है। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। इसलिए उस शुद्धात्म स्वभाव को उपलब्ध होना वास्तविक धर्म है। शुद्धात्मा के प्राप्त हो जाने पर फिर प्राप्त करने के लिए कुछ नहीं रहता है। क्योंकि शुद्धात्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है। शुद्धात्मा के पाते ही ज्ञानानन्द की सहज उपलब्धि हो जाती है। जिसे परम आनन्द का सहज संवेदन होता है, जहाँ भूख-प्यास, जन्म-मरण कुछ भी नहीं है, उसे अब और क्या चाहिए? वह शुद्धात्मा कहीं बाहर नहीं है, तुम्हारे पास में ही है।

शुद्धात्मा का ही दूसरा नाम शिव है। शिव का अर्थ है—कल्याण, आत्महित।

1. **अ, ब** पइ; **क, द, स** पइं; 2. **अ, ब** जोयउ; **क, द** जोइउं; **स** जोइउ; 3. **अ, ब** तित्थइ; **क, द, स** तित्थइं; 4. **अ, क, द, स** भमेइ; **ब** भमइ; 5. **अ** पइसिउ; **क, द** पइं सिहुं; **ब** सिवपइ; **स** पइं सहु; 6. **अ, ब** लहवि; **क, द, स** लहिवि। मुद्रित प्रति में तीसरा चरण है—सिउ पइं सिहुंह हिंडियउ

आत्मा का हित स्वभाव के आश्रय से होता है। जब तक यह दूसरे का सहारा चाहता है, दूसरे से अपना भला होना मानता है, तब तक आत्महित की वृत्ति प्रारम्भ नहीं हो सकती। क्योंकि आत्मा का हित आकुलता से नहीं, निराकुल होने से होता है। इसलिए मोह, क्षोभ से रहित आत्मा का जो परिणाम है, वह धर्म है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥भावपाहुड, गा. 83

अर्थात्—जैनशासन में जिनेन्द्रदेव ने यह कहा है कि पूजा आदि (तीर्थ-वन्दना, भक्ति) करने और व्रत सहित होने से 'पुण्य' होता है एवं मोह, क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को 'धर्म' कहते हैं।

पुण्य भोग का निमित्त है। उससे कर्म का क्षय नहीं होता है। (भावपाहुड, गा. 84) यदि शान्त, समता भाव से सहित तथा निरतिचार धर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप और ज्ञान है, तो वह जिनमार्ग में तीर्थ है। यदि वह धर्म, सम्यक्त्व आदि भाव क्रोध सहित हैं, तो तीर्थ नहीं कहलाते हैं। (मोक्षपाहुड, गा. 27)

आचार्य कुलभद्र के अनुसार—"जब यह आत्मा शान्त भाव में तिष्ठता है, तब यही महान् तीर्थ है। यदि आत्मा में शान्ति नहीं है, तो तीर्थयात्रा निरर्थक है। (सारसमुच्चय, श्लोक 311)

मूढा जोवइं[1] देवलइं[2] लोयहिं[3] जाइं[4] कियाइं।
देह ण पिच्छइ[5] अप्पणिय[6] जहिं[7] सिउ संतु ठियाइं ॥181॥

शब्दार्थ—मूढा—मूर्ख जन; जोवइं—देखते हैं, दर्शन करते हैं; देवलइं—देवालयों को; लोयहिं—लोगों के द्वारा; जाइं—जो; कियाइं—बनवाये गए हैं; देह—देह (रूपी देवालय); ण—नहीं; पिच्छइ—देखते (हैं); अप्पणिय—अपनी; जहिं—जहाँ; सिउ—शिव (परमात्मा); संतु—सन्त; ठियाइं—स्थित हैं।

अर्थ—लोगों के द्वारा बनवाये देवालयों में तो लोग देव का दर्शन करते हैं, उनको खोजते हैं, किन्तु देह रूपी देवालय में विराजमान शिव-सत्ता को नहीं खोज पाते हैं।

---

1. **अ, क, द, ब** जोवइ; **स** जोवइं; 2. **अ** देउलइ; **क, द, स** देवलइं; **ब** देवलइ; 3. **अ** लोयहि; **क, द, स** लोयहिं; **ब** लोयहं; 4. **अ** जाइ; **क, द, स** जाइं; 5. **अ, क, द, स** पिच्छइ; **ब** पिच्छिय; 6. **अ, क, द, स** अप्पणिय; **ब** अप्पणिया; 7. **अ, ब, स** जहि; **क, द** जहिं।

भावार्थ–वास्तव में जिस पद को, जिस पदार्थ को देखने के लिए पुरुष अनेक तीर्थों में घूमता-फिरता है, वह शिव तो अन्तरंग में ही विराजमान है। बाहर के तीर्थों में तो उसे बहुत खोजा, किन्तु अन्तर स्वभाव में दृष्टि नहीं की। आचार्य पद्मनन्दि सम्बोधन करते हुए कहते हैं–हे बुद्धिमानो! आत्मज्ञान रूप पवित्र तीर्थ एक आश्चर्यकारी तीर्थ है। उसमें भली-भाँति विधिपूर्वक स्नान करो। जो कर्म रूपी मैल अन्तरंग में है और जिसे अन्य करोड़ों तीर्थ नहीं धो सकते हैं, उस मैल को यह आत्मज्ञान रूपी तीर्थ धो डालता है। (पद्मनन्दिपंचविंशतिका, चन्द्रोदय अधिकार, श्लोक 28) मुनि योगीन्द्रदेव का कथन अत्यन्त स्पष्ट है–हे जीव! तुम रागादि मल से रहित आत्मा को छोड़कर अन्य तीर्थस्थानों पर मत जाओ, दूसरे गुरु की सेवा मत करो, अन्य देव का ध्यान मत करो। अपना आत्मा ही तीर्थ है, उसमें रमण करो, आत्मा ही गुरु है, इसलिए उसकी सेवा करो और वही देव है, उसी की आराधना करो।(परमात्मप्रकाश, 1,95)

संसार में ऐसा कोई तीर्थ नहीं, ऐसा कोई जल नहीं तथा अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिससे मनुष्य का शरीर प्रत्यक्ष रूप से पवित्र व शुद्ध हो जाए।

मुनिश्री योगीन्द्रदेव के शब्दों में–

सहज-सरूवइ अइ रमहि तो पावहि सिव संतु। (योगसार, दो. 87)

अर्थात्–यदि अपने सहज स्वरूप में रमण करोगे, तो शान्त निर्वाण को प्राप्त करोगे।

भावार्थ–योगिराज योगीन्द्रदेव कहते हैं कि जिनदेव तीर्थ में और देवालय में विद्यमान हैं। परन्तु जो जिनदेव को देहरूपी देवालय में विराजमान देखता, समझता है वह कोई विरला पण्डित ही होता है। (योगसार, दोहा 45) क्योंकि श्रुतकेवली ने कहा है कि तीर्थों में तथा देवालयों में देव नहीं हैं (वहाँ तो जिनदेव की प्रतिमाएँ हैं), जिनदेव तो देह रूपी देवालय में विराजमान हैं–यह निश्चित रूप से समझो। (योगसार, दोहा 42)

सभी संसारी जीव दुःखी हैं, व्याकुल हैं, कोई सुखी नहीं हैं। एक मात्र शिवपद ही परम आनन्द का धाम है। जो अपने स्वभाव में निश्चय ही ठहरने वाला है, केवलज्ञानादि अनन्त गुणों से सहित परमात्मा है, उसी का नाम शिव है। वह कहीं बाहर में नहीं, अपने आत्मस्वभाव में स्थित है। उस शिव का जग को करने-धरने, पालन-पोषण, प्रलय आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि जगत् स्वयं अपने स्वभाव से परिणमनशील है, स्वतन्त्र है। इसलिए जगत् के कर्त्ता, धर्ता, हर्ता आदि से भिन्न परमात्मस्वरूप निज भगवान् आत्मा को, अपने स्वरूप को, केवलज्ञान को या मोक्ष पद को शिव समझो। अध्यात्मशास्त्रों में जिस शुद्ध शाश्वत भाव का उल्लेख किया

गया है, उस शुद्धभाव को प्राप्त करो। 'परमात्मप्रकाश' में कहा गया है कि वीतरागी प्रभु की यह आज्ञा है कि इस जीव ने भव-भव में जिनराज स्वामी और सम्यक्त्व इन दो को प्राप्त नहीं किया है। दूसरे शब्दों में जिनदेव का परिचय न होने से इसने कभी स्वभाव सेवन नहीं किया है, इसलिए आज तक सम्यग्दर्शन नहीं हुआ है। सम्यग्दर्शन होने पर ही सच्चे परमात्मा से वास्तविक परिचय होता है। शुद्धात्म-ज्ञान-दर्शन शुद्ध भाव रूप हैं। जो शुद्धात्म भावना से विमुख है, वह निरन्तर विषय-कषाय का सेवन करता हुआ व्याकुल ही रहता है। अतः शुद्ध उपयोग की भावना निरन्तर भाते रहना चाहिए जो शुद्धात्मानुभूति की निर्विकल्प दशा में ही होती है।

वामिय किय अरु[1] दाहिणिय[2] मज्झइ[3] हवइ[4] णिराम।
तहिं[5] गामडा जु जोगवइ[6] अवर वसावइ गाम ॥182॥

शब्दार्थ—वामिय—बायें; किय—की गई; अरु—और; दाहिणिय—दाहिने; मज्झइ—बीच में; हवइ—है (होता है); णिराम—निराम, खाली, सूना; तहिं—वहीं (उसमें); गामडा—गाँव (में); जु—पाद—पूरक शब्द; जोगवइ—हे योगपति; अवर—अपर, दूसरा; वसावइ—वसाया जाता है; गाम—गाँव।

अर्थ—बायीं ओर और दाहिनी ओर गाँव बसाया, किन्तु बीच में सूना ही रखा। इसलिए हे योगी! वहाँ पर एक गाँव अन्य बसाइए।

भावार्थ—योगशास्त्र में 'वाम' शब्द इड़ा और 'दक्षिण' पिंगला नाड़ी के अर्थ में उल्लिखित है। किन्तु यहाँ पर अर्थ यह है कि मनुष्य अपने दायें-बायें जो इन्द्रियों के विषय हैं उनमें तो चित्त लगाता है, अनुरक्त होता है, किन्तु इन दोनों से भिन्न अपने ही बीच में जो परमात्मा (भगवान् आत्मा) निवास करता है, उसकी ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देता। योगी वही है जो ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान् को समझ कर, अनुभव कर आनन्द लोक में प्रवेश करता है, जिससे अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द का गाँव बस जाता है और यह जीव उसी में रम जाता है।

वास्तव में मुनि लौकिक कार्यों से उदासीन रहते हैं। वे ख्याति लाभ, पूजा की अभिलाषा नहीं रखते। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं जो मुनि व्यवहार में सोता है, वह आत्म-कार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह आत्म-कार्य में सोता है। उनके ही शब्दों में—

---

1. **अ** वामिय अरु किय; **क, द, स** वामिय किय अरु; **ब** वामिय किउ अर; 2. **अ** दाहिणइ; **क, द, स** दाहिणिय; **ब** दाहणिय; 3. **अ, ब, स** मज्झइ; **क, द** मज्झइं; 4. **अ, स** हवइ; **क, द, ब** वहइ; 5. **अ, ब** तहि; **क, द, स** तहिं; 6. **अ** जोगुवइ, **क, द, ब, स** जोगवइ।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गये सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥मोक्ष., गा. 31

जिसके ध्यान निश्चल होता है, उसी के समभाव निश्चल है। ध्यान का आधार समभाव है और समभाव का आधार ध्यान है। (ज्ञानार्णव, 2, 25)

शुद्ध मतिधारी आचार्यों ने ध्यान के समय दश स्थानों पर चित्त को रोकने के लिए कहा है—नेत्रयुगल, कर्णयुगल, नासिका का अगला भाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु, दोनों भौहों का मध्य भाग। इनमें से किसी एक स्थान में मन को विषयों से रहित करके ठहराना उचित है। (ज्ञानार्णव, 13, 30)

आचार्य शुभचन्द्र का कथन है—"हे मुनि! इस प्रकार विकल्परहित, रागादि दोष रहित, सर्वज्ञायक ज्ञाता, सर्वप्रपंच से शून्य, आनन्दरूप, जन्म-मरण रहित, कर्मरहित जगत् के एक अद्वितीय स्वामी परमपुरुष परमात्मा का निज भाव शुद्ध करके भजन कर।" (ज्ञानार्णव, 31, 40)

ऊपर के दोहे में एक अन्य गाँव बसाने की जो बात कही गई है, वह वास्तव में 'ज्ञानानन्द' की बस्ती है जो मन और इन्द्रियों के व्यापारों से दूर है। क्योंकि मन और इन्द्रियों की सहायता की वहाँ आवश्यकता नहीं होती है।

देव तुहारी चिंत महु[1] मज्झणपसरवियालि।
तुहु[2] अच्छेसहु[3] जाइ सुउ परम[4] णिरामय[5] पालि ॥183॥

शब्दार्थ—देव—हे देव!; तुम्हारी—तुम्हारी; चिंत—चिन्ता है; महु—मुझे; मज्झणपसरवियालि—मध्याह्न के प्रसार का अन्त, दोपहरी ढल जाएगी; तुहु—तुम; अच्छेसहु—रहो; जाइ—जाकर; सुउ—सोओ; परम—अत्यन्त; णिरामय—सूनी; पालि—पाली।

अर्थ—हे देव! मुझे तुम्हारी चिन्ता है। जब मध्यान्ह के प्रसार का अन्त हो जाएगा, तब तुम वहाँ जाकर सो जाना। फिर, वह पाली सूनी हो जाएगी।

भावार्थ—शुद्धात्मा ही परमदेव है। आत्मज्ञानमयी आराधना उसे कहते हैं जहाँ ऐसी शुद्ध आराधना है कि मेरी आत्मा ही निश्चय से परमात्मारूप है। किसी भी पर-पदार्थ में परमाणु मात्र भी ममत्वरूप मिथ्यात्व का दोष न हो, ऐसी पवित्र भक्ति निर्वाणको ले जाती है। (श्रीतारणस्वामी : ज्ञानसमुच्चयसार, 234) कहने का भाव

---

1. अ मुहि; क, द, ब, स महु; 2. अ, ब तुहु; क, द, स तुहुं; 3. अ, ब अच्छेसुहु; क अच्छेसहि; द, स अच्छेसहु; 4. अ, स परम; क, द, ब परइ; 5. अ, स णिरामय; क, द णिरामइ; ब निरामइ।

यह है कि हे देव! मुझे आपकी ही चिन्ता है। जब दोपहर का समय ढल जाएगा, तब तू सो जाएगा और यह पाली सूनी पड़ी रहेगी अर्थात् जब तक इस शरीर में आत्मा का निवास है, तब तक इन्द्रियों की यह बसी हुई नगरी भली लगती है। आत्मा के निकलकर चले जाने पर यह सब सुनसान ऊजड़ हो जाता है, इसलिए विषयों से विमुख होकर शुद्धात्मा की साधना कर लेनी चाहिए। आत्मा के उद्धार की चिन्ता उत्तम और दूसरे की भलाई की चिन्ता मध्यम कही गई है। काम-भोग की चिन्ता अधम है। वास्तव में चिन्ता सर्वथा अयुक्त है। आत्म-चिन्तन करना तो योग्य है, किन्तु नित्य, अखण्ड वस्तु की क्या चिन्ता?

आचार्य गुणभद्र का कथन है—"मुझ ज्ञानवन्त का यह विषयाशा रूपी शत्रु कुछ भी नहीं कर सकता"—इस प्रकार के ज्ञानमद से उन्मत्त होकर उस आशा रूपी शत्रु से तनिक भी उपेक्षित रहना योग्य नहीं है। तीन लोक जिसने वश में कर लिए हैं, जैसे आशा रूपी शत्रु को अल्प गिनना योग्य नहीं है। तीन जगत् का महाभयंकर और अद्वितीय वैरी यही है। उसे तो सम्यक् प्रकार से विचारकर मूल से सर्वथा क्षीण करना चाहिए। अनन्त और अगाध समुद्र में रहने वाली वाडवाग्नि महान् समुद्र के लिए भी बाधा उत्पन्न करती है अर्थात् उसका शोषण करती है, जैसे ही विषयों की अभिलाषा, आशा आत्मा के अगाध ज्ञान-समुद्र को मलिन करती है। उससे निरन्तर सचेत, सावधान रहना चाहिए। जगत् में भी यह देखने में आता है कि शत्रु ने जिसे दबा रखा है, उसे शान्ति कहाँ से हो? (आत्मानुशासन, श्लोक 230)

जो सब संसारी जीवों के लिए रात है, उसमें परम तपस्वी जागते हैं और जिसमें सब संसारी जीव जाग रहे हैं, उस (मोह) दशा को योगी रात मानकर योग-निद्रा में सोते हैं। यहाँ पर 'सोने' का अर्थ आत्म-स्वरूप में विश्राम करना है। जब तक मोह का जोर है, प्रबलता है, तब तक उपयोग की सावधानी नहीं है। स्वशुद्धात्मा के सन्मुख होते ही मोह रूपी दोपहरी ढल जाती है और यह जीव अपने स्वरूप के सन्मुख हुआ अपने में विश्राम ले लेता है।

तुट्टइ बुद्धि तडत्ति जहिं[1] मणु अंथवणहं[2] जाइ।
सो सामिय उवएसु कहि[3] अण्णहिं देवहिं[4] काइं ॥184॥

शब्दार्थ—तुट्टइ—टूट जाती है; बुद्धि—बुद्धि; जहिं—जहाँ; मणु—मन; अंथवणहं—अस्तमन को; जाइ—जाता है (प्राप्त होता) है; सो—सो;

---

1. अ जहि; क, द, ब, स जहिं; 2. अ अंथवणह; क, द, ब, स अंथवणहं; 3. अ, क, द, स कहि; ब कहु; 4. अ देवहि; क, द, ब, स देवहिं।

सामिय–हे स्वामी!; उवएसु–उपदेश; कहि–कहो; अण्णहि–अन्य, दूसरों से; देवहि–देवों से; काइं–क्या (है)।

अर्थ–जिससे बुद्धि तड़ककर टूट जाए और मन भी अस्त हो जाए; हे स्वामी! ऐसा उपदेश कहिए। अन्य देवों से क्या है?

भावार्थ–आचार्य कुलधर (सारसमुच्चय, श्लोक 300) कहते हैं कि जिसके अधीन अपनी आत्मा है और जो शान्त है, उसके अधीन तीनों लोक हैं। चिन्तामणि रत्न चिन्तित पदार्थों को, कल्पवृक्ष कल्पना किए हुए पदार्थों को प्रदान करता है, किन्तु शुद्धात्मा के ध्यान से अचिन्तित और अकल्पित पदार्थों की प्राप्ति होती है।

बुद्धि के उत्पन्न होने में कर्म का उदय है। जीव के परिणाम का कर्म के साथ कारण-कार्य भाव है। कर्म और चेतन में यह कार्य-कारण भाव कभी विद्यमान नहीं है। (योगसारप्राभृत, 3, 10) जीव कर्मोदय से निरन्तर अपने सभी प्रदेशों में व्याकुल रहता है; जैसे अग्नि के संयोग से अपने सम्पूर्ण अवयवों में उबलता हुआ जल स्पर्श करने से उष्ण मालूम पड़ता है। (पंचाध्यायी, गा. 247)

जिस तरह प्यास के दुःख को दूर करने के लिए बुद्धिमान् शैवाल (काई) को हटाकर जल को पी लेता है, इसी तरह ज्ञानी सभी संकल्प-विकल्पों को छोड़कर एक निर्मल आत्मज्ञानरूपी अमृत का ही पान करते हैं। (ज्ञानार्णव, 4, 8)

आत्म-ध्यान से ही मन विलीन होता है। निज शुद्धात्मा के अनुभव में रमण करना ही मन को गलाने का एक मात्र उपाय है। जैसा यह मन इन्द्रियों के विषयों में रमता है, वैसा यदि अपने आत्मा के अनुभव में रम जावे, तो योगीन्द्रदेव कहते हैं कि हे योगी! यह जीव शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। (योगसार, 49)

उनके ही शब्दों में–

अप्पसरूवह जो रमइ छंडइ सव्व ववहारु।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारु ॥योगसार, दो. 89

अर्थात्–जो सब व्यवहार को छोड़कर आत्मस्वरूप में रमण करता है, वह सम्यग्दृष्टि जीव है और वह शीघ्र ही संसार से पार हो जाता है।

आचार्य पूज्यपाद के शब्दों में–

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥समाधिशतक, 22

अर्थात् जब मैं निश्चय से अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव करता हूँ, तब मेरे सब रागादि भाव विनाश को प्राप्त होते हैं। अतः इस जगत् में मेरा न कोई शत्रु है और न कोई मित्र है।

इसके बिना वीतराग भाव की प्राप्ति नहीं होती।

सयलीकरणु ण जाणियउ पाणियपसण्णह[1] भेउ।
अप्पापरहु ण मेलियउ[2] गंगडु पुज्जइ[3] देउ ॥185॥

शब्दार्थ—सयलीकरणु—सकलीकरणु (शुद्धि का विधान, पद्धति); ण—नहीं; जाणियउ—जाना; पाणियपसण्णह—पानी की निर्मलता का; भेउ—भेद; अप्पापरहु—आपा-पर का, अपना-पराया का; ण—नहीं; मेलयउ—मेल किया; गंगडु—क्षुद्र; पुज्जइ—पूजता है; देउ—देव (को)।

अर्थ—जो क्षुद्र देव को पूजता है, वह न तो सकलीकरण जानता है तथा न जल की निर्मलता का रहस्य पहचानता है और न आत्मा एवं पर (भावों) का मेल समझता है।

भावार्थ—वास्तव में जिनमत की परम्परा शुद्धता को माननेवाली है। यह शुद्धता उस सकलीकरण की भाँति है जिसमें प्रतिष्ठाचार्य भूमि, पात्र, जल, पूजा-सामग्री, शरीरादि की मन्त्रों द्वारा शुद्धि करता है। इसी प्रकार निज शुद्धात्म स्वभाव के साधन द्वारा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, भावमन आदि की शुद्धता प्राप्त करना ही शुद्धाम्नाय है। शुद्धाम्नाय में परमार्थभूत सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और धर्म की पूजा होती है। धर्म वीतराग भाव में है, अतः जहाँ राग का लक्ष है वहाँ शुद्धता नहीं हो सकती। पूजा, वन्दना वीतरागता की है; राग की नहीं। जहाँ आत्मश्रद्धा नहीं है, अज्ञान और असंयम है, वहाँ पवित्रता का अभाव है।

यदि इतिहास की दृष्टि से देखा जाए तो तीर्थंकर महावीर का श्रमणसंघ अत्यन्त प्रसिद्ध था। वह रत्नत्रय से सहित था। उसमें चारों वर्णों के श्रमणों का समूह रहता था। (दे. तत्त्वार्थवार्तिक, 9, 24)। उसे मूलसंघ के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त है। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' में उल्लेख है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनका यह मूलसंघ 162 वर्ष के अन्तराल में होने वाले गौतम गणधर से लेकर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। श्रुतज्ञानियों के अस्तित्व की अपेक्षा वी.नि.सं. 683 तक यह परम्परा अविरल ज्यों की त्यों अखण्ड बनी रही। परवर्ती काल में अनेक संघ स्थापित हो गये। लेकिन उन सभी संघों का उद्‌भव मूलसंघ से हुआ। अतः स्पष्ट है कि मूलसंघ सभी संघों का संस्थापक है और इसीलिए उसका नाम मूल या आदि संघ है। इसे ही 'शुद्धाम्नाय' कहा जाता है। 'शुद्धाम्नायं' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में गर्भित है—(1) परमार्थस्वरूप सच्चे देव,

---

1. **अ** पाणिपसण्णह; **द** पाणियपण्णहं; **क** पाणिधपण्णहं; **ब** पाणियपण्णह; **स** पाणियपसण्णह;
2. **अ, ब, द, स** मेलियउ; **क** मेलयउ; 3. **अ, ब** पुज्जउ; **क, द, स** पुज्जइ।

शास्त्र, गुरु और धर्म को मानने वाली परम्परा। (2) भूमिका के अनुसार शुद्धाचरण के साथ, शुद्ध भोजन-पान तथा नीति-न्याय से जीवन-निर्वाह करने वाली पद्धति। और (3) शुद्धनय की विषयभूत शुद्धात्मानुभूति पूर्वक मोक्षमार्ग मानने वाली पद्धति। शुद्धाम्नाय की परम्परा में चारों ही अनुयोग मूल में शुद्धता या आत्म-शुद्धि के उपदेशक तथा विधि-प्रतिपादक हैं। वस्तुतः दृष्टि में द्रव्यानुयोग, साधना में चरणानुयोग, परिणाम में करणानुयोग और बाह्य जीवन में प्रथमानुयोग की प्रतिपादक मूल आम्नाय की परम्परा है। अतः हे वीतराग प्रभु! जो तेरा मार्ग है, पन्थ है, वही मेरा मार्ग है। आप पूर्ण वीतरागी हैं। इसलिये हम भी वीतरागता के श्रद्धानी हैं। और यही क़ारण है कि हम निर्लेप जिन-प्रतिमा का दर्शन-पूजन करते हैं। आलोचना-पाठ के कर्ता पं. जौहरीलाल कहते हैं—"या लोक मैं चंदन, केशरादि सुगंध द्रव्यनि का लेपन सरागी जीवनि के देखिये हैं। अर ये वीतराग के कैसे संभवे? बहुरि दूसरे सग्रंथपणा का दूषण आवै है। अर ये निर्ग्रंथ तिल के तुष मात्र हू के त्यागी।"[1] वास्तव में केशंर, चन्दन आदि परिग्रह हैं। अतः वीतराग छवि वाले जिन-बिम्बों पर लेप करने का विधान नहीं है। वीतराग प्रतिमा पर चन्दन-केशर-लगाने से वीतरागता का प्रतीक-चिन्ह बिगड़ जाता है। अतः तेरापन्थ आम्नाय वाले वीतराग प्रतिमा ही पूजते हैं। यही शुद्धि का विधान है।

अप्पापरहं[1] ण मेलियउ[2] आवागमणु ण भग्गु।
तुस[3] कंडंतहं[4] कालु गउ तंदुलु[5] हत्थि[6] ण[7] लग्गु ॥186॥

शब्दार्थ—अप्पापरहं—आपा-पर (को); ण मेलयउ—नहीं मिलाया; आवागमणु—आना-जाना, आवागमन; ण भग्गु—भग्न नहीं हुआ; तुस—तुष, छिलका; कंडंतहं—कूटते हुए; कालु—समय; गउ—चला गया; तंदुलु—चावल; हत्थि—हाथ में; ण लग्गु—नहीं लगा (मिला)।

अर्थ—वास्तव में न तो आत्मा और पर का आज तक मेल हो सका और न आवागमन ही समाप्त हुआ। अभी तक का समय तुष कूटते ही बिताया है, क्योंकि एक भी चावल का दाना हाथ नहीं लगा।

भावार्थ—यद्यपि आत्मा अनादिकाल से जड़ किंवा पुद्गल-कर्मों के साथ रह

---

1. द्रष्टव्य है—चेतनविलास।

1. अ, ब अप्पापरह; क, द, स अप्पापरहं; 2. अ, द, ब, स मेलियउ; क मेलयउ; 3. अ तुसु; क, द, ब, स तुस; 4. अ, क, द, स कंडतह; 5. अ, ब तंदुल; क, द, स तंदुलु; 6. अ, द, स हत्थि; ब हत्थु; क अत्थि; 7. अ णहिं; क, द, ब, स ण।

रहा है, किन्तु चेतन और जड़ कर्म कभी भी दोनों मिलकर एक नहीं हुए। चेतन कभी जड़ रूप में नहीं बदल सकता और न जड़कर्म कभी चेतन हो सकते हैं। दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है। हमने आज तक ज्ञानस्वभावी वस्तु को, उसकी सत्ता से नहीं पहचाना है। इसलिए बाहर की शारीरिक तथा भोजन-पान आदि की क्रियाओं से धर्म मानते आये हैं। ऐसा लगता है कि हमारी समझ का धर्म खाने-पीने-बनाने आदि में ही सिमट गया है। जो चेतन आत्मा लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है और जिसमें सदा काल पाया जाने वाला ज्ञान सर्वलोकव्यापक है, वह कर्मकाण्डमूलक कुछ क्रियाओं में सिमटकर रह गया है। कहीं हम यह मानकर तो नहीं बैठ गये हैं कि धर्म केवल मन्दिर जाने में ही है। मन्दिर धर्मस्थानक है; लेकिन यह तभी सम्भव है जब वहाँ स्थिर चित्त होकर आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करें, स्वाध्याय तथा आत्मध्यान करें। यह बराबर अनुभव में आता है कि आत्मा का परिणमन स्वतन्त्र है और शरीर का परिणमन स्वतन्त्र है। आत्मा का परिणमन शरीर के अधीन नहीं है और न शरीर का परिणमन आत्मा के अधीन है। लेकिन यह समझ नहीं होने से हम रात-दिन शरीर की चिन्ता करते हैं, लेकिन आत्मा-परमात्मा के विषय में कोई विचार नहीं करते।

वास्तव में चिन्ता अन्य (पर) की होती है और चिन्तन निज आत्मस्वभाव का। चिन्ता कर्म को लाने वाली है, आस्रव-बन्ध की हेतु है, लेकिन चिन्तन-ध्यान कर्म को रोकने वाला है। जब तक यह स्थिति नहीं बनती है, तब तक संसार (जन्म, मरण) का द्वार खुला है, हर समय कर्म बँध रहा है। जब तक इस कर्म से छूटेंगे नहीं, तब तक सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः यह कहना ठीक है कि हम आज तक धर्म करते रहे और परेशानी-दुःख भोगते रहे, तो यह वैसा ही हुआ जैसा कि धान के छिलके को कूटते रहने से होता है। जिन धान के छिलकों में चावल के दाने नहीं हैं, वह चावल कैसे प्राप्त हो सकता है? इसी प्रकार अन्तर में धर्म न हो, तो बाहर की क्रियाओं से सुखी कैसे हो सकते हैं?

देहादेवलि[1] सिउ वसइ तुहु[2] देवलइं[3] णिएहि[4]।
हासउ महु मणि अत्थि[5] इहु सिद्धें भिक्ख भमेहि[6] ॥187॥

शब्दार्थ—देहादेवलि—देह रूपी देवालय में; सिउ—शिव (परमात्मा); वसइ—बसता है; तुहु—तुम; देवलइं—देवालय में; णिएहि—खोजते हो;

---

1. अ देहादेउलि; क, द, ब, स देहादेवलि; 2. अ तुह; क, द, स तुहुं; ब तुहु; 3. अ देवलइ; क, द, ब, स देवलइं; 4. अ णिएहिं; क, द, स णिएहि; ब नएहि; 5. अ इत्थ; क, द, ब, स अत्थि; 6. अ भमेहिं; क, द, ब, स भमेहि।

हासउ—हँसी; महु—मुझे; मणि—मन में; अत्थि—है; इहु—यह; सिद्धें—सिद्ध परमात्मा से; भिक्ख—भिक्षा (माँगने के लिए); भमेहि—घूमते हो, भटकते हो।

अर्थ—देहरूपी मन्दिर (देवालय) में शिव निवास करता है, किन्तु तुम मन्दिरों में उसे खोजते हो। मुझे मन-ही-मन हँसी आती है कि तुम सिद्ध भगवान् से भीख माँगने के लिए भटक रहे हो।

भावार्थ—उक्त दोहे से मिलता हुआ दोहा 'योगसार' में भी है। उसमें कहा गया है कि जिनदेव देह रूपी देवालय में विराजमान हैं, किन्तु जीव बाहर के देवालयों में उनके दर्शन करता है—यह मुझे कितना हास्यास्पद मालूम होता है। यह बात ऐसी ही है, जैसे कोई मनुष्य सिद्ध हो जाने पर भिक्षा के लिए भ्रमण करे। (योगसार, दो. 43)

वास्तव में परमात्मा बाहर में कहीं नहीं है, वह देह रूपी मन्दिर में विराजमान है। मुनि योगीन्द्रदेव कहते हैं कि जिसके मात्र शरीर में रहने पर इन्द्रियों का गाँव बस जाता है और शरीर छोड़कर चले जाने पर इन्द्रिय-ग्राम उजड़ जाता है; निश्चित ही वह परमात्मा है। (परमात्मप्रकाश 1, 44) तथा—"श्रुतकेवली ने कहा है कि तीर्थों में, देवालयों में देव नहीं हैं, जिनदेव तो देहरूपी देवालय में विराजमान हैं—इसे निश्चित रूप से समझो।" (योगसार, 42)

वास्तव में हमारे भाव ही मन को बसाने वाले हैं जोकि अशुद्ध भाव हैं और शुद्ध भाव मन को उजाड़ने वाले हैं। मनके लगने पर, रमण, विलास करने पर इन्द्रियों का गाँव बस जाता है और मनके उखड़ते ही इन्द्रिय-ग्राम उजड़ जाता है। मन में यदि धर्मबुद्धि होती है तो जीव पापों से हटता है, शुभ भाव करता हुआ भी उनको हेय मानता है और शुद्ध भाव से मन को निज शुद्धात्म स्वभाव में विलीन कर निर्विकल्प शुद्धात्मानुभूति को उपलब्ध कर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। आचार्य अमितगति का कथन उक्त दोहे में स्पष्ट रूप से भावानुवाद है। उनके शब्दों में—

> योऽन्यत्र वीक्षते देवं देहस्थे परमात्मनि।
> सोऽन्ने सिद्धे गृहे शङ्के भिक्षां भ्रमति मूढधीः ॥योगसार 6, 22

अर्थात्—अपने देह में स्थित परमात्मा को छोड़कर जो अन्य स्थानों पर भटकता है, वह मूढ़ घर में भोजन के तैयार होने पर भी भिक्षा के लिए भ्रमण करता है।

वास्तव में आत्मा ही तीर्थ है। लेकिन निर्मल आत्मतीर्थ का ज्ञान न होने से अन्य तीर्थस्थानों पर भटकते फिरते हैं।

वणि देवलि तित्थइं भमहि[1] आयासो[2] वि णियंतु।
अम्मिय विहडिय भेडिया[3] पसुलोगडा भमंतु[4] ॥188॥

शब्दार्थ—वणि—वन में; देवलि—देवालय में; तित्थइं—तीर्थ में; भमहि—घूमे हो; आयासो—आकाश को; वि—भी; णियंतु—देखा; अम्मिय—अहो!; विहडिय—बिछुड़े (मिले); भेडिया—भेड़िया (से); पसुलोगडा—पशुओं (से); भमंतु—घूमते हुए।

अर्थ—वन में, देवालय में, तीर्थों में इसने भ्रमण किया। यहाँ तक कि आकाश में भी देखा। अहो! घूमते हुए इसकी भेंट भेड़िये आदि पशुओं से भी हुई।

भावार्थ—जो वास्तविक तीर्थ को नहीं समझते हैं, वे लोभवश या तरह-तरह की आशाएँ लेकर वनों में, मठों में, सिद्ध पुरुषों के पास, मन्दिरों में, तीर्थ स्थानों में भ्रमण करते हैं। किन्तु वहाँ पर भी इसको क्या मिला? कहीं पर पशु-पक्षी, मनुष्यादि दिखलाई पड़े, तो कहीं तरह-तरह के पेड़-पौधे; परन्तु आत्मा-परमात्मा का कहीं दर्शन नहीं हुआ। इसका मूल कारण यह भ्रम, मिथ्याश्रद्धान रहा कि तीर्थस्थान में परमात्मा का निवास है। आचार्य अमितगति स्पष्ट शब्दों में बार-बार कहते हैं कि परमात्मदेव तो अपनी देह में स्थित हैं, तुम बाहर में कहाँ ढूँढ़ते हो? शरीर में स्थित निर्मल आत्मतीर्थ को छोड़कर बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है। उनके ही शब्दों में—

स्वतीर्थममलं हित्वा शुद्धयेऽन्यद् भजन्ति ये।
ते मन्ये मलिनाः स्नान्ति सरः संत्यज्य पल्वले ॥योगसार, 6, 25

अर्थात्—अपने निर्मल आत्मतीर्थ को छोड़कर जो मनुष्य शुद्धि के लिए अन्य तीर्थस्थानों पर जाते हैं, वे मलिन (चित्त वाले) प्राणी सरोवर को छोड़कर पोखर में स्नान करते हैं।

वास्तव में आत्मा ही तीर्थ है। जो एक बार शुद्धात्म स्वभाव को भज लेता है, वह अन्य कहीं जाना नहीं चाहता। क्योंकि शान्तिपूर्वक एक बार भी ज्ञानानन्द-अमृत पान कर लेने पर कौन ऐसा मूर्ख होगा जो खारा जल पीना चाहेगा? आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं।
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण ॥बोधपाहुड, गा. 27

---

1. अ भमिहि; क, द, स भमहि; ब भमिहिं; 2. अ आयासु; क, द, ब, स आयासो; 3. अ, क, ब, स भेडिया, भेट्टिया; 4. अ भम्मं; क, द, ब स भमंतु।

अर्थात्—जिनमार्ग में वह तीर्थ है जो निर्मल उत्तम क्षमादिक धर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप, यथार्थ ज्ञान है। यदि ये शान्तभाव सहित हैं तो निर्मल तीर्थ हैं। इसके विपरीत यदि क्रोधादिक भाव सहित हैं तो तीर्थ नहीं हैं। इसका अभिप्राय यही है कि जो संसार-समुद्र से तारने वाला है वह तीर्थ है। अपने मन की ओट में ही आत्म-तीर्थ छिपा हुआ है, लेकिन लोक के भोले प्राणी बाहर के पर्वत, चैत्य, स्तूप आदि को तो तीर्थ-स्थान समझते हैं, लेकिन निज शुद्धात्मस्वरूप को तीर्थ नहीं समझ पाते हैं।

वे छंडेविणु पंथडा विच्चे[1] जाइ अलक्खु।
तहो[2] फल बेयहु[3] किंपि णउ[4] जइ सो पावइ लक्खु ॥189॥

शब्दार्थ—वे—दो, दोनों; छंडेविणु—छोड़कर; पंथडा—मार्ग; विच्चे—बीच में; जाइ—जाता है; अलक्खु—लक्ष्यविहीन, बिना लक्ष के; तहो—उसका; फल; बेयहु—दोनों का; किंपि—कुछ भी; णउ—नहीं; जइ—जो, यदि; सो—वह; पावइ—पाता है; लक्खु—लक्ष्य।

अर्थ—बिना किसी लक्ष्य के इस जीव ने दोनों मार्गों को छोड़कर बीच के मार्ग से गमन किया है, किन्तु उन दोनों का फल कुछ भी नहीं है जो वह लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

भावार्थ—खोज के दो ही मार्ग हैं—एक भौतिक मार्ग और दूसरा आत्मिक या आध्यात्मिक। भौतिक खोजों में आज का विज्ञान बहुत अधिक प्रगति पर है। शास्त्र की भाषा में भौतिक मार्ग सांसारिक है। राग-द्वेष में चलने का नाम संसार है। जो भी राग-द्वेष और मोह हैं, वे संसार को लाने वाले या बनाने वाले हैं। इसलिए वीतराग भाव में चलने का नाम मोक्ष-मार्ग या आध्यात्मिक है। वास्तव में जीव को अपने लक्ष्य का पता नहीं है। बिना किसी उद्देश्य के यह संसार-मार्ग को बनाये रखना चाहता है। धर्म भी करना चाहता है और संसार का कर्म-मार्ग भी छोड़ना नहीं चाहता। इसलिए यह लक्ष्यहीन है। क्योंकि लक्ष्य एक होता है।

मोक्षमार्ग में चलने वाले दो तरह के मनुष्य देखे जाते हैं—ज्ञानी और अज्ञानी। अज्ञानी के मोक्षमार्ग होता नहीं है, लेकिन भ्रम से ऐसा मानते हैं कि बाहरी क्रियाओं

---

1. अ, क, द, स विच्चे; ब विच्च; 2. अ, क तहु; द, ब, स तहो, 3. अ वेयहु; क, द, ब बेयहो; स बेयहु; 4. अ णउं; क, द, स णउ; ब नउ।

को करते हुए एक दिन ज्ञान हो जाएगा। लेकिन ऐसा समझना ठीक नहीं है। आत्मा की शुद्धि के लिए ज्ञानाराधना में बुद्धि को लगाने की प्रेरणा करते हुए आचार्य अमितगति कहते हैं—"धर्म से वासित हुआ जीव निश्चय से धर्म में प्रवर्तता है; अधर्म में नहीं। पाप से वासित हुआ जीव पाप में प्रवृत्त होता है; धर्म में नहीं। इसी प्रकार ज्ञान से वासित हुआ जीव ज्ञान में प्रवृत्त होता है; अज्ञान में कदाचित् नहीं। इसलिए आत्मा की शुद्धि की इच्छा रखने वालों को ज्ञान की उपासना, आराधना में बुद्धि लगाना चाहिए।"—योगसारप्राभृत, 6, 46-47

जिस तरह एक बार संशोधित होकर सोना निर्मल हो जाता है, फिर वह मलिनता को प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार एक बार निज शुद्धात्मस्वभाव के सन्मुख होकर आत्मध्यान की अग्नि में मोह, राग-द्वेष का मैल दूर कर दृष्टि की निर्मलता पूर्वक निर्मल ज्ञान प्राप्त कर लेता है, फिर वह शुभाशुभ भावों की मलिनता को प्राप्त नहीं होता। ऐसा निर्मल ज्ञानी मोह का क्षय कर चारों घातिया कर्मों का अभाव कर देता है और केवलज्ञान का धनी हो जाता है। (द्रष्टव्य है—योगसारप्राभृत, 6, 48) वास्तव में तो शुद्ध मार्ग यही है। लेकिन प्रायः संसारी जीव न तो पूरी तरह से 'कषायी जीवन में रहता है और न पूर्णता के लक्ष से वीतरागी जीवन' जीता है। इस प्रकार दोनों में से एक भी जीवन इसे रास नहीं आता है। तब फिर क्या करता है? क्षणभर के लिए ऐसा क्रोध करता है, जिसकी वासना असंख्यात जन्मों तक बनी रहती है और फिर, धर्म के नाम पर व्रत, उपवास आदि भी करता रहता है। यही नहीं, इसे ही वह धर्म समझता है। अतः लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती।

जोइय विसमी जोयगइ मणु वारणह[1] ण जाइ।
इंदियविसय जि सुक्खडा तित्थइ[2] बलि-बलि[3] जाइ ॥190॥

शब्दार्थ—जोइय—हे योगी!; विसमी—विषम; जोगगइ—योगगति, योगवृत्ति; मणु—मन; वारणह—रोका; ण जाइ—नहीं जाता है; इंदियविसय—इन्द्रियों के विषय; जि—ही; सुक्खडा—सुख है; तित्थइ—वहीं पर, उन पर; बलि-बलि—बलिदान; जाइ—जाता है, हो जाता है।

अर्थ—हे जोगी! योगवृत्ति विषम है। क्योंकि मन रोका नहीं जाता है। इन्द्रियों

1. अ, ब, स वारणह; ब वारणहं; 2. अ तित्थव; क तित्थु जि; द, ब, स तित्थइ; 3. अ, क वलि वलि; द विलि विलि; ब, स बलि बलि।

के विषयों के जो सुख हैं, उन पर ही बलिदान हो जाता है, बार-बार उनकी तरफ ही जाता है।

भावार्थ–'योग' शब्द के कई अर्थ हैं–संयोग, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति, योगशक्ति (आत्मप्रदेशों में हलन-चलन करने वाली), आत्मध्यान, समाधि आदि। यहाँ पर स्पष्ट रूप से मन-वचन-काय की प्रवृत्ति है जो शुभ, अशुभ उपयोग से वासित होती है। इनसे ही कर्म का आना होता है। एक प्रकार से कर्म के आने के ये द्वार हैं। इसलिए इनकी प्रवृत्ति विषम कही गई है। कभी कर्म एकदम बहुत आते हैं और कभी बहुत कम। आचार्य अमितगति ने 'आस्रवाधिकार' में इसी अर्थ में 'योग' शब्द का प्रयोग किया है। उनके ही शब्दों में–

शुभाशुभोपयोगेन वासिता योग-वृत्तयः।
सामान्येन प्रजायन्ते दुरितास्रव-हेतवः ॥योगसारप्राभृत, 3, 1

अर्थात्–शुभ तथा अशुभ उपयोग के द्वारा वासना को प्राप्त मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ शुभाशुभ कर्मों के आत्मा में आगमन की हेतु होती हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट रूप से उद्घोष करते हैं कि जो पराधीन बनाकर संसार में परिभ्रमण कराते हैं, वे सुशील नहीं हैं। उनके शब्दों में–

"कह तं होदि सुसीलं जं संसारे पवेसेदि" अर्थात् जो संसार में प्रवेश कराता रहता है, वह सुशील कैसे हो सकता है?

जब यह जीव पर-द्रव्य में राग से शुभ भाव को और द्वेष के कारण अशुभ भाव को करता है, तब अपने चारित्र से भ्रष्ट होने के कारण कर्म का आस्रव होता है। यद्यपि पुण्यकर्म के उदय में देवगति की प्राप्ति होती है। फिर, देवगति को प्राप्त देवेन्द्रों को बहुत सुख होता है, फिर भी वे दुःख भोगते हैं। क्योंकि देवेन्द्रों को इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न जो सुख होता है, वह दाह उत्पन्न करने वाली तृष्णा को देने वाला है, इसलिए उसे दुःख समझना चाहिए। जो अस्थिर है, पीड़ा देने वाला है, तृष्णा बढ़ाने वाला है, कर्मबन्ध का कारण है, पराधीन है, उस इन्द्रियजनित सुख को जिनवरों ने दुःख ही कहा है। वास्तव में देवगति में शारीरिक दुःख नहीं है, किन्तु मानसिक सन्ताप उस समय इतना अधिक होता है कि मृत्यु होने के छह माह पूर्व माला मुरझा जाती है और उनका जन्म कहाँ पर किस गति में होना है, यह पहले से ही उनको ज्ञात हो जाता है। उनके उस समय के दुःख की हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

बद्धउ तिहुयणु[1] परिभमइ मुक्कउ पउ वि ण[2] देइ।
दिक्खु[3] ण जोइय[4] करहुलउ विवरेरउ पउ देइ ॥191॥

शब्दार्थ—बद्धउ—(कर्मों से) बँधा हुआ; तिहुयणु—तीनों लोक (में); परिभमइ—परिभ्रमण करता है; मुक्कउ—मुक्त; पउ वि—पग भी; ण देइ—नहीं देता, नहीं रखता है; दिक्खु ण—देखो ना!; जोइय—हे योगी!; करहुलउ—ऊँट (को); विवरेरउ—विपरीत; पउ देइ—पग देता है, पैर रखता है।

अर्थ—जो कर्मों से बँधा हुआ है, वही तीन लोक में भ्रमण करता है और जो मुक्त है वह अचल हो गया है, एक पग भी इधर-उधर नहीं देता। हे जोगी! ऊँट को देखो न! वह विपरीत पग धरता है।

भावार्थ—सांसारिक जीवन में होने वाले सुख-दुःखादि परिणाम तथा सभी कार्य कर्मों के द्वारा होते हैं। आचार्य अमितगति कहते हैं—

कर्मणा निर्मितं सर्वं मरणादिकमात्मनः।
कर्मावितरतान्येन कर्तुं हर्तुं न शक्यते ॥योगसारप्राभृत 4, 11

अर्थात्—आत्मा के जन्म-मरण आदि सभी कार्य कर्म के द्वारा निर्मित हैं। जब कोई किसी को कर्म नहीं दे सकता है, तो कर्मनिर्मित कार्य का कर्ता-हर्ता कैसे हो सकता है? कर्मशास्त्र के अनुसार आयुकर्म के उदय से जीवन बनता है, सातावेदनीय कर्म का उदय सुख का और असातावेदनीय कर्म का उदय दुःख का कारण होता है। जब माता-पिता भी बालक के रोगग्रस्त होने पर उसे डाक्टर, वैद्य से दवा दिला सकते हैं, लेकिन अपना सुख देकर उसे सुखी नहीं कर सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई भी जीव किसी अन्य जीव को कर्म नहीं देता है और न उसका कर्म लेता है, तो फिर वह उस जीव के कर्म-निर्मित कार्य का कर्ता-हर्ता कैसे हो सकता है?

जिनागम में यह अनेक शास्त्रों का उल्लेख है कि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्या भाव के कारण अन्य प्राणी के जिलाने, मारने आदि के परिणाम करता हुआ निरन्तर अनेक प्रकार के कर्म बाँधता है। आचार्य अमितगति के वचन हैं—"बध्नाति विविधं कर्म मिथ्यादृष्टिर्निरन्तरम्" अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव पर के मारणादि विषयक परिणाम करता हुआ निरन्तर नाना प्रकार के कर्मों को बाँधता है। सबसे अधिक बन्ध

---

1. अ तिहिंयणु; क, स तिहुयणु; द तिहुवणु; ब तिहुअणु; 2. अ पागुण; क पउ जु ण; द पउ वि ण; ब पइ गुणदेव; स पउ णहि; 3. अ, क, द, स दिक्खु; ब देक्खु; 4. अ जोईय; क, द, ब, स जोइय।

मिथ्यादृष्टि जीव को होता है। इसलिए वह सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर का उत्कृष्ट बन्ध करता है। मिथ्यात्व के बिना अनन्त संसार नहीं बँधता। मिथ्यात्व के कारण जीव अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है। कहा भी है—

या 'जीवयामि जीव्येऽहं मार्येऽहं मारयाम्यहम्।
निपीडये निपीड्येऽहं' सा बुद्धिर्मोहकल्पिता ॥योगसार. 4, 12

अर्थात्—मैं जिलाता हूँ—जिलाया जाता हूँ, मारता हूँ—मारा जाता हूँ, पीड़ित करता हूँ—पीड़ित किया जाता हूँ, यह जो बुद्धि है वह मोह से निर्मित है। 'मोह' का अर्थ दर्शन मोहनीय या मिथ्यात्व है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ऐसी बुद्धि वाले जीव को 'सो मूढो अण्णाणी' मूढ (मिथ्यादृष्टि), अज्ञानी कहा है। विशेष जानकारी के लिए (भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित योगसारप्राभृत, पृ. 82-84, अधिकार 4, श्लोक 9 से 12 तक) अध्ययन करने योग्य हैं।

संतु ण दीसइ तत्तु ण वि संसारेहिं भमंतु।
खंधावारिउ[1] जिउ भमइ अवराडइहिं[2] रहंतु[3] ॥192॥

शब्दार्थ—संतु—साधु, सन्त; ण दीसइ—नहीं दिखाई देता है; तत्तु—तत्त्व; ण—नहीं; वि—भी; संसारेहिं—संसार में; भमंतु—भ्रमण करते हुए; खंधावारिउ—स्कन्धावार, फौज वाला; जिउ—जीव; भमइ—घूमता है; अवराडइहिं—अन्य की (में); खंतु—रक्षा करता हुआ।

अर्थ—संसार में घूमते हुए न कोई सन्त दिखता है और न कोई तत्त्व। जीव इन्द्रियों की फौज सहित पर की रक्षा में लगा रहता है।

भावार्थ—जो प्रत्येक समय राग-द्वेष भावों में आसक्त रहता है, उसे राग-द्वेषमय संसार दिखता है। उसकी दृष्टि में न कोई सन्त है और न कोई परमतत्त्व है। आत्मा का अनुभव भी उसे रागमय ही होता है। दिन-रात वह इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता हुआ शरीर की रक्षा में संलग्न रहता है। दूसरे के उपकार या अपकार करने की बुद्धि होने से मोह या मिथ्यात्व से मलिन बुद्धि वाला अपने अन्य गुणों को भी मलिन करता है। जिस प्रकार वस्त्र कीचड़ के द्वारा अपने संग से मैला किया जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के द्वारा अपने संग से चारित्र, दर्शन तथा ज्ञान मलिन किया जाता है। (योगसार. अ. 4, श्लोक 15)

वस्तुतः दर्शन, ज्ञान, चारित्र में जो मालिन्य है, वही दोष को स्वीकार करता है; किन्तु एक बार जो पूर्ण रूप से निर्मल हो गया है, वह फिर मलिन नहीं होता।

1. **अ, क, स** खंधावारिउ; **द** खंधायारिउ; **ब** खंधवारउ; 2. **अ** अवडारइहि; **क, द, ब, स** अवराडइहिं; 3. **अ** रडंतु; **क, द, स** रहंतु; **ब** रहंत।

जिस प्रकार एक बार बीज के जल जाने पर फिर उससे वृक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार मोह रूपी बीज के नष्ट हो जाने पर संसार की उत्पत्ति नहीं होती। मिथ्यात्व रहित भाव ज्ञानमय है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेदि ॥समयसार, गा. 168

अर्थात्—जैसे पका हुआ फल एक बार डंठल से गिर जाने पर फिर वह उसके साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार कर्मोदय से उत्पन्न होने वाला भाव जीव भाव से एक बार अलग होने पर फिर जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार रागादि के साथ मिला हुआ ज्ञानमय भाव उत्पन्न होता है। यदि ज्ञान एक बार रागादिक से भिन्न (शुद्ध, वीतराग भाव) परिणमित हो तो वह पुनः कभी भी रागादि के साथ मिश्रित नहीं होता। कर्मग्रन्थ की भाषा में इसे ही 'निर्जरा' कहा जाता है। क्योंकि फिर सदा के लिए ज्ञान राग से अलग हो गया। अब फिर कभी वह राग से मिलने वाला नहीं है। अतः ज्ञान ज्ञान रूप (शुद्ध ज्ञान) ही रहता है।

उव्वस वसिया[1] जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु।
बलि[2] किज्जउ तसु[3] जोइयहि[4] जासु ण[5] पाउ ण[6] पुण्णु ॥193॥

शब्दार्थ—उव्वस—उजाड़ (को); वसिया—बस्ती, आवास; जो करइ—जो करता है; वासिया—बसे हुए, बस्ती (को); करइ जु—करता है जो; सुण्णु—सूना; बलि किज्जउ—बलिहारी की जाती है; तसु—उसकी (की); जोइयहि—योगी की; जासु—जिसके; ण पाउ—न पाप (है); ण पुण्णु—न पुण्य (है)।

अर्थ—हे जोगी! जो उजाड़ को बसाता है और बसे हुए को उजाड़ता है, उसकी बलिहारी है; क्योंकि उसके न पाप है और न पुण्य।

भावार्थ—इस दोहे का अर्थ गूढ़ है। अनादि काल से चित्त में शुभ, अशुभ विकल्प बसे हुए हैं। आचार्य अमितगति कहते हैं—"शुभाशुभ-विकल्पेन कर्मायाति शुभाशुभम्" अर्थात्—शुभ-अशुभ विकल्प के द्वारा शुभ-अशुभ कर्म का आगमन होता है। जिनवाणी क्रमवार यही समझाती है कि प्रथम अशुभ को उजाड़कर शुभ को बसाओ और फिर बसे हुए शुभ को उजाड़ कर शुद्धोपयोग को बसाओ। पहले ग्रहण

1. अ, क, द, स वसिया; ब वसियो; 2. अ, स बलि; क, द, ब वलि; 3. अ तस; क, द, ब, स तसु; 4. अ जोइयहिं; क, द, स जोइयहि; ब जोइयइ; 5. अ, क, स ण; द, ब वि; 6. अ, क, द, स ण; ब न।

कराते हैं, फिर उसी को छुड़ाते हैं। जो घोर हिंसा करता है उसे एक ही तरह की हिंसा में लगाते हैं और फिर उसे भी छुड़ाकर पूर्ण अहिंसक होने का उपदेश देते हैं। ऊपर के दोहे का एक अर्थ यह है कि कर्म के संयोग में जब तक आत्मा है, तब तक बस्ती है। क्योंकि नामकर्म के उदय से शरीर मिलता है और शरीर है तो पाँचों इन्द्रियाँ हैं। पाँचों इन्द्रियों और मन के रहने पर नगर, गाँव, बस्तियाँ बस जाती हैं और शरीर में से आत्मा के निकल जाने पर इन्द्रियों की बसी हुई नगरी उजड़ जाती है। चारों ओर सुनसान लगने लगता है। शुद्धोपयोग में रहने वाले मुनिराज शुभोपयोग में जब आते हैं, तब इन्द्रियों की नगरी बसी हुई दिखलाई पड़ती है और पुनः अन्तर्मुख हो शुद्धात्मा के स्वभाव में स्थिर हो जाते हैं, जिससे बसी हुई नगरी उजड़ जाती है। ऐसे सन्त विरले ही होते हैं। यही कारण है कि साधु-सन्तों के पुण्य-पाप नहीं होते। वे रत्नत्रय की मूर्ति होते हैं।

मुनिश्री योगीन्द्रदेव 'बसाना' और 'उजाड़ना' समझाते हुए कहते हैं–

देहि वसंतें जेण पर इंदिय-गामु वसेइ।
उव्वसु होइ गयेण फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥परमात्मप्रकाश 1, 44

अर्थात्–जिसके केवल देह में रहने से इन्द्रिय-ग्राम बसता है और जिसके परभव में चले जाने पर निश्चय से उजाड़ हो जाता है, वह परमात्मा है। आगे कहा है–"जो ऊजड़ हैं अर्थात् पहले कभी नहीं हुए ऐसे शुद्धोपयोग रूप परिणाम को स्वसंवेदन ज्ञान के बल से बसाता है और जो पहले के बसे हुए मिथ्यात्वादि परिणाम हैं उनको उजाड़ देता है। जिस योगी के पाप-पुण्य नहीं हैं, मैं उस योगी की पूजा करता हूँ। योगीन्दुदेव के शब्दों में–

उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु।
बलि किज्जउं तसु जोइयहिं जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥परमात्म. 2, 160

भाव यही है कि निर्विकल्प ध्यान में लीन होने वाले साधु-सन्त अशुद्ध भाव रूपी बस्ती को उजाड़कर शुद्धात्मानुभूति रूप शुद्धोपयोग परिणामों को निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान के बल से बसाते हैं। वे धन्य हैं, पूज्य हैं।

कम्मु पुराइउ[1] जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ।
अणुदिणु झायइ देउ[2] जिणु सो परमप्पउ होइ ॥194॥

शब्दार्थ–कम्मु–कर्म को; पुराइउ–पूर्व के, पहले के; जो खवइ–जो खपाता है, नष्ट करता है; अहिणव–अभिनव, नये; पेसु–प्रवेश; ण

1. **अ** परायउ; **क, ब** पुरायउ; **द, स** पुराइउ; 2. **अ, क, द, स** देउ; **ब** देव; 3. **अ, द** जोइ; **क, स** होइ। **ब** प्रति में पाठ छूटा हुआ है।

देइ—नहीं देता है; अणुदिणु—प्रतिदिन; झायइ—ध्याता है; देउ जिणु—जिनदेव को; सो—वह; परमप्पउ—परमात्मा; होइ—होता है।

अर्थ—जो पुराने कर्म को खपाता है और नये कर्मों को आने से रोक देता है। तथा प्रतिदिन जिनवर का ही ध्यान करता है, वही परमात्मा होता है।

भावार्थ—आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि जो निर्विकार चैतन्यचमत्कार मात्र आत्मस्वभाव को और उसे विकृत करने वाले बन्ध के स्वभाव को जानकर बन्धों से विरक्त होता है, वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है। (समयसार, गा. 293) जीव के अशुद्ध भावों से निरन्तर कर्मों का बन्ध होता है और शुद्ध भाव से संवर-निर्जरा होती है। जैसे सरिता या समुद्र में स्थित नाव में छेद होने पर उसमें जल भर जाता है और छेद के बन्द कर देने पर आता हुआ पानी रुक जाता है। इसी प्रकार मन और इन्द्रियों के द्वारों से आते हुए आस्रव (राग, द्वेषादि) का रुक जाना संवर है। प्रथम सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व नाम के आस्रव के रुक जाने से संवर होता है। पं. सदासुखदासजी के शब्दों में "सम्यग्दर्शन करि तो मिथ्यात्व नाम आस्रवद्वार रुकै है। ... कषायनिकूं जीति दशलक्षण रूप धर्म के धारने तैं चारित्र प्रगट होने तैं कषायनि के अभावतैं संवर होय है। ध्यानादिक तपतैं स्वाध्यायतपतैं योगद्वारै कर्म आवते रुकै हैं, यातैं संवर है। जातैं गुप्तिमय, पंचसमिति, दशलक्षणधर्म, द्वादश भावना, द्वाविंशति परीषहकूं सहना, पंच प्रकार चारित्र पालना इन करि नवीनकर्म नाहीं आवै है।" (रत्नकरण्डश्रावकाचार टीका, छठा अधिकार, पृ. 423)

तप से संवर और निर्जरा दोनों ही होते हैं। ध्यानादि तप से पुराने कर्म झड़ जाते हैं और नये कर्मों का आना रुक जाता है। ज्ञान मात्र आत्मा में लीन होना, उसी से सन्तुष्ट होना और उसी से तृप्त होना परमध्यान है। (समयसार, गा. 206 की टीका) आते हुए कर्मों के रोकने का एक मात्र उपाय है कि जो जीव पहले तो राग-द्वेष-मोह के साथ मिले हुए मन-वचन-काय से शुभाशुभ योगों से अपनी आत्मा को भेदज्ञान के बल से चलायमान नहीं होने दे, फिर उसी को शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय आत्मस्वरूप में निश्चल करे तथा समस्त भीतरी-बाहरी परिग्रह से रहित होकर कर्म-नोकर्म से भिन्न अपने स्वरूप में एकाग्र होकर उसी का अनुभव/ध्यान करे। इस प्रकार आत्मानुभवपूर्वक ध्यान करने से अल्पकाल में ही समस्त कर्मों से मुक्त होकर शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेता है। (आ. अमृतचन्द्र : समयसार, गाथा 187-189 की टीका)

वास्तव में भेद-विज्ञान होने पर ही शुद्धात्मा का अनुभव होता है और शुद्धात्मा के अनुभव से आते हुए नये कर्म रुकते हैं और आस्रव के रुकने से संवर होता है। संवरपूर्वक पुराने कर्म खपते हैं। कर्मों के झड़ने से निर्जरा होती है और निर्जरा होने पर अनन्त काल के लिए परमसुख की प्राप्ति होती है।

विसया सेवइ जो वि परु[1] बहुला पाउ करेइ।
गच्छइ णरयहं[2] पाहुणउ कम्मु[3] सहाउ[4] लएइ[5] ॥195॥

शब्दार्थ—विसया—(इन्द्रिय) विषयों (का); सेवइ—सेवन करता है; जो वि—और जो; परु—दूसरा; बहुला—बहुत—सा; पाउ—पाव; करेइ—करता है; गच्छइ—जाता है; णरयहं—नरक का; पाहुणउ—पाहुना, मेहमान (बनता है); कम्मु—कर्म (की); सहाउ—सहायता; लएइ—लेता है।

अर्थ—जो विषयों का सेवन करके बहुत पाप करता है, वह कर्म की सहायता से नरक का पाहुना बनकर वहाँ जाता है।

भावार्थ—आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

"विषयों में आसक्त जीव नरक में अत्यन्त वेदना पाते हैं, तिर्यंचों और मनुष्यों में दुःखों को भोगते हैं और देवों में भी उत्पन्न हों, तो वहाँ भी दुर्भाग्य प्राप्त करते हैं, नीच देव होते हैं। इस प्रकार चारों गतियों में दुःख ही पाते हैं।"

(शीलपाहुड, गा. 23)

आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि विष खाने से केवल इस जन्म में ही मरण होगा, किन्तु विषयों के सेवन से जन्म-जन्मान्तरों में तरह-तरह के दुःख प्राप्त होते हैं। पं. बनारसीदास के शब्दों में—

जो मन विषै-कषाय में, वरते चंचल सोइ।
जो मन ध्यान विचार सों, रुके सु अविचल होइ ॥

समयसारनाटक, बन्धद्वार, 52

अर्थात्—जो मन विषय-कषाय में लगा रहता है, वह चंचल रहता है और जो आत्मा के शुद्धस्वरूप के चिन्तवन में लगा रहता है, वह स्थिर हो जाता है।

विषय-सेवन को 'भावदीपिका' में अनन्तानुबन्धी का रति कषाय का भाव कहा गया है। पं. दीपचन्द कासलीवाल के शब्दों में—

"बहुरि सप्त व्यसननि विषैं अति आसक्त होय सेवना। पंच इन्द्रियन के विषयनि विषैं बहुत आसक्त रहना। पाँच इन्द्रियन के न्याय मार्ग के विषैं भी धर्म, अर्थ, पुरुषार्थ बिगाड़ अति आसक्त होय सेवना। धर्म विषैं भी विषय-कषाय पोषना, इत्यादि अनन्तानुबन्धी का रति कषाय भाव जानना।" (भावदीपिका, पृ. 59) विषय-सेवन करने वाला एक विषय को छोड़कर अन्य विषय का ग्रहण करता है। एक विषय का सेवन करने पर इच्छा नहीं मिटती है। इसलिए अन्य विषय का ग्रहण

---

1. अ, क, ब, पर; द, स परु; 2. अ, ब णरयह; क, द, स णरयहं; 3. अ, क, द, स कम्मु; ब कम्म; 4. अ, क सहाइ; द, स सहाउ; ब पहाए; 5. अ, क, द, स लएइ; ब लयइ।

करता है। यह सिलसिला अनादि काल से चल रहा है। क्योंकि इच्छाएँ अनन्त हैं, वे कभी पूर्ण नहीं होतीं। इच्छा पूरी हुए बिना आकुलता नहीं मिटती और निराकुल हुए बिना सुख नहीं मिलता। इसलिए विषय-सेवन दुःख का ही कारण है। इसमें प्रत्येक समय भावों में तरह-तरह के घोर पाप होते हैं, इसलिए यह नरकगति में ले जाने का कारण है।

कुहिएण पूरिएण य छिद्देण य खारमुत्तगंधेण[1]।
संताविज्जइ[2] लोओ[3] जह सुणहो[4] चम्मखंडेण ॥196॥

शब्दार्थ—कुहिएण—कुत्सित से; पूरिएण—पूरित, भरा (होने) से; य—और; छिद्देण—छिद्र, छेद से; खारमुत्तगंधेण—क्षार (युक्त) मूत्र की गन्ध से; संताविज्जइ—सन्ताप देता है; लोओ—लोक को; जह—यथा; सुणहो—श्वान को; चम्मखंडेण—चमड़े के टुकड़े से।

अर्थ—क्षारयुक्त मूत्र की गन्ध से पूरित तथा घृणित छेद लोक को सन्तापित करता है; जैसे चमड़े का टुकड़ा कुत्ते को पीड़ित करता है।

भावार्थ—पं. राजमल्लजी कहते हैं कि इन्द्रियों के विषयों में तृष्णा रखने वाले को भीषण अन्तर्दाह होता है। क्योंकि अन्तर्दाह हुए बिना उन जीवों की विषयों में रति कैसे हो सकती है?—पंचाध्यायी, भा. 2, 255

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि संसार में इन्द्रियजन्य जितना सुख है, वह सब इस आत्मा को तीव्र दुःख देने वाला है। इस प्रकार जो जीव इन्द्रियजन्य विषय-सुखों के स्वरूप का चिन्तवन नहीं करता वह बहिरात्मा है। (रयणसार, 136)

आचार्य कुन्दकुन्द यह भी कहते हैं कि पुरुष घी से भरे हुए घड़े के समान है, स्त्री जलती हुई आग के समान है। इस कारण अनेक पुरुष स्त्री के संयोग से नष्ट हो चुके हैं। (मूलाचार, गा. 100)

वास्तव में इन्द्रिय-भोग का सुख बिजली के चमत्कार के समान चंचल है। वह मात्र तृष्णा रूपी रोग को बढ़ाने में कारण है। किन्तु तृष्णा की वृद्धि निरन्तर ताप उत्पन्न करती है, जिससे प्राणी सदा दुःखी रहता है। आचार्य समझाते हुए कहते हैं—जैसे कुत्ता सूखी हुई हड्डी को चबाता हुआ उससे रस प्राप्त नहीं करता है, किन्तु उस हड्डी की नोंक से उसका तलवा कट जाता है, जिससे रुधिर निकलता है तो उस खून को पीता हुआ उसे हड्डी से निकला हुआ मानकर सुखी होने की कल्पना करता है। इसी प्रकार स्त्री के साथ रमण करता हुआ कामी पुरुष वास्तविक सुख

---

1. अ खारमूतेण; **क, द, ब, स** खारमुत्तगंधेण; 2. **अ, क, द, स** संताविज्ज्इ; **ब** संत्ताबिजइ; 3. **अ, ब** लोउ; **क, द, स** लोओ; 4. **अ** सुणउ; **क, द, ब, स** सुणहो।

प्राप्त नहीं करता है; किन्तु काम की पीड़ा से दीन हुआ अपने शारीरिक परिश्रम को ही सुख मान लेता है। (भगवती आराधना, 1256-57)

आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि इस संसार के दुःखों का मूल यह शरीर है, इसलिए आत्मज्ञानी को इसका ममत्व छोड़कर व इन्द्रियों से विरक्त होकर अन्तरंग में आत्मध्यान करना चाहिए। (समाधिशतक, 15) शुद्धात्मा का अनुभव करने से निराकुलता होती है और निराकुलता से सच्चे सुख की प्राप्ति होती है।

देखंताहं[1] वि मूढ[2] वढ रमियइं[3] सुक्खु ण होइ।
अम्मिए[4] मुत्तहं[5] छिद्दु लहु तो वि ण[6] विणडइ[7] कोइ ॥197॥

शब्दार्थ—देखंताहं—देखते हुए के; वि—भी; मूढ—मूढ़; वढ—मूर्ख; रमियइं—रमण करने से; सुक्खु—सुख; ण होइ—नहीं होता है; अम्मिए—ओह! मुत्तहं—मूत्र का; छिद्दु—छेद; लहु—लघु, छोटा; तो वि—तब भी; ण विणडइ—नहीं नष्ट करता है; कोइ—कोई।

अर्थ—हे मोहित मूर्ख! देखने तथा रमण करने से सुख नहीं होता है। अहो! छोटा-सा मूत्र का छेद होने पर भी कोई उसे नष्ट नहीं करता है, सब उससे मूत्र-त्याग करते हैं।

भावार्थ—यथार्थ में सुख विषयों में, भोगों में नहीं है, किन्तु आत्मा के सहज स्वभाव में है। लेकिन "जैसे कुत्ता हड्डी चबाता है, उससे अपना लहू निकले उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह हड्डियों का स्वाद है। उसी प्रकार यह जीव विषयों को जानता है, उससे अपना ज्ञान प्रवर्तता है, उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह विषय का स्वाद है। सो विषय में तो स्वाद है नहीं। स्वयं ही इच्छा की थी, उसे स्वयं ही जानकर स्वयं ही आनन्द मान लिया, परन्तु मैं अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा ज्ञान मात्र का अनुभवन है नहीं।" (मोक्षमार्गप्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृ. 46) इन्द्रियों के विषयों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पं. सदासुखदासजी कहते हैं—

"अर ये पंच इन्द्रियनि के विषय हैं ते आत्मा का स्वरूपकूँ भुलावने वाले हैं, तृष्णाके बधावने वाले हैं, अतृप्तिता के करने वाले हैं। विषयनि की-सी आताप त्रैलोक्य में अन्य नाहीं है। विषय हैं ते नरकादि कुगति के कारण हैं, धर्मतैं पराङ्मुख करै हैं, कषायनिकूँ बधावने वाले हैं, अपना कल्याण चाहैं तिनकूँ दूर ही तै त्यागने

---

1. **अ, क, द, स** देखंताहं; **ब** देखंताहिं; 2. **अ, क, द, स** मूढ; **ब** हड; 3. **अ, स** रमियइ; **क, द, ब** रमियइं; 4. **अ** अमिए; **क, द, स** अम्मिए; **ब** अमिय; 5. **अ, ब,** मुत्तह; **क, द, स** मुत्तहं; 6. **अ, क, द, स** ण; **ब** न; 7. **अ** विरचइ; **क, द, स** विणडइ; **ब** विनडइ।

योग्य है, ज्ञानकूँ विपरीत करने वाले हैं, विष के समान मारने वाले हैं, विषय अर अग्नि समान दाह के उपजाने वाले हैं। तातैं विषयनितैं राग छोड़ना ही परम कल्याण है। अर शरीर है सो रोगनिका स्थान है, महामलिन, दुर्गन्ध सप्त धातुमय है, मल-मूत्रादिक करि भर्‌या है, वात-पित्त-कफमय है, पवन के आधारतैं हलन-चलनादिक करै है, सासता क्षुधा-तृषा की वेदना उपजावै हैं, ए समस्त अशुचिता का पुंज है, दिन-दिन जीर्ण होता चला जाए है, कोटिनि उपाय करकेहू रक्षा किया हुआ मरणकूँ प्राप्त होय है। ऐसी देह तैं विरागता ही श्रेष्ठ है।" (रत्नकरण्डश्रावकाचार, छठा अधिकार, पृ. 258)

भला, देह से स्नेह करने से क्या लाभ है? क्योंकि यह सदा ज्यों का त्यों बना नहीं रहता है, विशीर्ण होता जाता है। इस शरीर की अवस्था में प्रति समय परिवर्तन व परिणमन होता रहता है।

जिणवरु झायहि[1] जीव तुहु[2] विसयकसायहं[3] खोइ।
दुक्खु ण देक्खहि[4] कहिं मि[5] वढ अजरामरु पउ होइ[6] ॥198॥

शब्दार्थ—जिणवरु—जिनवर; झायहि—ध्याओ; जीव—हे जीव!; तुहु—तुम; विसयकसायहं—विषय—कषायों को; खोइ—खोकर, अभाव कर; दुक्खु—दुःख को; ण देक्खहि—नहीं देखना हो; कहिं मि—कहीं भी; वढ—मूर्ख; अजरामरु पउ—अजर, अमर पद; होइ—होता है।

अर्थ—हे जीव! तू विषय-कषाय को खोकर जिनेन्द्रदेव का ध्यान कर। हे मूर्ख! उससे फिर कभी दुःख नहीं देखना पड़ता है और अजर-अमर पद की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—आचार्य वट्टकेर का कथन है—जिनेश्वर का वचन ही औषधि है। इस औषध के सेवन से इन्द्रिय-सुख की इच्छा रूपी मल निकल जाता है। यह जिनवचन रूप औषध अमृत के समान है। आत्मध्यान से आत्मा में सर्वांग में अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है। वृद्धावस्था तथा मरणरूपी व्याधियों से उत्पन्न हुई वेदनाओं का नाश होता है तथा यह जिनवचन रूपी औषध सब दुःखों का नाश करती है। इससे मुनिराज इस औषध का सेवन करते हैं। (मूलाचार, गा. 76)

---

1. अ झावहि; **क, ब, स** झायहि; द झावहे; 2. **अ** तुह; **क, द, ब, स** तुहुं; 3. **अ** विसयकसाया; **क, द, स** विसयकसायहं; **ब** विसयकसायह; 4. **अ** देखइ; **क, द** देक्खहि; **ब** देखहि; **स** देखह; 5. **अ** कहिमि; **क, द** कहिं मि; **ब** कहमि; **स** कहं मि; 6. **अ** जिम सिवपुरि पावेहि; **क** अजरामरु पउ होइ; **द, स** जिम सिवपुरि पावेइ। **ब** प्रति में यहाँ पर दोहा सं. 203 है और दोहा सं. 203 के स्थान पर 204 है।

जो इन्द्रिय और मन को जीते बिना तथा ज्ञान-वैराग्य प्राप्त हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति के लिए ध्यान का अभ्यास करते हैं, वे मूर्ख अपने दोनों भव बिगाड़ते हैं। (ज्ञानार्णव, 20, 22) वास्तव में इन्द्रियों के भोग सार रहित तुच्छ जीर्ण तृण के समान हैं, भय को उत्पन्न करने वाले हैं, आकुलतामय कष्ट करने वाले हैं और निरन्तर विनाशी हैं। इन्द्रियों के विषयों का सेवन कर जीव दुर्गति को प्राप्त होता है, क्लेश को भोगता है, इसलिए विद्वानों के द्वारा निन्दनीय है। यदि इन्द्रियों तथा विषय-कषायों से वास्तविक सुख मिलने लगे, तो फिर ज्ञान से क्या मिलेगा? यथार्थ में आत्मज्ञान ही सच्चा सुखदायी है। आचार्य कुलधर कहते हैं—काम के समान रोग नहीं है, मोह के समान शत्रु नहीं है, क्रोध के समान अग्नि नहीं है और ज्ञान के बराबर सुख नहीं है। (सारसमुच्चय, 27) भट्टारक ज्ञानभूषण का कथन है कि इन्द्रियजन्य सुख सुख नहीं है, किन्तु जो तृष्णा रूपी आग उत्पन्न होती है, उसकी वेदना का क्षणिक उपाय है। सुख तो आत्मा में विशुद्ध परिणाम तथा निराकुलता युक्त आत्मा में स्थित होने पर उपलब्ध होता है। ध्यान तो निज शुद्धात्मा का करना कहा है। पाँचों परमेष्ठी निज शुद्धात्मा का आश्रय लेकर अपने शुद्धात्म-स्वभाव में लीन होकर स्थिर होते हैं।

विसयकसाय चएवि[1] वढ अप्पहं[2] मणु वि धरेहि[3]।
चूरिवि[4] चउगइ णित्तुलउ परमप्पउ पावेहि[5] ॥199॥

शब्दार्थ—विसयकसाय—विषय- कषायों को; चएवि—छोड़कर; वढ—मूर्ख; अप्पहं—आत्मा में; मणु वि—मन को भी (उपयोग); धरेहि—धरो, लगाओ; चूरिवि—चूरकर, नाश कर; चउगइ—चारों गतियों (का); णित्तुलउ—अतुल; परमप्पउ—परमपद; पावेहि—प्राप्त करो।

अर्थ—हे मूर्ख! विषय-कषाय को छोड़ कर आत्मा में मन को लगा कर चारों गति का नाश कर अतुल परमपद को प्राप्त करो।

भावार्थ—आचार्य गुणभद्र कहते हैं—हाय! बहुत दुःख की बात है कि संसार रूपी कत्लखाने में पापी और क्रोधी ऐसे इन्द्रिय विषय रूप चाण्डालों ने चारों तरफ राग रूपी भयंकर अग्नि सुलगा दी है, जिससे चारों तरफ से भय प्राप्त और अत्यन्त व्याकुल हुए पुरुष रूपी हिरन अपने बचाव के लिए अन्तिम शरण चाहते, खोजते हुए काम रूपी चाण्डाल द्वारा बनाए गये स्त्री रूपी कपट स्थान में जा-जाकर मरण को प्राप्त होते हैं। (आत्मानुशासन, 130)यह निश्चित है कि इन्द्रियों के भोग भोगने

---

1. अ, द, ब, स चएवि; क चएहि; 2. अ, ब अप्पह; क, द, स अप्पहं; 3. अ धरेइ; क, द, स धरेहि; ब धरेहिं; 4. अ, द, ब, स चूरहि; क चूरिवि; 5. अ पावेहिं; क, द, ब, स पावेहि।

से झूठा सुख मिलता है। इन्द्रियाँ तृष्णा रूपी रोग को बढ़ाती हैं, तो फिर इनसे क्या काम लेना चाहिए? ये इन्द्रियाँ तो धर्म के लिए बाहरी साधन हैं। अतः ज्ञानार्थी को यह निर्णय कर निश्चय कर लेना चाहिए कि इन्द्रियसुख सच्चा सुख नहीं है।

इन्द्रियों के भोग रोग के समान असार हैं। जैसे केले के खम्भे को छीलने से कहीं भी गूदा या सार नहीं मिलता है; केवल छिलके ही हाथ में आते हैं, वैसे ही इन्द्रियों के भोगों से कभी कोई सार फल नहीं निकलता है। इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा से कषाय की अधिकता होती है, लोलुपता बढ़ती है, हिंसात्मक भाव हो जाते हैं, धर्म भाव से च्युत हो जाते हैं, अतएव पापकर्म का बन्ध होता है।

आचार्य शिवकोटि कहते हैं कि अध्यात्म में रति स्वाधीनता है, भोगों में रति पराधीनता है। क्योंकि भोगों से तो छूटना ही पड़ता है। स्वात्म-रति में पुरुषार्थी जीव स्थिर रह सकता है। भोगों के भोग में तो अनेक विघ्न आते हैं, किन्तु आत्म-रति विघ्नरहित है। (भगवती आराधना, गा. 1270)

आचार्य कुन्दकुन्द कितना उत्तम कहते हैं—"जिसकी दृष्टि अँधेरे में देख सकती है, उस को दीपक की क्या आवश्यकता है? वास्तव में आत्मज्ञान के लिए बाहरी साधन रूप दीपक की आवश्यकता नहीं है। यदि सहज सुख स्वयं आत्मस्वरूप है, तब फिर इन्द्रियों के विषयों की क्या आवश्यकता है? वास्तव में इन्द्रिय-विषय सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए किसी प्रकार के साधन नहीं हैं।

इंदियपसरु[1] णिवारि वढ[2] मण जाणहि परमत्थु।
अप्पा मेल्लिवि[3] णाणमउ अवरु[4] विडावइ[5] सत्थु ॥200॥

शब्दार्थ—इंदियपसरु—इन्द्रियों का फैलाव; णिवारि—रोक कर; वढ—मूर्ख; मण—मन (को); जाणहि—जानो; परमत्थु—परमार्थ; अप्पा—आत्मा (को); मेल्लिवि—छोड़कर; णाणमउ—ज्ञानमयी; अवरु—अन्य, दूसरे; विडावइ—कल्पना करते हैं, कल्पित हैं; सत्थु—शास्त्र।

अर्थ—हे मूर्ख! इन्द्रियों के फैलाव में जाते हुए मन को रोक कर परमार्थ को जानो। ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर अन्य शास्त्र कल्पित हैं।

भावार्थ—आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि मनुष्यों को इच्छानुसार जैसे-जैसे भोगों की प्राप्ति होती जाती है, वैसे-वैसे उनकी तृष्णा बढ़ती हुई सम्पूर्ण लोक में फैल जाती है। (ज्ञानार्णव, श्लोक 30) ऊपर के दोहे में जो भाव है, वही आचार्य गुणभद्र इस प्रकार प्रकट करते हैं—हे आत्मन्! तू आत्मज्ञान के लोपने वाले विषय-कषायादि में

1. **अ, द** इंदियपसर; **क, ब, स** इंदियपसरु; 2. **अ, स** णिवारि वढ; **क, द** णिवारियइं; **ब** णिवारयइ; 3. **अ, ब** मिलिवि; **क, द** मिल्लिवि; **स** मेल्लिवि; 4. **अ, ब** अवर; **क, द, स** अवरु; 5. **अ, स** विडावइ; **क, द, ब** विडाविउ।

प्रवृत्त होकर चिरकाल दुराचारी रहा। अब जो तू आत्मा का कल्याण करने वाले अपने ही ज्ञान-वैराग्य आदि भावों को ग्रहण करे, तो परमात्मा दशा को प्राप्त हो सकते हो, केवलज्ञानी हो सकते हो। फिर, अनन्तकाल के लिए सहज अतीन्द्रिय परमसुख की उपलब्धि होती है। (आत्मानुशासन, श्लोक 193)

आचार्य शिवकोटि कहते हैं कि उन्मार्ग में जाने वाले दुष्ट घोड़ों का जिस प्रकार लगाम लगाने पर निग्रह हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान की भावना से इन्द्रिय रूपी घोड़े वश में कर लिए जाते हैं।(भगवती आराधना, गा. 1837)

यदि लौकिक दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्यक्ष में संसारी जीव विकल्प से सहित हैं, किन्तु योगी सभी विकल्प-जाल से रहित निर्मूल ज्ञान-दर्शनमयी स्वभाव से अर्थात् परमात्मा से भेंट करता है। ध्याता ऐसे ध्याता है कि मैं निज शुद्धात्मा का ध्यान करता हूँ। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा परभावों से रहित शुद्ध है, निश्चल एकरूप है, ज्ञानस्वरूप, दर्शनमयी है, अपने अतीन्द्रिय स्वभाव से यह एक परम तत्त्व है जो अपने स्वभाव में निश्चल है तथा पर के आलम्बन से रहित स्वाधीन है। यही भावना आत्मानुभव को जागृत करती है। (आ. कुन्दकुन्द : प्रवचनसार, गा. 104-2)

पं. द्यानतराय जी 'द्यानतविलास' (पद 32) में कहते हैं–

> चेतनजी तुम जोड़त हो धन, सो धन चलै नहीं तुम लार।
> जाको आप जानि पोषत हो, सो तन जरिके ह्वै है छार ॥
> विषय-भोग को सुख मानत हो, ताको फल है दुःख अपार।
> यह संसार वृक्ष सेमर को, मानिक कह्यो मैं कहूँ पुकार ॥

विसया चिंति म जीव तुहु[1] विसय ण[2] भल्ला होंति[3]। सेवंताहं[4] वि महुर वढ पच्छइं[5] दुक्खइं[6] दिंति[7] ॥201॥

शब्दार्थ–विसया–विषयों (की); चिंति–चिन्ता; म–मत (कर); जीव–हे जीव!; तुहु–तू, तुम; विसय–विषय; ण भल्ला–भले नहीं; होंति–होते हैं; सेवंताहं वि–सेवन करने वालों के भी; महुर–मधुर (हैं); वढ–मूर्ख; पच्छइं–पीछे से, बाद में; दुक्खइं–दुःखों को; दिंति–देते हैं।

अर्थ–हे जीव! तू विषयों की चिन्ता मत कर। विषय कभी भी भले नहीं होते। हे मूर्ख! सेवन करते समय तो विषय मधुर लगते हैं, लेकिन पीछे दुःख देते हैं।

---

1. **अ** तूं; **क, द, ब, स** तुहुं; 2. **अ, ब,** न; **क, द, स** ण; 3. **अ** हुंति; **क, द, ब, स** होंति; 4. **अ, ब** सेवंताह; **क, द, स** सेवंताहं; 5. **अ** पच्छइ; **क, द, ब, स** पच्छइं; 6. **अ** दुक्खइं; **क, द, ब, स** दुक्खइं; 7. **अ, क, द, स** दिंति; **ब** देंति।

भावार्थ–आचार्य जिनसेन कहते हैं कि जो पुरुष, स्त्री आदि विषयों का उपभोग करता है, उसका सारा शरीर काँपने लगता है, श्वास तीव्र हो जाती है और सारा शरीर पसीने से तर हो जाता है। ऐसा जीव यदि संसार में सुखी माना जाए, तो फिर दुःखी कौन होगा? जिस प्रकार कुत्ता दाँतों से हड्डी को चबाता हुआ अपने आपको सुखी मानता है, वैसे ही जो विषयों में मोहित हो रहा है, ऐसा मूर्ख प्राणी विषय के सेवन से उत्पन्न हुए परिश्रम मात्र को सुख मानता है। विषयों का सेवन करने से प्राणियों को केवल रति ही उत्पन्न होती है। यदि वह रति ही सुख मानी जाए, तो अपवित्र वस्तुओं के खाने में भी सुख मानना चाहिए। विषयी मनुष्य जिस प्रकार रतिपूर्वक प्रसन्नता से विषयों का उपभोग करते हैं, उसी प्रकार कुत्ता और सुअर भी प्रसन्नता के साथ विष्टा आदि अपवित्र वस्तुएँ खाते हैं। (आदिपुराण अ. 1, पृ. 243) पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में "क्षयोपशम रूप इन्द्रियों से तो इच्छा पूर्ण होती नही है, इसलिए मोह के निमित्त से इन्द्रियों को अपने-अपने विषय ग्रहण की निरन्तर इच्छा होती ही रहती है; उससे आकुलित होकर दुःखी हो रहा है। ऐसा दुःखी हो रहा है कि किसी एक विषय के ग्रहण के अर्थ अपने मरण को भी नहीं गिनता है। जैसे हाथी को कपट की हथिनी का शरीर स्पर्श करने की, मच्छ को बंसी में लगा हुआ माँस का स्वाद लेने की, भ्रमर को कमल-सुगन्ध सूँघने की, पतंगे को दीपक का वर्ण देखने की, और हरिण को राग सुनने की इच्छा ऐसी होती है कि तत्काल मरना भासित हो, तथापि मरण को नहीं गिनते। विषयों का ग्रहण करने पर उसके मरण होता था, विषय सेवन नहीं करने पर इन्द्रियों की पीड़ा अधिक भासित होती है। इन इन्द्रियों की पीड़ा से पीड़ित रूप सर्व जीव निर्विचार होकर जैसे कोई दुःखी पर्वत से गिर पड़े, वैसे ही विषयों में छलाँग लगाते हैं। नाना कष्ट से धन उत्पन्न करते हैं, उसे विषय के अर्थ खोते हैं। तथा विषयों के अर्थ जहाँ मरण होना जानते हैं, वहाँ भी जाते हैं। नरकादि के कारण जो हिंसादिक कार्य उन्हें करते हैं तथा क्रोधादि कषायों को उत्पन्न करते हैं।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृ. 47)

विसयकसायहं[1] रंजियउ अप्पहिं[2] चित्तु ण[3] देइ।
बंधिवि[4] दुक्कियकम्मडा चिरु[5] संसारु[6] भमेइ ॥202॥

शब्दार्थ–विसयकसायहं–विषय–कषायों का; रंजियउ–रंगा हुआ (जीव); अप्पहि–अपने आप में, आत्मा में; चित्तु–चित्त; ण देइ–नहीं देता

1. अ, ब विसयकसायह; क, द, स विसयकसायहं; 2. अ, क अप्पहं; अप्पह; द, स अप्पहिं; 3. अ, ब न; क, द, स ण; 4. अ, क, द, स बंधिवि; ब बंधवि; 5. अ, क, द चिरु; ब, स चिर; 6. अ, क, स संसारु; द, ब संसार।

है, लगाता है; बंधिवि–बँधकर; दुक्कियकम्मडा–दुष्कृत (खोटे) कर्मों को; चिरु–चिर, दीर्घ (काल तक); संसारु–संसार (में); भमेइ–भ्रमण करता है।

अर्थ–विषय-कषायों में रंजायमान होकर यह जीव अपने स्वरूप में ध्यान नहीं लगाता है। इसलिए दुष्कृत कर्मों का बन्ध कर चिरकाल तक संसार में घूमता है।

भावार्थ–यह निश्चित है कि विषयों के सुख के कारण ही यह पर द्रव्यों से राग करता है। आगम में ठीक ही कहा गया है कि जैसे विषय-सुख से प्रीति करता है, वैसे जिनधर्म से करे तो संसार में नहीं भटकता। जैनकुल में उत्पन्न होकर भी जो जैनधर्म में प्रीति नहीं करता और विषय-कषाय का सेवन कर क्रोधादि करता है, वह अपनी आत्मा को ठगने वाला है। यह संसारी प्राणी विषयों में इतना रंजायमान क्यों है? इसका समाधान करते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी कहते हैं–

"तथा मोह के आवेश से उन इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करने की इच्छा होती है और उन विषयों का ग्रहण होने पर उस इच्छा के मिटने से निराकुल होता है, तब आनन्द मानता है...तथा मैंने नृत्य देखा, राग सुना, फूल सूँघा, (पदार्थ का स्वाद लिया, पदार्थ का स्पर्श किया) शास्त्र जाना, मुझे यह जानना–इस प्रकार ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभवन है, उससे विषयों की ही प्रधानता भासित होती है। इस प्रकार इस जीव को मोह के निमित्त से विषयों की इच्छा पाई जाती है।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृ. 47)

आचार्य अमितगति कहते हैं कि "विषय-भोग समयानुसार स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं और ऐसा होने पर उनमें कोई गुण नहीं उत्पन्न होता है; उनसे कुछ भी लाभ नहीं होता है। इसलिए हे जीव! तू दुःख और भय को उत्पन्न करने वाले इन विषय-भोगों को धर्मबुद्धि से स्वयं छोड़ दे। कारण यह है कि यदि ये स्वयं स्वतन्त्रता से नष्ट होते हैं, तो मन में अतिशय तीव्र सन्ताप को करते हैं और यदि इनको तू स्वयं छोड़ देता है, तो फिर वे उस अनुपम आत्मिक सुख को उत्पन्न करते हैं जो सदा स्थिर रहने वाला एवं पूज्य है।" (सुभाषितरत्नसंदोह, श्लोक 413)

इंदियविसय[1] चएवि वढ करि मोहहं परिचाउ।
अणुदिणु झावहि[2] परमपउ तो एहउ ववसाउ[3] ॥203॥

शब्दार्थ–इंदियविसय–इन्द्रिय के विषय को; चएवि–छोड़कर; वढ–मूर्ख; करि–करके; मोहहं–मोह का; परिचाउ–परित्याग;

---

1. अ, क, द, स इंदियविसय; ब विसयकसाय; 2. अ झावउ; क झायहि; द, स झावहि; 3. अ वउसाउं; क, द, ब, स ववसाउ।

अणुदिणु—प्रतिदिन; झावहि—ध्याओ; परमपउ—परमपद; तो एहउ—यही; ववसाउ—व्यवसाय, कारज (है)।

अर्थ—हे मूर्ख! इन्द्रियों के विषयों को छोड़कर मोह को भी छोड़। आत्मा-परमात्मा का निशि-दिन ध्यान करने से ही यह कारज हो सकता है।

भावार्थ—आचार्य शुभचन्द्र का कथन है कि जो इन्द्रियों के बिना ही अपनी आत्मा में आत्मा से ही सेवन होता है, उसे ही योगीश्वरों ने आध्यात्मिक सुख कहा है। (ज्ञानार्णव, 20, 24)

कहा भी है—"जो इन्द्रियों के विषयों की इच्छाओं का दमन करने वाला शरीर में यात्री के समान प्रस्थान करते हुए अपनी आत्मा को अविनाशी समझता है, वही इस भयानक संसार रूपी समुद्र को गाय के खुर के समान लीला मात्र में पार करके शीघ्र ही मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।" (आ. अमितगति : तत्त्वभावना, श्लोक 38)

आचार्य जिनसेन का कथन है—"जिस प्रकार नीम के वृक्ष में उत्पन्न हुआ कीड़ा उसके कडुवे रस को पीता हुआ उसे मीठा जानता है, उसी प्रकार संसार रूपी विष्टा में उत्पन्न हुए ये मनुष्य रूपी कीड़े स्त्री-संभोग से उत्पन्न हुए खेद को ही सुख मानते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं और उसी में प्रीति को प्राप्त होते हैं।" (आदिपुराण, भा. 1, श्लोक 179-180)

वास्तविकता यही है कि मोह से अन्धे हुए जीवों के हृदय में बाहरी स्त्री, पुत्र, शरीर आदि पदार्थों में अपनापन भासित होता है। आचार्य अमितगति कहते हैं—"धन, परिजन, स्त्री, भाई, मित्र आदि के मध्य कोई भी ऐसा नहीं है जो इस प्राणी के साथ परलोक में जाता हो। फिर भी, प्राणी विवेक से रहित होकर उन सबके विषय में तो अनुराग करते हैं, किन्तु उस धर्म को नहीं करते हैं जो जानेवाले के साथ जाता है।"(सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक 9)

श्रीगुरु जगवासी जीवों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि तुम मोह की नींद लेते हुए इस संसार में अनन्त काल बिता चुके हो। अब तो जागो और सावधान होकर भगवान् की वाणी सुनो। जिनवाणी का श्रवण कर इन्द्रियों के विषय जीते जा सकते हैं। मेरे पास आओ। मैं तुमको कर्म-कलंक से रहित परम आनन्दमय आत्मा के गुण बताऊँ। श्रीगुरु ऐसे मीठे वचन कहते हैं, किन्तु मोही जीव कुछ भी ध्यान नहीं देते, मानों वे मिट्टी के पुतले हैं अथवा चित्र में बने हुए मनुष्य हैं। (समयसार नाटक, निर्जराद्वार, 12)

णिज्जियसासो णिप्फंदलोयणो मुक्कसयलवावारो।
एयाइं अवत्थ गओ[1] सो जोयउ णत्थि संदेहो ॥204॥

शब्दार्थ—णिज्जियसासो—श्वास को जीत लिया; णिप्फंदलोयणो—निश्चल नेत्र (वाले); मुक्कसयलवावारो—मुक्त सम्पूर्ण व्यापारों (से); एयाइं—ऐसी; अवत्थ गओ—अवस्था को प्राप्त; सो—वह; जोयउ—योग (है); णत्थि—नहीं है (इसमें); संदेहो—सन्देह।

अर्थ—व्यवहार में श्वास को जीत लिया, नेत्र निश्चल हो गये, सभी व्यापार छूट जाने पर जो अवस्था होती है, वह 'योग' है—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

भावार्थ—वस्तुतः निर्विकल्प आत्मज्ञान का नाम योग है। क्योंकि योगी के कर्म से उत्पन्न सुख-दुःख के होने पर भी सुख-दुःख की कल्पना नहीं होती है। आचार्य पद्मनन्दि का कथन है—

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः।
नान्यदल्पमपि तत्त्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः ॥

—पद्मनन्दि., सद्बोध. अ. 25

अर्थात्—सभी प्रकार की राग-द्वेष आदि उपाधियों से रहित तथा सम्यग्ज्ञान रूप जो वस्तु है वही हमारी है, हम हैं। इससे भिन्न जो भी वस्तु है, वह हमारी नहीं है। यही तत्त्व है। जो योग का निश्चय है, वही मोक्ष का कारण है। वास्तव में ध्यान से ही प्राणी कर्म-बन्धन को प्राप्त होता है और ध्यान से ही मोक्ष को प्राप्त होता है। उस ध्यान-साधना के लिए श्वास को रोकना, नेत्र निश्चल रखना, ध्यान की मुद्रा में स्थित होना आदि बाहरी साधन कहे गये हैं। यह कोई आवश्यक नहीं है कि इन बाहरी साधनों का सफल अभ्यास होने पर अन्तरंग में ध्यान की उपलब्धि हो। हो सकती है और नहीं भी होती है। वास्तव में योग-मार्ग स्वानुभूतिप्रधान है। निज शुद्धात्मा का अनुभव हुए बिना बाहर में किसी भी केन्द्र पर, शिविर में या विद्यालय से इस विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती। योग-मार्ग विषम है। जो भव्य जीव मोक्ष के अभिलाषी हैं, उनको यह समस्त योग (ध्यान) मार्ग सद्गुरु के उपदेश से समझना चाहिए।(पद्मनन्दिपंचविंशति, वही, श्लोक 26)

'योग' का शब्दार्थ 'जुड़ना' है। लेकिन जैन योग में बाहर की चेष्टाओं की, ध्यान-मुद्रा, नाद-बिन्दु आदि की मुख्यता नहीं है। क्योंकि श्वासोच्छ्वास पर नियन्त्रण करना यह एक भौतिक क्रिया है। जिस प्रकार मन को जीतने के लिए 'हठयोग'

---

1. **अ, ब** गउ; **क, द, स** गओ।

नहीं, 'सहजयोग' यथार्थ उपाय है, वैसे ही आत्मज्ञानपूर्वक 'ध्यानयोग' तथा 'धर्मध्यान से समाधि' होती है। आचार्य अमितगति ने 'योगसार' में इसका विशद विवेचन किया है। उसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

तुट्टे मणवावारे भग्गे तह[1] रायरोससब्भावे[2]।
परमप्पयम्मि अप्पे[3] परिट्ठिए[4] होइ णिव्वाणं ॥205॥

शब्दार्थ—तुट्टे—टूटने पर; मणवावारे—मन का व्यापार; भग्गे—भग्न, नाश होने पर; तह—तथा; रायरोससब्भावे—राग—द्वेष के सद्भाव के; परमप्पयम्मि—परमात्म पद में; अप्पे—आत्मा में; परिट्ठिए—परिस्थित होने पर; होइ—होता है; णिव्वाणं—निर्वाण, मोक्ष।

अर्थ—मन का व्यापार हट जाने पर और राग-द्वेष के सद्भाव की समाप्ति होने पर परम पद में स्थित होते ही अतीन्द्रिय ज्ञान-परमानन्द मय जो (अविचल) अवस्था है, वही निर्वाण है।

भावार्थ—ब्रह्मदेवसूरि का कथन है कि जब समस्त रागादि विकल्प समाप्त हो जाते हैं, तब निर्विकल्प ध्यान के प्रसाद से केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान पूर्ण वीतराग अवस्था में ही प्रकट होता है। केवलज्ञानी का नाम अर्हन्त या जीवन्मुक्त है। भावमोक्ष होने की अवस्था को ही जीवन्मुक्ति कहा जाता है। वहाँ पर मन का कोई व्यापार नहीं होता। क्योंकि सभी सम्बन्धों के सूत्र टूट जाते हैं। जब सम्बन्ध ही नहीं, तब सम्पर्क भी नहीं होता। केवलज्ञान के प्रकट होने पर लोक-अलोक का प्रत्येक समय में जानना होता है। सम्पूर्ण लोकालोक को एक ही समय में केवलज्ञान से जानता हुआ अर्हन्त कहलाता है। जिसके जानने में कोई क्रम नहीं है। एक ही समय में जो अक्रम रूप से प्रत्यक्ष जानता है और जो परम आनन्दमय है, वह केवलज्ञान है। वीतराग परम समरसी भाव रूप जो परम अतीन्द्रिय, अविनाशी सुख जिसका लक्षण है, जो सदा अचलज्ञान में अवस्थित है और ज्ञानानन्द की लीन सहज अवस्था है, उसी का नाम मोक्ष है।

मोक्ष रबर की तरह नहीं है कि उसे कितना भी खींचा जाए तो भी सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती है। अतः अनुभूति का नाम मोक्ष नहीं है, किन्तु सहज, स्वाभाविक, वीतराग, निर्मल परिणति का अपने स्वभाव रूप सदा कायम रहने को ही मोक्ष कहते हैं।

जो वीतरागी चिदानन्द स्वभाव परमात्मा से भिन्न है, वह कर्म है और वही

---

1. **अ** तहं; **क, द, ब, स** तह; 2. **अ** रायरोसं सासब्भे; **द** रोयरोससब्भावे; **क, ब, स** रायरोससब्भावे; 3. **अ, द, ब** अप्पो; **क, स** अप्पे; 4. **अ, द, ब** परिट्ठिओ; **क, स** परिट्ठिए।

संसार का मूल है। जगत् के जीव कर्मों से सहित हैं और परमात्मा कर्मों से रहित है। इसलिए परमात्मा के कर्मों से उत्पन्न होने वाला न तो शरीर होता है और न भूख-प्यास। एक बार बीज के जल जाने पर फिर उससे वृक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार आठों कर्मों तथा दोषों से रहित हो जाने पर जीवन्मुक्त आत्मा के जन्म-मरण नहीं होता। इस कारण मोक्ष में राग-द्वेष, जन्म-मरण, संकल्प-विकल्प, मन और इन्द्रियों का अभाव हो जाता है। केवल ज्ञायक रूप जानन, जानन अवस्था होती है। टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव से ही अनन्त ज्ञानादि गुणों का विस्तार होता है और परमात्मप्रकाश रूप अनन्त काल तक बने रहते हैं।

विसया सेवहि जीव तुहु[1] छंडिवि अप्पसहाउ[2]।
अण्णइं[3] दुग्गइं[4] जाइसिहि[5] तं एहउ ववसाउ ॥206॥

शब्दार्थ–विसया–विषयों (का) सेवहि–सेवन करते हो; जीव–हे जीव!; तुहु–तुम; छंडिवि–छोड़कर; अप्पसहाउ–आत्मस्वभाव (को); अण्णइं–अन्य को; दुग्गइं–दुर्गति को; जाइसिहि–जाओगे, प्राप्त होगे; तं–वह; एहउ–ऐसा ही; ववसाउ–व्यापार (है)।

अर्थ–हे जीव! तुम आत्म-स्वभाव को छोड़कर विषयों का सेवन करते हो। इसलिए अन्य गति में दुर्गति को प्राप्त होगे। यह ऐसा ही व्यापार है।

भावार्थ–आचार्य जिनसेन का कथन है कि जो औषधि रोग दूर नहीं कर सके, वह वास्तव में औषधि नहीं है। जो पानी प्यास नहीं बुझा सके, वह वास्तविक जल नहीं है और जो धन आपत्ति का विनाश नहीं कर सके, वह यथार्थ में धन नहीं है। इसी प्रकार विषयों से उत्पन्न होनेवाला सुख तृष्णा का नाश नहीं कर सके, तो वास्तविक सुख नहीं है। (आदिपुराण, श्लोक 168-169, पृ. 242)

आचार्य पूज्यपाद स्पष्ट रूप से कहते हैं कि आत्मा के स्वरूप से अनजान पुरुष शरीर में तथा पर पदार्थों में अपनत्व बुद्धि के कारण पुत्र-स्त्री आदि के सम्बन्ध में भ्रान्ति में बने रहते हैं। इस विभ्रम से अविद्या नाम का संस्कार दृढ़ होता है। इस कारण से अज्ञानी जीव जन्म-जन्मान्तरों में शरीर को ही आत्मा मानता है। (समाधितन्त्र, श्लोक 11-12)

आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में–

---

1. **अ** तुहु; **क, द, ब, स** तुहुं; 2. **अ, क, ब, स** अप्पसहाउ; **द** अप्पुसहाउ; 3. **अ** अणइ; **क, द** अण्णइ; **ब, स** अण्णइं; 4. **अ, क, द** दुग्गइ; **ब, स** दुग्गइं; 5. **अ, क** जाइसिहि; **द** जाणिसिहि; **ब, स** जाइसिहिं।

जह विसयलुद्ध विसदा तह थावरजंगमाण घोराणं।
सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ॥शीलपाहुड, गा. 21

अर्थात्—जैसे विषय-सेवन रूपी विषय विषयों में लुभाये हुए जीवों को विष देने वाला है, उसी प्रकार घोर तीव्र स्थावर-जंगम सब ही विष प्राणियों का विनाश करते हैं, तथापि इन सब विषों में विषयों का विष तीव्र है, दारुण है।

आचार्य उपदेश देते हैं कि अरे बुद्धिमानों! विशेष कहाँ तक कहें? अब शीघ्र ही स्त्री-पुत्र, धन, घर आदि पदार्थों से मोह छोड़कर ऐसा कोई काम करो, जिससे तुम को फिर जन्म न धारण करना पड़े। क्योंकि फिर उत्तम कुल, जिनधर्म का शरण, निर्ग्रन्थ सद्गुरु का उपदेश आदि मिलना दुर्लभ है। (पद्मनन्दि पंचविंशति, धर्मोपदेशामृत, 123)

मंतु ण तंतु ण धेउ[1] ण धारणु।
ण वि उच्छासह[2] किज्जइ कारणु ॥
एमइ परमसुक्खु[3] मुणि सुव्वइ[4]।
एही गलगल कासु ण[5] रुच्चइ ॥207॥

शब्दार्थ—मंतु—मन्त्र; ण तंतु—नहीं तन्त्र; ण धेउ—न ध्येय; ण धारणु—न धारण; ण —नहीं ही; उच्छासह—श्वासोच्छ्वास का; किज्जइ—किया जाता है; कारणु—साधन; एमइ—ऐसा; परमसुक्खु—परम सुख (में); मुणि—मुनि; सुव्वइ—सोता है; एही—ऐसी; गलगल—गड़बड़; कासु—किसी (को); ण रुच्चइ—नहीं रुचती है।

अर्थ—जहाँ न मन्त्र, न तन्त्र, न ध्येय, न धारण, न उच्छ्वास का कोई साधन है, वही मुनि परमसुख में सोता है। क्योंकि गड़बड़ किसी को नहीं रुचती है।

भावार्थ—जहाँ लौकिकता का लक्ष्य या ध्येय है, वहाँ परमार्थ नहीं है। इसलिए लौकिकता में मोक्ष-मार्ग नहीं है। जो मोक्ष के मार्ग में चलना चाहता है, उसे ख्याति, नामवरी, पूजा-सम्मान आदि लौकिक वांछाओं से दूर रहना चाहिए। साधु को ही नहीं, सद्गृहस्थ को भी तन्त्र-मन्त्र को और धार्मिक क्रियाओं को आजीविका का साधन नहीं बनाना चाहिए। बड़े-बड़े राजा-महाराजा, चक्रवर्ती भी यह भावना भाते थे कि मैंने इच्छानुसार चिरकाल तक दसों प्रकार के भोग भोगे, किन्तु इस भव में तृष्णा

---

1. अ कद; द धेउ; ब धेव; स धेऊ; 2. अ उच्छासहि; क, द, ब, स उच्छासह; 3. अ, क, स परमसुक्खु; द, ब परमसुक्ख; 4. अ, क, ब, स सुव्वइ; द सुच्चइ; 5. अ, क, द, स, ण; ब न।

को नष्ट करने वाली तृप्ति मुझे रंच मात्र भी नहीं हुई। यदि हमारी इच्छा के विषयभूत सभी इष्ट पदार्थ एक साथ मिल जाएँ, तो उनसे थोड़ा-सा भी सुख नहीं मिलता है। (आदिपुराण, 47/240-241) जब श्रीपाल जैसे चक्रवर्ती यह विचार करते हैं, तो फिर साधारण लोगों को विषय-कषायों से सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? वास्तव में सच्चे सुख का निश्चय आत्मा में ही किया जा सकता हैं; क्योंकि परम सुख का निधान आत्मा ही है। आत्मा में सुख कहीं बाहर से नहीं आता।

सुख आत्मा का अनन्य गुण है। वह स्वाधीन है। सुख के उत्पन्न होने में मन, इन्द्रिय, पदार्थ आदि किसी की सहायता की आवश्यता नहीं होती। जो पराधीन है, वह सब दुःख है। पुण्य से उत्पन्न होने वाले भोग पराश्रित होने के कारण दुःखरूप हैं। किन्तु आत्मज्ञान (योग) से उत्पन्न हुआ ज्ञान (शुद्ध आत्मज्ञान) स्वाधीन होने के कारण सुखरूप अपना स्वरूप है। (योगसारप्राभृत, 9, 13) निर्मल ज्ञान ही स्थिर होने पर ध्यान कहलाता है। ध्यान शुद्धात्मा का होता है। इसलिए वही सबसे बड़ा मन्त्र है। शुद्धात्मा से बड़ा कोई मन्त्र नहीं है। इसलिए जैनों का महान् मन्त्र 'णमोकार' है। उस महामन्त्र में शुद्धात्मा की पाँच अवस्थाओं का वर्णन है। शुद्धात्मा ही सबसे श्रेष्ठ महामन्त्र है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

पाँचों परमेष्ठी जिस शुद्धात्मा की शरण ग्रहण करते हैं, वही एक शुद्धात्मा मेरे लिए शरणभूत है।

निश्चय में एक शुद्धात्मा और व्यवहार में पाँच परमेष्ठी का शरण है। इसके अलावा न मन्त्र, न तन्त्र, न कोई देव और न देवी शरण ग्रहण करने योग्य, पूज्य नहीं है।

उववास[1]विसेस करेवि[2] बहु एहु[3] वि संवरु होइ।
इच्छइ[4] किं बहु वित्थरेण[5] मा पुच्छिज्जइ[6] कोइ ॥208॥

शब्दार्थ—उववासविसेस—उपवास विशेष (आत्मसाधना पूर्वक); करेवि—करके; बहु—बहुत; एहु वि—ऐसा ही; संवरु—संवर (कर्म का आना रुकना); होइ—होता है; इच्छइ—इच्छा करता है; किं—क्या; बहु—बहुत; वित्थरेण—विस्तार से; मा—मत, नहीं; पुच्छिज्जइ—पूछा जाता है; कोइ—कोई (से)।

अर्थ—विशेष रूप से आत्म-साधन पूर्वक उपवास करने से संवर (आते हुए

---

1. अ, क, ब, स उववास; द उववा; 2. अ, ब, स करेवि; क, द करिवि; 3. क, द, ब, स एहु; अ प्रति में छूटा हुआ है 4. अ, ब, स इच्छइ; क, द पुच्छइ; 5. अ, क, द वित्थरिण; ब, स वित्थरेण; 6. अ छिज्जइ; क, द, ब, स पुच्छिज्जइ।

कर्म रुकते हैं) होता है। बहुत विस्तार से इच्छा करने से क्या लाभ है? किसी से कुछ भी मत पूछ।

भावार्थ—स्वामी कार्तिकेय का कथन है कि इन्द्रियों का उपवास अर्थात् उनको विषयों में नहीं जाने देता है तथा मन को अपने आत्मस्वरूप में जोड़ना उसे मुनीन्द्रों ने उपवास कहा है। इसलिए जितेन्द्रिय पुरुष को आहार करते हुए भी उपवास सहित कहा है। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. 437)

उपवास करने वाले व्यक्ति को उत्कण्ठित होकर धर्मामृत का पान करना चाहिए और आलस्य रहित होकर ज्ञान-ध्यान में लीन रहना चाहिए। भोजन शरीर की रक्षा के लिए है, शरीर ज्ञान के सम्पादन के लिए है। ज्ञान कर्म का नाश करने के लिए है। कर्मों का नाश हुए बिना परमपद की प्राप्ति नहीं होती।

उपवास तप है। तप शोधक रूप से उपकार करता है। तप के बिना आत्मा की शुद्धि नहीं होती। आचार्य गुणधर के शब्दों में—

णाणं पयासयं तवो सोहओ संजयो य गुत्तियरो।
तिण्हं पि समाजोए मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥कसायपाहुड, गा. 12

अर्थात्—ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है और संयम गुप्ति करने वाला है। अतः ज्ञान, तप, संयम इन तीनों के मिलने पर मोक्ष होता है, ऐसा जिनशासन में कहा है।

यह भी जिनागम में प्रसिद्ध है—'इच्छानिरोधस्तपः' (धवला, 5, 4, 26) अर्थात् इच्छा का निरोध होना ही तप है। इच्छा एक दोष है, जो दोष है वह जीव का स्वभाव नहीं है। तप से दोष का शोधन हो जाता है। इसलिए तप को शोधक कहा है। शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की जो अनुभूति है, वही ज्ञान की अनुभूति है। जब तक संकल्प-विकल्प होते रहते हैं, तब तक चंचलता और अस्थिरता है। उस दशा में आत्मानुभूति नहीं होती। किन्तु मन के उजाड़ होने पर इन्द्रियों का व्यापार रोककर क्षणभर के लिए अन्तर्मुख होकर निज शुद्धात्मा स्वरूप भासित होने पर आत्मा का शुद्ध संवेदनात्मक (ज्ञानात्मक) रूप प्रकाशित होता है। आचार्य अमितगति के शब्दों में—

निर्व्यापारीकृताक्षस्य यत्क्षणं भाति पश्यतः।
तद्रूपमात्मनो ज्ञेयं शुद्धं संवेदनात्मकम् ॥—योगसार 1, 33

अर्थात्—इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति को रोककर मन को निर्विकल्प कर क्षणमात्र के लिए अन्तरंग में जो शुद्ध स्वरूप झलकता है वह शुद्ध ज्ञायक स्वरूप आत्मानुभूति है।

तउ करि दहविहु धम्मु करि जिणभासिउ सुपसिद्धु।
कम्महं[1] णिज्जर एहु जिय फुडु अक्खिउ मइं तुज्झु ॥209॥

शब्दार्थ—तउ—तप; करि—करके; दहविहु—दशविध, दश प्रकार के; धम्मु—धर्म; करि—करके; जिणभासिउ—जिनेन्द्र भगवान से कहे हुए; सुपसिद्धु—अत्यन्त प्रसिद्ध; कम्महं—कर्मों की; णिज्जर—निर्जरा; एहु—यह; जिय—जीव!; फुडु—स्पष्ट; अक्खिउ—कही गई; मइं—मैंने, मेरे द्वारा; तुज्झु—तुझ (से)।

अर्थ—हे जीव! तपपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए अत्यन्त प्रसिद्ध दश प्रकार के (लक्षण रूप) धर्मों का पालन कर, जिससे कर्मों की निर्जरा हो। यह मैंने तुझे स्पष्ट बता दिया है।

भावार्थ—आचार्य जिनसेन ने धर्म के चार भेद कहे हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप। धर्म के जितने तरह के भेद कहे गये हैं, उन सबमें सम्यग्दर्शन प्रधान है। क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र तथा तप नहीं होता। धर्म सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है, लेकिन तप भी आवश्यक है। दश धर्मों में एक तप भी धर्म कहा गया है। गृहस्थ आश्रम में रहने वाले बुद्धिमानों के लिए आचार्य जिनसेन ने प्रतिदिन सम्यग्दर्शन पूर्वक दान, शील, उपवास तथा अर्हन्त आदि पंच परमेष्ठियों की पूजा करने का विधान किया है।

'परमात्मप्रकाश' (2, 75) में कहा गया है कि वीतरागसंवेदनज्ञान रहित तप शीघ्र ही जीव के लिए दुःख का कारण है। टीका में स्पष्ट किया गया है कि विषयाभिलाषा रूप मनोरथों के विकल्प-जाल से रहित जो निज सम्यग्ज्ञान है, उससे रहित बाहरी पदार्थों के शास्त्र द्वारा जो ज्ञान है उससे कुछ कार्य नहीं है; काम तो एक निज आत्मा के जानने से है। जो देखे, सुने और भोगे हुए विषयों में रंजायमान है, ऐसा अज्ञानी पुरुष दान, पूजा, तप आदि करके यदि भोगों की अभिलाषा करता है, तो वह निदानबन्ध है जो काँटे की तरह चुभता है। यद्यपि पुण्य के प्रभाव से लोक की विभूति मिलती है, लेकिन वह सदा काल बनी नहीं रहती है और न मोक्ष का कारण है।

धर्म से अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है। अतः उस धर्म का लक्षण सुख-शान्ति है। वह आत्मा का सहज स्वभाव है जो सदा काल एक रूप ही रहता है। जिसके अन्तरंग में क्षमा भाव है, उसके लिए भीतरी-बाहरी जगत् में कोई बैरी

---

1. अ, क, द, स कम्महं; ब कम्मह।

तथा विरोधी नहीं है। सभी जीव अपने सत्त्व रूप विलसते हैं, इसलिए अपने स्वभाव को छोड़कर सभी द्रव्यों की भाँति कभी अन्य रूप परिणमन नहीं करते हैं। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण जीव का विभाव रूप परिणमन कहा जाता है, किन्तु जीव कभी भी राग, द्वेष, मोह रूप नहीं बदल सकता है; विभिन्न अवस्थाओं के कारण ही व्यवहार में ऐसा कथन किया जाता है।

दहविहु जिणवरभासियउ धम्मु[1] अहिंसासारु।
अहो[2] जिय[3] भावहि[4] एक्क[5]मणु जिम तोडहि[6] संसारु ॥210॥

शब्दार्थ—दहविहु—दशविध; जिणवरभासियउ—जिनवर से उपदिष्ट; धम्मु—धर्म; अहिंसासारु—अहिंसा सार (है जिसका); अहो—हे!; जिय—जीव; भावहि—भावना भाओ; एक्कमणु—एकाग्र मन (से); जिम—जिस प्रकार; तोडहि—टूटे; संसारु—संसार।

अर्थ—हे जीव! जिनवर द्वारा कहा गया दश प्रकार का धर्म, जिसमें अहिंसा सार है, उस धर्म की एकाग्र मन से भावना भाओ, जिससे इस संसार को तोड़ सको।

भावार्थ—यथार्थ में धर्म अहिंसा ही है। अहिंसा अपने वास्तविक अर्थ में राग-द्वेष विहीन है। जहाँ परिणामों में समता भाव है, राग-द्वेष का कोलाहल उत्पन्न नहीं होता, वहीं सुख और शान्ति है। सार यही है कि अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को प्राप्त कर लेना धर्म है और वही अहिंसा का सार है। वस्तुस्वभावमूलक अहिंसाधर्म के दश लक्षण कहे गये हैं जो इस प्रकार हैं—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य। धर्म को पहचानने के लिए ये दश प्रकार के चिह्न कहे गये हैं।

यथार्थ में वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता है। लोक में जितने पदार्थ हैं, वे कभी भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। यदि स्वभाव का नाश हो जाए, तो वस्तु का अभाव हो जाएगा। आत्मा नाम की वस्तु का स्वभाव क्षमादिक रूप है। दश धर्मों का स्वरूप भेदवृत्ति से दश प्रकार का है। अभेद में तो धर्म एक वस्तु का स्वभाव मात्र है। इसीलिए कहा गया है—

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं

(प्रवचनसारकलश, श्लोक 5)

---

1. **अ, क, द, स** धम्मु; **ब** धम्मं; 2. **अ** अहु; **क, द, ब, स** अहो; 3. **अ, क, द, स** जिय; **ब** जीव; 4. **अ, ब** भावइ; **क, द, स** भावहि; 5. **अ** एक्कु; **क, द, ब, स** एक्क; 6. **अ** तोडइ; **क, द, ब, स** तोडहि।

अर्थात् शुद्धोपयोग को प्राप्त कर स्वयं धर्म रूप परिणमित होता हुआ आत्मा नित्य आनन्द में लीन हो जाता है। और रत्नदीप की भाँति स्वभावतः निष्कंप तथा प्रकाशित होता रहता है।

यही नहीं, आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से आत्मा को ही 'ज्ञान' कहा है। क्योंकि ज्ञानी ज्ञान से भिन्न अन्य रूप परिणमन नहीं करता है। आचार्य जयसेन 'तम्हा णाणं जीवो' (प्रवचनसार, गा. 36) की टीका करते हुए कहते हैं कि घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी के पिण्ड की भाँति स्वयमेव उपादान रूप से आत्मा ज्ञान का परिणमन करता है। यह भी कहा गया है कि धर्म से परिणमित स्वरूप वाला आत्मा यदि शुद्धोपयोग से युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है। (प्रवचनसार, गा. 11) वास्तव में जहाँ न अशुभ भाव हैं और न शुभ भाव हैं, वहीं शुद्ध भाव है और शुद्ध भाव में लगा हुआ, लीन हुआ जीव शुद्धोपयोगी कहा जाता है। यद्यपि शुद्धोपयोग लक्षण वाला क्षायोपशमिक ज्ञान मुक्ति का कारण है, तो भी ध्यान करने वाले पुरुष को 'नित्य, सकल, निरावरण, अखण्ड, एक, सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान जिसका लक्षण है' ऐसा परमात्मस्वरूप वह मैं, खण्ड ज्ञानरूप नहीं, ऐसी भावना भानी चाहिए।

भवि भवि दंसणु[1] मलरहिउ भवि भवि करउं[2] समाहि।
भवि भवि रिसि गुरु[3] होइ महु[4] णिहय मणुब्भवव्वाहि[5] ॥211॥

शब्दार्थ—भवि भवि—भव-भव में, जन्म-जन्म में; दंसणु—सम्यग्दर्शन; मलरहिउ—मलरहित, निर्मल (हो); भवि भवि—प्रत्येक जन्म में; करउं—करूँ; समाहि—समाधि (को); भवि भवि—भव-भव में; रिसि—ऋषि, ऋद्धिधारी साधु (मेरे); गुरु; होइ—होवें; महु—मेरी; णिहय—नष्ट (करें); मणुब्भववाहि—मानसिक व्याधि को।

अर्थ—भव-भव में मलरहित सम्यग्दर्शन होवे, भव-भव में समाधि करूँ और भव-भव में मानसिक व्याधियों को दूर या नष्ट करने वाले ऋषि मेरे गुरु होवें।

भावार्थ—आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जिन पुरुषों ने मुक्ति को करने वाले सम्यक्त्व को स्वप्न अवस्था में भी मलिन नहीं किया, किसी प्रकार का दोष (अतिचार) न लगाकर विशुद्ध पालन किया है, वे ही पुरुष धन्य हैं, वे ही कृतार्थ, शूरवीर तथा पण्डित हैं। (मोक्षपाहुड, गा. 89)

---

1. **अ** वंदणु; **क, द, स** दंसणु; **ब** दंसण; 2. **अ, क, द, स** करउं; **ब** करउ; 3. **अ** सिरिगुरु; **क, द, ब, स** रिसि गुरु; 4. **अ** मुहु; **क, द, ब, स** महु; 5. **अ, क** णिहयमाणुभववाहि; **द, स** णिहयमणुब्भववाहि; **ब** णिहयमणुब्भववाहिं। **ब** प्रति में इसके आगे है—पुरि पावहि जेणे।

ऐसे सम्यग्दर्शन की भावना कौन नहीं भाएगा? लोक में जो दान देते हैं उनको धन्य कहते हैं, जिनके विवाहादि कार्य सम्पन्न हो जाते हैं उनको कृतार्थ कहते हैं, जो युद्ध में पीठ दिखाकर वापस नहीं लौटते उनको शूरवीर कहते हैं, बहुत शास्त्र पढ़े हुए को पण्डित कहते हैं। वास्तव में वे सब कहने के हैं। जो मोक्ष के कारण सम्यक्त्व को मैला नहीं होने देते हैं, वे ही धन्य, कृतार्थ, शूरवीर और पण्डित हैं।

बीमारी कई तरह की होती हैं—कर्म की, संसार की, मन की और शरीर की। कर्म के रोग भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म हैं। संसार के रोग जन्म-मरण हैं। मन के रोगचिन्ता, द्वन्द्व और आकुलता या परेशानी है। शरीर के रोग इन्द्रियों की विकृति, अशक्ति और गड़बड़ी है। अज्ञान कर्म की ही बीमारी है। क्योंकि ज्ञेय के होने पर उसका कोई प्रतिबन्धक कारण न हो तो उसे ज्ञानी जानकर ही रहता है। (योगसार, 7, 11) इसलिए विषयों का संग होने पर भी ज्ञानी उससे लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार मल के मध्य में पड़ा हुआ स्वर्ण मल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार राग में एकत्व बुद्धि न होने के कारण ज्ञानी विषय-भोगों में लिप्त नहीं होता। (आचार्य अमितगतिः योगसार, 4, 19)

ज्ञानी की तो सदा भावना यही रहती है कि जन्म-जन्मान्तरों में मल रहित शुद्ध सम्यक्त्व उपलब्ध हो, बना रहे। निज शुद्धात्मा की भावना के बल से स्वभाव के सन्मुख होकर आत्म-स्वभाव में स्थिरता हो, समाधि की प्राप्ति हो। समस्त विकल्पों के अभाव में समाधि होती है। जो वीतराग भाव से आत्मा को ध्याता है, उसे समाधि की प्राप्ति होती है। (नियमसार, गा. 122) जब तक सद्गृहस्थ निज शुद्धात्मा की साधना के द्वारा समाधि प्राप्त करने योग्य नहीं होता, तब तक वह निरन्तर समाधि की भावना भाता है तथा सामायिक आदि के काल में शुद्धोपयोग की भावना के बल पर समाधि की पात्रता प्राप्त करता है। बाहर में और अन्तरंग में भी ज्ञान-वैराग्य की भूमिका बनाये रखने का वह बराबर पुरुषार्थ करता है।

अणुपेहा[1] बारह वि जिय भाविवि[2] एक्कमणेण[3]।
रामसीहु मुणि इम भणइ सिवपुरि पावहि[4] जेण[5] ॥212॥

शब्दार्थ—अणुपेहा—अनुप्रेक्षा; बारह—बारह; वि—पादपूरक शब्द; जिय—हे जीव!; भाविवि—(भावना) भाकर; एक्कमणेण—एकाग्र मन से;

---

1. **अ** अणुवेहा; **क, द, ब, स** अणुपेहा; **ब** प्रति में 'बारह' का 'ह' छूटा हुआ है। 2. **अ** भविव; **क** भवि भवि; **द, ब, स** भाविवि; 3. अ, इक्कमणेण; **क, द, ब, स** एक्कमणेण; 4. **अ** भावहि; **क, द, ब, स** पावहि; 5. **अ** जेम; **क, द, ब, स** जेण।

रामसीहु—रामसिंह; मुणि—मुनि; इम—इस प्रकार; भणइ—कहता है (कहते हैं); सिवपुरि—शिवपुरी, मोक्ष (को); पावहि—पाते हो; जेण—जिससे।

अर्थ—हे जीव! एकाग्र मन से बारह भावनाओं की भावना कर। इससे मुक्ति की प्राप्ति होती है—ऐसा रामसिंह मुनि कहते हैं।

भावार्थ—जो बार-बार भाई जाती है, उसे भावना कहते हैं। भावनाएँ बारह कही गई हैं। तीर्थंकर भी इन बारह भावनाओं का चिन्तन कर संसार, शरीर, और विषय-भोगों से विरक्त हुए थे। साधु-सन्त वैराग्य में स्थिर रहने हेतु प्रतिदिन भावना भाते हैं। अतः ये भावनाएँ वैराग्य की माता है। सभी जीवों का ये हित करने वाली हैं। राग की अग्नि में झुलसे हुए जीवों के लिए ये शीतल कमलवन के समान हैं। साधु, मुनियों के लिए तो बारह भावनाओं का चिन्तन परम आवश्यक है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि परीषह आने पर भाव की शुद्धता हेतु बारह भावनाओं का बार-बार चिन्तन करना चाहिए। उनके ही शब्दों में—

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि।
भावरहितएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥भावपाहुड, गा. 96

अर्थात्—हे मुने! तू अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक बोधिदुर्लभ और धर्म इनको तथा अन्य पच्चीस भावनाओं को भाना एक बड़ा उपाय है। इनका बारम्बार चिन्तन करने से कष्ट में परिणाम नहीं बिगड़ते हैं, इसलिए यह उपदेश है।

यथार्थ में पदार्थों के स्वरूप का वस्तुतः चिन्तन करना भावशुद्धि का महान् उपाय है। अनित्य भावना के द्वारा वस्तु के नित्य स्वरूप का विचार किया जाता है। उदाहरण के लिए, ऐसी भावना भानी चाहिए कि जो यह शरीर है सो जल में बुलबुले के समान तथा धन-लक्ष्मी इन्द्रजाल की रचना सदृश एवं इन्द्रियों के विषयों का सुख सन्ध्याकालीन मेघ की लाली के समान विनाशी है। इसलिए इनके वियोग में शोक करना व्यर्थ है। जो प्राणी देह धारण करते हैं, उनके दुःख और मरण अवश्यम्भावी है। इस कारण दुःख और मरण का भय छोड़कर ऐसे उपाय का विचार करो, जिससे शरीर के धारण करने का ही अभाव हो जाए। क्योंकि यह नियम है कि जिसका जन्म है, उसका मरण निश्चित है। फिर, होनहार कभी टलती नहीं है। जिस समय शरीर का छूटना निश्चित है, उस मरण को और उस समय व परिस्थिति को टालने के लिए कोई भी इन्द्र या जिनेन्द्र समर्थ नहीं हैं। (द्रष्टव्य है रत्नकरण्डश्रावकाचार की पं. सदासुखदास की टीका, पृ. 368)

सुण्णं ण होइ सुण्णं दीसइ सुण्णं च तिहुवणे सुण्णं।
अवहरइ पावपुण्णं सुण्णसहावे[1] गओ[2] अप्पा ॥213॥

शब्दार्थ–सुण्णं–अभाव (का नाम); ण होइ–नहीं होता (है); सुण्णं–शून्य; दीसइ–दिखाई देता है; सुण्णं–शून्य (वाद); च–पादपूरक; तिहुवणे–तीन लोकों में; सुण्णं–पाप-पुण्य को; सुण्णसहावे–निर्विकल्प स्वभाव में; गओ–पहुँचा हुआ; अप्पा–आत्मा।

अर्थ–सब द्रव्यों के अभाव का नाम शून्य नहीं है। यह कहा जाता है कि (शून्यवाद में) वह सामान्य और विशेष भावों से रहित है, किन्तु जो पाप-पुण्य से रहित निर्विकल्प स्वभावी आत्मा है, वह शून्य है।

भावार्थ–मुनि योगीन्द्रदेव ने 'शून्य' पद अर्थात् निर्विकल्प ध्यानी का वर्णन अ. 2 दो. 159 में किया है। टीकाकार ब्रह्मदेवसूरि ने 'शून्य' का अर्थ 'विकल्परहित' किया है। उनके ही शब्दों में 'सुण्णउं शुभाशुभमनोवचनकाय व्यापारैः शून्यं पउं वीतरागपरमानन्दैकसुखामृतस्वादरूपा स्वसंवित्तिमयी त्रिगुप्तिसमाधिबलेन ध्यायतां वलि वलि जोइयडाहं' अर्थात् शुभ-अशुभ मन, वचन, काय के व्यापार से रहित जो वीतराग परम आनन्दमयी सुखामृत रस का स्वाद वही उसका स्वरूप है, ऐसी आत्मज्ञानमयी परमकला से भरपूर जो ब्रह्मपद (शून्यपद) निज शुद्धात्मस्वरूप उसको ध्याता राग रहित तीन गुप्ति रूप समाधि के बल से ध्याते हैं, उन ध्यानी योगियों की मैं बार-बार बलिहारी जाता हूँ।

स्वसंवेदनज्ञान के बल से जहाँ आत्मानुभव के काल में पुण्य-पाप से रहित निर्विकल्प ज्ञानगम्य आत्मानुभूति की अवस्था होती है, उसे ही 'शून्य' कहा गया है। दूसरे शब्दों में वह शुद्धोपयोग रूप शुद्ध तथा वीतराग भाव है। वास्तव में आत्मा का शून्य स्वभाव है। आत्मा के स्वभाव में पुण्य-पाप, संकल्प-विकल्प तथा इच्छाएँ नहीं हैं। वह वीतराग, निर्विकल्प स्वभावी है। इसलिए यहाँ पर 'शून्य' का अर्थ विकल्पों से रहित (शून्य) लेना चाहिए। एक प्रकार से समाधि के साधक योगियों के वह तीन गुप्तिरूप समाधि के बल से ध्यान अवस्था में प्रकट होता है। मुनिश्री योगीन्द्रदेव भी यह भावना भाते हैं कि जो शुभाशुभ विकल्पों से रहित निर्विकल्प (शून्य) ध्यान ध्याते हैं, उन योगियों की मैं बलिहारी जाता हूँ। उन योगियों के एकीभाव रूप समरसी भाव का परिणमन होता है। उस समय ज्ञानादि गुण और गुणी अर्थात् निज शुद्धात्म द्रव्य दोनों एकाकार हो जाते हैं। अतएव निर्विकल्प, वीतरागी निज शुद्धात्मा 'शून्य' या 'ब्रह्म' का वाचक है। वास्तव में 'विकल्पों के अभाव' का नाम शून्य है। क्योंकि आत्मा वीतराग निर्विकल्प स्वरूप है।

---

1. **अ, क, ब, स** सुण्णसहावे; **द** सुण्णसहावेण; 2. **अ** गउ; **क, द, स** गओ; **ब** ठाउ।

बेपंथेहिं ण गम्मइ[1] बेमुहसूई ण सिज्जए कंथा।
विण्णि[2] ण हुंति अयाणा[3] इंदियसोक्खं च मोक्खं च ॥214॥

शब्दार्थ—बेपंथेहिं—दोनों मार्गों से; ण गम्मइ—नहीं जाया जाता है; वेमुहसुई—दो मुँह वाली सुई (से); ण सिज्जए—नहीं सिलाई की जाती है; कंथा—गुदड़ी, कथरी (की); विण्णि—दोनों; ण हुंति—नहीं होते हैं; अयाणा—हे अज्ञानियों!; इंदियसोक्खं—इन्द्रिय—सुख; च—और; मोक्खं—मोक्ष; च—पादपूरक।

अर्थ—दो रास्तों से (एक साथ) जाना नहीं होता। इसी प्रकार दो मुख वाली सुई से कथरी की सिलाई नहीं होती। हे अज्ञानी! इन्द्रियों का सुख और मोक्ष दोनों एक साथ नहीं हो सकते। दोनों में से कोई एक ही होगा।

भावार्थ—संसार में दो ही मार्ग प्रसिद्ध हैं—लौकिक और पारमार्थिक। लौकिक मार्ग को व्यावहारिक और मोक्षमार्ग को पारमार्थिक कहते हैं। इसका दूसरा नाम आध्यात्मिक भी है। अध्यात्म वीतरागप्रधान है और लौकिक रागभावप्रधान है। संसार का कोई भी काम (चाहे समाज का हो या व्यक्ति का) बिना राग भाव के नहीं हो सकता। घर-गृहस्थी मोह से चलती है। सभी परेशानियाँ राग से होती है। यदि अपने अकेले होने का स्थायी भाव भासित हो जाए, तो फिर अन्य किंसी के संग की अभिलाषा क्यों हो? किन्तु यह जानते हुए भी कि यह अन्य है, पर है, मुझसे भिन्न है, किन्तु उसमें अपनेपन की एकत्व बुद्धि होने से उसे पर में और अपने में भिन्नता भासित नहीं होती। भ्रम से या अज्ञान से हम किसी को भी कुछ समझ लें, किन्तु हमारे समझने से वह वस्तु वैसी नहीं हो जाती है। जो वस्तु जैसी है, वैसी की वैसी रहती है।

लोक में न्याय-मार्ग चलता है। घर-गृहस्थी में रहने वाला यदि घर को अपना न समझे, पत्नी, बाल-बच्चों से राग न करे, तो गृहस्थी का चलना कठिन हो जाएगा। संसार में मोह, राग की प्रधानता होती है, किन्तु मोक्ष-मार्ग में वीतराग भाव की मुख्यता होती है। आजकल लोगों ने भगवान् को प्रसन्न करने का, प्रसाद पाने का एक तीसरा ही मार्ग (गली) निकाल लिया है जो वास्तवकि नहीं है। यदि ईश्वर ही सबकी एजेन्सी बन जाए, तो दुनिया में फिर बड़े-बड़े उद्योग, कारखाने चलाने की क्या आवश्यकता रह जाएगी? लेकिन मनुष्य श्रम इसलिए करता है कि उसके बिना

---

1. **अ** गम्मइं; **क, द, ब, स** गम्मइ; 2. **अ** बिण्हइ; **क** वेविन्नि; **द, स** विण्णि; **ब** बेण्णि; 3. **अ** अयाणया; **क, द, स** अयाणा; **ब** अयाणइं।

कोई प्राप्ति नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि लौकिक मार्ग में राग भाव और कर्म की मुख्यता है तथा मोक्षमार्ग में स्वभाव ही मुख्य है। निज स्वभाव के आश्रय के बिना परमार्थ या मोक्ष-मार्ग प्रारम्भ नहीं होता। अतः चलने का मार्ग एक ही होगा; दो नहीं हो सकते। जो दोनों रास्तों पर चलना चाहता है या फिर कुछ समय के लिए एक रास्ते पर फिर दूसरे रास्ते पर चलने लगता है, वह वास्तव में किसी मार्ग पर ठीक से चलने वाला नहीं होता। जब तक पूर्णता का लक्ष नहीं होता, तब तक मार्ग निर्धारित नहीं होता।

उववासह[1] होइ पलेवणा[2] संताविज्जइ देहु।
घरु डज्झइ[3] इंदियतणउ[4] मोक्खहं[5] कारणु एहु ॥215॥

शब्दार्थ—उववासह—उपवास से; होइ—होती है; पलेवणा—प्रदीपना, जठराग्नि प्रदीप्त; संताविज्जइ—संतप्त करती है; देहु—देह, शरीर (को); घरु—घर (इन्द्रियों का); डज्झइ—दग्ध हो जाता है, जल जाता है; इंदियतणउ—इन्द्रियों का; मोक्खहं—मोक्ष का; कारणु—कारण; एहु—यह (है)।

अर्थ—उपवास करने से अग्नि प्रदीप्त होती है जो देह को संतापित करती है। इन्द्रियों का घर उससे जल जाता है जो मोक्ष का कारण है।

भावार्थ—'उपवास' शब्द का अर्थ—आत्मा के पास बैठना है। जो आत्मा के पास रहता है, वह शरीर की भूख-प्यास की चिन्ता नहीं करता। उपवास करने से शारीरिक लाभ और आत्मिक लाभ भी है। शरीररूपी मशीन में भोजन-पानी नहीं डालने से उसे विश्राम मिलता है, टूट-फूट दुरुस्त होती है, जठराग्नि प्रदीप्त होने से विकारग्रस्त ईंधन जल जाता है, इससे शरीर में ताजगी आती है। ठीक इसी प्रकार शुद्धात्मा के पास रहने से ज्ञान की स्फूर्ति व ताजगी प्राप्त होती है। विवेक जाग्रत होने पर ज्ञानी को प्रत्येक समय ताजा ज्ञान उपलब्ध होता है।

ज्ञान और वैराग्य होने पर इन्द्रियों का ग्राम उजड़ जाता है। ज्ञान की बस्ती में अनन्त गुणों का निवास होता है। सभी गुणों में ज्ञान व्यापक गुण है। ज्ञान का काम जानना, देखना है। ज्ञान किसी भी वस्तु या उसके काम को नहीं करता है। ज्ञान केवल जानता ही है। यह एक नियम है कि जो कर्ता है, वह भोक्ता भी है।

---

1. **अ, क, द, स** उववासह; **ब** उववासहं; 2. **अ** पलेवणउं; **क, ब** पलेवणउ; **द, स** पलेवणा; 3. **अ** डज्झइं; **क, द, ब, स** डज्झइ; 4. **अ** इंदियतणउं; **क, द, ब, स** इंदियतणउ; 5. **अ, क, द, स** मोक्खहं; **ब** मोक्खहो।

ज्ञान जानता-देखता तो है, लेकिन कर्ता-भोक्ता नहीं है। जानने में करने का क्या काम? स्वयं का जानन ही परमार्थ से स्वयं की वृत्ति या कार्य है। ऐसा कोई समय नहीं है, जब ज्ञान जानता न हो। अतः जानन रूप उपयोग के बने रहने पर वास्तव में उपवास होता है। क्योंकि हम आत्मा के पास या परमात्मा के पास तभी होते हैं, जब न तो भूख-प्यास होती है और न विषय-कषाय; पर की चिन्ता से दूर, सांसारिक धन्धों से हटकर आत्मस्वरूप के चिन्तन में तन्मय होने पर बाहर के सभी व्यापारों से चित्त की निवृत्ति होने पर उपवास होता है। अतएव चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देने पर भी विषय-कषाय का त्याग न हो, तो उसे वास्तव में उपवास नहीं कहते। उपवास कहना एक अलग बात है और उपवास का घटित होना बिल्कुल अलग बात है। कहा भी है—

कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ॥

अर्थात्—विषय-कषाय और आहार का जहाँ त्याग होता है, वहीं उपवास होता है; बाकी के सब लंघन (निराहार) मात्र हैं।

अच्छउ भोयणु[1] ताह[2] घरि[3] सिद्धु[4] हरेप्पिणु[5] जेत्थु[6]। ताह[7] समउ जय कारियइं[8] ता मेलियइ[9] संमत्तु ॥216॥

शब्दार्थ—अच्छउ—बना रहे; भोयणु—भोजन; ताह—उसके; घरि—घर में; सिद्ध—सिद्ध भगवान (को); हरेप्पिणु—हरकर; जेत्थु—जहाँ पर; ताह—उसके; समउ—साथ; जय कारियइं—जयकार करने से; ता—तो; मेलियइ—छूट जाता है; संमत्तु—सम्यक्त्व।

अर्थ—उस घर का भोजन बना रहे, जहाँ पर सिद्ध का अपहरण या मान्यता न हो अर्थात् उस घर में भोजन नहीं करना चाहिए जो आठों कर्मों से रहित निर्दोष देव को मानता, पूजता न हो। उसके साथ जयकार करने (उसकी जय बोलने) से भी सम्यक्त्व छूट जाता है।

भावार्थ—जिस प्राणी का आत्मा और परमात्मा पर विश्वास नहीं, जो आत्मश्रद्धान से रहित, अर्हन्त, सिद्ध को मानता, पूजता नहीं है, वह तो जैन भी नहीं है। जैनी नियम से जिनदेव का प्रतिदिन दर्शन, पूजन करता है। इष्ट तो एक जिनवर

---

1. **अ** भोयण; **क** जोयउ; **द, स** भौयणु; **ब** भायण; 2. **अ, ब** ताह; **क, द, स** ताहं; 3. **अ** घरे; **क, द, स** घरि; **ब** हरें; 4. **अ, क, ब** सिद्ध; **क, स** सिद्धु; 5. **अ** हरेविणु; **क, द, ब, स** हरेप्पिणु; 6. **अ** जत्थु; **क, द, स** जेत्थु; **ब** जित्थु; 7. **अ** ताह; **क, द, ब, स** ताहं; 8. **अ** कारियए; करियइं; **द, स** कारियइं; **ब** कारियइ; 9, **अ** मिलियइ; **क, द, स** मेलियइ; **ब** मइलिय।

ही हैं। उनको परमेष्ठी कहा जाता है। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और धर्म ही आत्मा के हितकारी हैं। आचार्य शुभचन्द्र का कथन है–

पातयन्ति भवावर्ते ये त्वां ते नैव बान्धवाः।
बन्धुतां ते करिष्यन्ति हितमुद्दिश्य योगिनः ॥

–ज्ञानार्णव, अनित्यानुप्रेक्षा, श्लोक 22

अर्थात्–देखो, आत्मन्! जो तुझे संसार के चक्र में डालते हैं, वे तेरे हितैषी नहीं हैं, किन्तु साधु-सन्त ही आत्महित का उपदेश देकर तेरे हित हेतु बन्धुता करते हैं।

जो जिनदेव को नहीं मानता है, उसमें जिनवर की भक्ति नहीं है और जो जिनवर की आराधना नहीं करता है, उससे जैन का क्या सम्बन्ध है? क्योंकि वह जैन समाज का नहीं है। धार्मिक दृष्टि से जो जिनवर का भक्त नहीं है, उससे जुहार-विहार का सम्बन्ध रखना योग्य नहीं है। लौकिक दृष्टि से सम्बन्ध समान आचार-विचार वाले के साथ रखना योग्य कहा जाता है। ज्ञानी अज्ञानी के साथ सम्बन्ध रखकर क्या हित साध सकता है? वास्तव में जो परमात्मा या सिद्धात्मा हैं, वही मैं हूँ। जो मैं हूँ वह सिद्ध परमात्मा है। अतः अन्य कोई मेरा उपास्य नहीं है और न मैं किसी का उपास्य हूँ। आचार्य शुभचन्द्र के शब्दों में–

यः सिद्धात्मा परः सोऽहं योऽहं स परमेश्वरः।
मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येन न चाप्यहम् ॥ज्ञानार्णव, 45, 32

अर्थात्–जो उत्तम सिद्धात्मा हैं, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वह परमात्मा हैं। मेरे सिवाय मेरा अन्य कोई उपास्य, आराध्य नहीं है और न मैं किसी का उपास्य हूँ।

वास्तव में जो मेरा सम्बन्धी नहीं है, उससे सम्बन्ध रखने में क्या निजी लाभ है? जो मेल का न हो, उससे सम्बन्ध बनाने से अपनी हानि होती है।

जइ लद्धउ माणिक्कडउ जोइय पुहवि[1] भमंत[2]।
बंधिज्जइ णियकप्पडइं[3] जोइज्जइ[4] एक्कंत[5] ॥217॥

शब्दार्थ–जइ–यदि; लद्धउ–प्राप्त हो गया; माणिक्कउड–माणिक्य (सम्यक्त्व रत्न) जोइय–हे योगी!; पुहवि–पृथ्वी पर; भमंत–घूमते हुए;

1. अ पुहमित; क, द, ब, स पुहवि; 2. अ संता; क, द, स भमंत; ब भवंत; 3. अ, ब णियकप्पडइ; क, द, स णियकप्पडइं; 4. अ छोडिज्जइ; क जोइज्जहि; द, ब, स जोइज्जइ; 5. अ एकंत; क इक्कंत; द, ब, स एक्कंत।

बंधिज्जइ—बाँध लिया जाता है; णियकप्पडइं—अपने वस्त्र मैं; जोइज्जइ—देखा जाता है; एक्कंत—एकान्त (में)।

अर्थ—हे जोगी! यदि पृथ्वी पर घूमते हुए माणिक्य प्राप्त हो गया है, तो उसको अपने वस्त्र में लपेट कर (बाँधकर) एकान्त में अवलोकन करना चाहिए।

भावार्थ—जैसे किसी मनुष्य को हीरा या लाल (माणिक्य) मिल जाए, तो वह सबको न बताकर एकान्त में मौन होकर चुपचाप निहारेगा, बार-बार देखेगा। उसके अवलोकन मात्र से उसे आनन्द की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार निज शुद्धात्मा के अवलोकन या अनुभव मात्र से परमानन्द की उपलब्धि होती है। 'श्री नेमीश्वर वचनामृतशतक' (श्लोक सं. 17) में कहा गया है कि—जैसे रास्ते चलते किसी गरीब को, पथिक या राहगीर को सोने से भरा हुआ घड़ा मिल जाए, तो वह उसे गुप्त रखता है, वैसे हे भव्य! तू तेरी निजात्म-भावना को स्वयं में गुप्त रख, गुप्तपने उसका अनुभव कर।

आचार्य कहते हैं—सभी रत्नों में महान् सम्यक्त्व रत्न है। अणिमा आदि ऋद्धियों में यह सबसे बड़ी ऋद्धि है। अतः बुद्धिमानों को सदा प्रथम सम्यग्दर्शन का उपदेश करना चाहिए। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। दर्शन, ज्ञानमयी, अविनाशी, निश्चल आत्मा का गुण सम्यग्दर्शन है।(तारणस्वामी : श्रावकाचारसार, 175)

आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में "न सम्यकक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि" अर्थात् सम्यग्दर्शन के समान तीनों कालों और तीनों लोकों में अन्य कोई कल्याण नहीं है। इसके प्रभाव से ही देवों का वैभव प्राप्त होता है। आठ प्रकार की ऋद्धियों के धारक, इन्द्र के समान विशिष्ट देव सम्यग्दर्शन होने पर ही होते हैं। कहा भी है—

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥

रत्नकरण्ड., श्लोक 37

अर्थात्—जिनेन्द्र के भक्त सम्यग्दृष्टि स्वर्गलोक में जाकर अणिमा, महिमा, गरिमा आदि आठ ऋद्धियों के धारक महर्धिक देव होते हैं; साधारण देव नहीं होते हैं। उनका वैभव इन्द्र के समान होता है। वे देवों में तथा अप्सराओं की सभा में चिरकाल तक रमण करते हैं।

वादविवादा[1] जे करहिं[2] जाहिं[3] ण फिट्टिय[4] भंति।
जे रत्ता गउपावियइं[5] ते गुप्पंत[6] भमंति[7] ॥218॥

शब्दार्थ—वादविवादा—वादविवाद (को); जे—जो; करहिं—करने से; जाहिं—जिनकी; ण फिट्टिय—नहीं मिटी है; भंति—भ्रान्ति; जे—जो; रत्ता—अनुरक्त; गउपावियइं—प्रशंसा—बढ़ाई से; ते—वे; गुप्पंत—भ्रान्त होते हुए; भमंति—घूमते-फिरते हैं।

अर्थ—वाद-विवाद करने पर भी जिनकी भ्रान्ति नहीं मिटी और जो अपनी प्रशंसा-बड़ाई करने में लगे हुए हैं, वे भ्रान्त हुए भ्रमण ही करते रहते हैं।

भावार्थ—वाद-विवाद आदि को छोड़कर अध्यात्म का अर्थात् निज शुद्धात्मा का चिंतवन करना चाहिए। अन्धकार (मोह) का नाश हुए बिना ज्ञान-ज्ञेय में प्रवर्तता नहीं है। वाद-प्रवादादि सब अन्धकार है जो शुद्धात्मा के चिंतवन में बाधक है। (योगसारप्राभृत, मोक्ष अ., श्लोक 38)

इस जीव को अनादि काल से भ्रम यह है कि हे प्रभु! आप पावन हैं, मैं अपावन हूँ। मुनिश्री योगीन्द्रदेव कहते हैं—शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। जैसे स्फटिकमणि स्वभाव से निर्मल है, उसी तरह आत्मा ज्ञान, दर्शन रूप निर्मल है। ऐसे आत्मस्वभाव को हे जीव! शरीर की मलिनता देखकर भ्रम से आत्मा को मलिन मत मान। यह शरीर शुद्ध, बुद्ध, परमात्म पदार्थ से भिन्न है, शरीर मलिन है, आत्मा निर्मल है। जैसे वस्त्र और शरीर मिले हुए भासते हैं, किन्तु शरीर से वस्त्र भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा और शरीर मिले हुए दिखते हैं, किन्तु दोनों भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि शरीर की रक्तता से, जीर्णता से और विनाश से आत्मा की रक्तता, जीर्णता और विनाश नहीं होता। (परमात्मप्रकाश, अ. 2, 179-180) अतः भ्रम यही है कि राग-द्वेष, मोह रूप मैं हूँ। मैं शुद्ध कहाँ हूँ? मैं दीन, हीन, निर्बल, ज्ञानहीन हूँ।

कहा यह गया है—"वाद-विवाद करे सो अन्धा" अर्थात् ज्ञान-मद में फूले हुए पण्डित ही शास्त्रार्थ, वाद-विवाद करते हैं। वास्तव में आत्मा का स्वरूप वाद-विवाद से परे अनुभव करने योग्य है। आत्मा वस्तु जैसी है, वैसी है—उसमें वाद-विवाद करने से क्या लाभ? अनुभव करके देख ले न? कितना वाद-विवाद किया जाए, जिससे मिश्री का स्वरूप समझ में आ जाए? मिश्री का स्वाद लेने पर जैसे उसकी मिठास समझ में आ जाती है, वैसे ही स्वानुभूति से स्व-संवेद्य प्रत्यक्षगम्य निज शुद्धात्मा

---

1. अ वादाविवादा; क, द, स वादविवादा; ब वादविवादह; 2. अ, ब करहि; क, द, स करहिं; 3. अ जाहं; क, द, ब, स जाहिं; 4. अ ण फिट्टइ; क, द, स ण फिट्टिय; ब न फिट्टिय; 5. अ, क गउ पावियउ; द, स गउपावियइं; ब गउपावियइ; 6. अ, क, द स गुप्पंत; ब गुप्पंति; 7. अ, क, स भमंति; द, ब भवंति।

भासमान हो जाता है। उसके विषय में फिर क्या विवाद के लिए रह जाता है? अतः परमार्थ के सम्बन्ध में वाद-विवाद करने से कुछ समझ में नहीं आता है, वह तो शुद्धात्मानुभूति का विषय है। अतः आत्मतत्त्व स्वानुभवगम्य है, वाद-विवाद से या पूछ-ताछ से वह प्राप्त नहीं होता।

कालहि[1] पवणहि[2] रविससिहि[3] चहु एक्कट्ठइ वासु।
हउं[4] तुहिं पुच्छउं[5] जोइया पहिले कासु विणासु ॥219॥

शब्दार्थ—कालहि—काल, समय; पवणहि—पवन; रविससिहि—सूर्य-चन्द्र का; चहु—चारों (का); एक्कट्ठइ—इक्ट्ठा, एकत्र; वासु—निवास (है); हउं—मैं; तुहिं—तुमसे; पुच्छउं—पूछता हूँ; जोइया—हे योगी!; (इनमें से) पहिले—पहले; कासु—किसका; विणासु—विनाश (है)।

अर्थ—काल, पवन, सूर्य और चन्द्र इन चारों का एकत्र वास है। हे जोगी! मैं तुमसे पूछता हूँ कि इनमें से पहले किसका विनाश होगा?

भावार्थ—लोक में कोई भी वस्तु विनाशीक नहीं है। इसलिए यह प्रश्न ही नहीं उठता है कि विभिन्न पदार्थों में से प्रथम विनाश किसका होगा? द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्ति रूप सम्पदा से परिपूर्ण है, इसलिए स्वयं छहकारक रूप होकर अपना कार्य करने के लिए समर्थ है, बाहर की सामग्री उसकी कोई सहायता नहीं कर सकती। कोई यह समझे कि जिस प्रकार पके हुए आम के फल में रस, जाली, गुठली, छिलका ऐसे चार अंश हैं, वैसे ही पदार्थ में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये चार अंश होंगे; ऐसा नहीं है। जैसे आम का फल है और उसके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण उससे अभिन्न हैं, वैसे ही जीव पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उससे अभिन्न हैं और आत्मसत्ता स्वचतुष्टय से अखण्ड है। (नाटक समयसार, साध्यसाधकद्वार, 44)

गुण-पर्यायों के समूह को वस्तु कहते हैं। इसी का नाम द्रव्य है। पदार्थ आकाश के जिन प्रदेशों को रोककर रहता है अथवा जिन प्रदेशों में पदार्थ रहता है, उस सत्ताभूमि को क्षेत्र कहते हैं। पदार्थ के परिणमन अर्थात् पर्याय से पर्यायान्तर रूप होने को काल कहते हैं। पदार्थ के निज स्वभाव को भाव कहते हैं। यही द्रव्य का चतुष्टय कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य को द्रव्यदृष्टि से देखो तो सदा काल है, स्वाधीन है, एक है और अविनाशी तथा नित्य है। किन्तु पर्याय दृष्टि से पराधीन, क्षणभंगुर,

---

1. **अ** कालहि; **क, द, ब, स** कालहिं; 2. **अ** पवणहि; **क, द, ब, स** पवणहिं; 3. **अ** रविससिहि; **क, द, ब, स** रविससिहिं; 4. **अ** हउ; **क, द, ब, स** हउं; 5. **ज** पुच्छउ; **क, द, स** पुच्छउं; **ब** पुच्छिउ।

अनेकरूप तथा नाशमान है। प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है। कविवर पं. बनारसीदास के शब्दों में—

दर्व खेत काल भाव च्यारों भेद वस्तु ही में,
अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानिये।
परके चतुष्क वस्तु नासति नियत अंग,
ताको भेद दर्व-परजाइ मध्य जानिये ॥
दरव तो वस्तु खेत सत्ताभूमि काल चाल,
स्वभाव सहज मूल सकति बखानिये।
याही भांति पर विकलप बुद्धि कलपना,
विवहारदृष्टि अंस भेद परवानिये ॥—नाटक समयसार, स्याद्वादद्वार, 10

अर्थात्—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये चारों ही वस्तु में हैं। स्वयतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है। उनका भेद द्रव्य और पर्याय में जाना जाता है। परचतुष्टय की कल्पना करना, यह व्यवहारनय का भेद है।

ऊपर दोहे में जो यह प्रश्न किया गया है कि काल, पवन, सूर्य और चन्द्र में से पहले किसका विनाश होगा? तो उत्तर यह है कि अवस्थाएँ चाहे जितनी बदल जाएँ, लेकिन वस्तु ज्यों की त्यों रहेंगी।

ससि पोखइ[1] रवि पज्जलइ[2] पवणु हलोले[3] लेइ।
सत्त रज्जु तमु[4] पिल्लि[5] करि कम्महं[6] कालु गिलेइ ॥220॥

शब्दार्थ—ससि—शशि, चन्द्रमा; पोखइ—पोषण करता है; रवि—सूर्य; पज्जलइ—प्रज्वलित करता है; पवणु—पवन; हलोले—हिलोरे; लेइ—लेता है; सत्त रज्जु—सात राजू (प्रमाण); तमु—अन्धकार (को); पिल्लिकरि—पेलकर; कम्महं—कर्मों को; कालु—काल; गिलेइ—निगल लेता है।

अर्थ—चन्द्रमा पोषण करता है, सूर्य प्रज्वलित करता है, पवन हिलोरें लेता है। किन्तु सात राजूप्रमाण (मध्य लोक तक) अन्धकार को भी पेल कर काल कर्मों को निगल लेता है।

---

1. **अ** पोखइं; **क, द, स** पोखइ; **ब** पोक्खइ; 2. **अ** पज्जलइं; **क, द, स** पज्जलइ; 3. **अ** हिलोले; **क, द, ब, स** हलोले; 4. **अ** तसि; **क, द, ब, स** तमु; 5. **अ** पत्ति; **क, द, ब, स** पिल्लि; 6. **अ, ब** कम्मह; **क, द, स** कम्महं।

भावार्थ—भट्टारक ज्ञानभूषण कहते हैं—अहो चैतन्यस्वरूप शुद्धात्मा, सूर्य के, चन्द्र के, कल्पवृक्ष के, चिन्तामणि रत्न के, उत्तम कामधेनु के, देवलोक के, विद्वान् के तथा वासुदेव के अखण्डित गर्व को चकनाचूर करता हुआ विजयवंत अखण्ड प्रतापवन्त वर्तता हूँ। (तत्त्वज्ञानतरंगिणी, अ. 17, श्लोक 12) यद्यपि लोक में इस ओर से उस छोर तक कर्मों का विचित्र प्रसार है। प्रत्येक चेतन, पुद्गल वस्तु में जो-जो परिणमन लक्षित होता है, वह भावकर्म और द्रव्यकर्म तथा नोकर्म का ही विस्तार है। जहाँ कर्म की महिमा विचित्र है, वहाँ ज्ञान का अतिशय बल भी कम नहीं है। ज्ञान मनुष्यों के लिए क्या-क्या नहीं करता है? वह अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करता है, आत्मा में स्वानुभूति प्रकाश को उद्भूत करता है, परिणामों में शान्ति लाता है, क्रोध का विनाश करता है, धर्म भाव को विस्तारता है और पापों का विनाश करता है। (सुभाषित रत्नसंदोह, 189) इस संसार में जितने भी विधि-विधान हैं, वे सब ज्ञान के बिना कभी भी कल्याणकारी नहीं होते। विवेकपूर्वक करने पर ही वे व्यवहार में हितकारी होते हैं। इसलिये अपने अहित से बचने के इच्छुक और हित के अभिलाषी पुरुष ज्ञान का ही आश्रय लेते हैं। यह ज्ञान रूपी धन ऐसा विलक्षण है कि इसे न तो चोर चुरा सकते हैं और न भाई-बन्धु बाँट सकते हैं तथा मरण के उपरान्त पुत्रादि भी नहीं ले सकते हैं। राजा भी चाहे तो किसी प्रकार छीन नहीं सकता है और दूसरे लोग आँखों द्वारा देख नहीं सकते हैं। तीन लोक में यह ज्ञान पूज्य है। यह ज्ञानधन जिनके पास है, वे ही धन्य हैं। (सुभाषितरत्नसन्दोह, श्लोक 183)

हे मूढ प्राणी! इस संसार में तेरे सम्मुख जो कुछ सुख या दुःख है, उन दोनों को ज्ञान रूपी तराजू में चढ़ाकर तौलेगा तो सुख से दुःख ही अनन्त गुना दिखाई पड़ेगा, क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। (आ. शुभचन्द्र : ज्ञानार्णव, सर्ग 2, श्लोक 12)

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री

28 फरवरी, 1933 को शुजालपुर (शाजापुर) म.प्र. में जन्मे देवेन्द्रकुमार लगभग चौंतीस वर्षों तक मध्यप्रदेशीय उच्च शिक्षाविभाग शासकीय महाविद्यालय में अध्यापन कार्य करते रहे।

भारतीय प्राच्य विद्याओं के क्षेत्र में प्राकृत, अपभ्रंश में आपका अध्ययन सराहनीय रहा। इस विषय में अभी तक आपके द्वारा सम्पादित व अनूदित निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं–

1. आचार्य कुन्दकुन्द कृत **रयणसार** (प्राकृत)
2. आचार्य कुन्दकुन्द कृत **वारसाणुवेक्खा** (प्राकृत)
3. आचार्य सिद्धसेन कृत **सम्मइसुत्तं** (प्राकृत)
4. महनन्दिदेव कृत **आणंदा** (अपभ्रंश)
5. मुनि रामसिंह कृत **पाहुडदोहा** (अपभ्रंश)
6. अपभ्रंश का बृहत् शब्द-कोश (मुद्रणाधीन)

प्रमुख समीक्षात्मक रचनाएँ :

1. भाषाशास्त्र तथा हिन्दी भाषा की रूपरेखा
2. अपभ्रंश भाषा साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ
3. भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश-कथाकाव्य

अन्य रचनाएँ : 1. तीर्थंकर महावीर, 2. जैन धर्म और भगवान् महावीर, 3. महावीर वाणी (संकलन), 4. जिनवर-अर्चना (संकलन), 5. कर्मबन्ध की प्रक्रिया में मिथ्यात्व और कषाय की भूमिका, 6. मोक्षमार्ग-प्रकाशक–विशेष समीक्षा, 7. अध्यात्म पंचसंग्रह, 8. चेतनविलास।

भारतीय ज्ञानपीठ

स्थापना : सन् 1944

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण

संस्थापक

स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन

स्व. श्रीमती रमा जैन

कार्यालय : 18, इन्स्टीट्यू... दिल्ली-110 003